BC-18

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

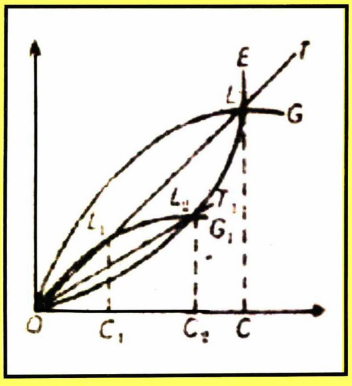

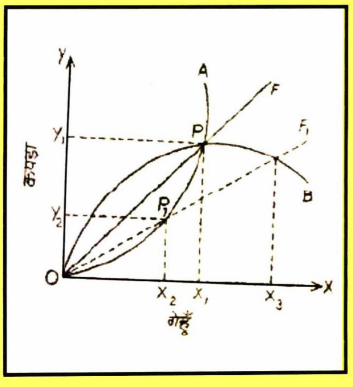

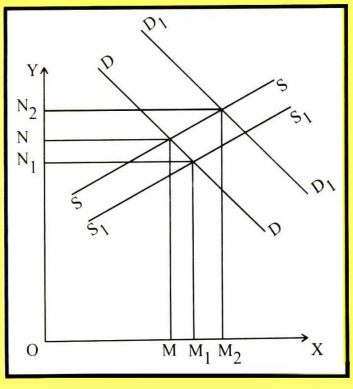

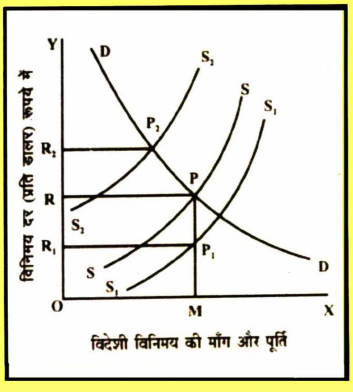

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच

कुलपति

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक/सदस्य

संयोजक

डॉ. अनुरोध गोधा

सहायक आचार्य, वाणिज्य विभाग

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

- प्रो.(डॉ.) नवीन माथुर
  आचार्य एवं प्रशासनिक सचिव, कुलपति
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- प्रो.(डॉ.) एस. जी. शर्मा
  आचार्य एवं अध्यक्ष ए. बी. एस. टी. विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- प्रो.(डॉ.) आर. के. दीक्षित
  आचार्य एवं अध्यक्ष ई. ए. एफ. एम. विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- प्रो.(डॉ.) आई. वी. त्रिवेदी
  आचार्य, बैंकिंग एण्ड बिजनेस इकॉनोमिक्स
  एम. एल. सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर
- डॉ. पुखराज दाधीच
  वरिष्ठ व्याख्याता
  राजकीय महाविद्यालय, अजमेर
- डॉ. एस. सी. जोशी
  पूर्व उपप्राचार्य
  राजकीय महाविद्यालय, बांरा

संपादन एवं पाठ्यक्रम-लेखन

सम्पादक

प्रो.(डॉ.) आर. के. दीक्षित

आचार्य एवं अध्यक्ष ई. ए. एफ. एम. विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

लेखक

- डॉ. एल. एन. बल्दुआ (इकाई सं. 1)
  व्याख्याता ई.ए.एफ.एम. विभाग
  राजकीय एस.डी.कॉलेज, ब्यावर
- डॉ. मेघना टंडन (इकाई सं. 2,3)
  व्याख्याता,सी.ई.एस.बी.एम. विभाग
  महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय,अजमेर
- डॉ. विवेक शर्मा (इकाई सं. 4)
  व्याख्याता ई.ए.एफ.एम. विभाग
  एम. एस. जे.राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर
- डॉ. क्षमा अग्रवाल (इकाई सं. 5,7)
  आचार्य, ई.ए.एफ.एम. विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर
- रविन्द्र कुमार (इकाई सं. 6)
  आर.टी.ए.
  वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
- डॉ. प्रियंका व्यास (इकाई सं. 8,9,10)
  सहायक आचार्य, वित्तीय अध्ययन विभाग
  इंटरनेशनल कॉलेज फॉर गर्ल्स, जयपुर
- डॉ. सतीश जैन (इकाई सं. 11,16)
  व्याख्याता ई.ए.एफ.एम. विभाग
  राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा
- डॉ.(श्रीमती) आई.के. भण्डारी (इकाई सं. 12,14)
  डीन, ई.ए.एफ.एम. विभाग
  राजकीय जे.डी.बी. कन्या महाविद्यालय, कोटा
- डॉ. आर. के. गोधा (इकाई सं. 13,15)
  विभागाध्यक्ष, ई.ए.एफ.एम. विभाग
  राजकीय महाविद्यालय, अजमेर
- डॉ. गोपाल सिंह (इकाई सं. 17,18)
  प्राचार्य
  राजकीय महाविद्यालय, रामगंजमण्डी(कोटा)

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.)नरेश दाधीच कुलपति वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	प्रो.(डॉ.) एम. के. घडोलिया निदेशक(अकादमिक) संकाय विभाग	प्रो.योगेन्द्र गोयल प्रभारी अधिकारी पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा

उत्पादन - फरवरी 2010 ISBN No. - 13/978-81-8496-192-8

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि. कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि. कोटा के लिए कुलसचिव व. म. खु. वि. कोटा(राजस्थान) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

अनुक्रमणिका

अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई - 1	अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय - अर्थ,विशेषताएँ, महत्व	7–25
इकाई - 2	व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन	26–47
इकाई - 3	व्यापार की शर्तें - अर्थ, कार्य प्रणाली	48–72
इकाई - 4	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धान्त	73–94
इकाई - 5	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार - विधियाँ एवं महत्व	95–117
इकाई - 6	अन्तर्राष्ट्रीय वित्त - मुद्रा जोखिम	118–129
इकाई - 7	मुद्रा - अवमूल्यन, अधिमूल्यन	130–154
इकाई - 8	विदेशी विनिमय	155–178
इकाई - 9	अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा - कोष	179–193
इकाई - 10	विश्व व्यापार संगठन	194–208
इकाई - 11	अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या	209–222
इकाई - 12	क्षेत्रीय आर्थिक संगठन	223–232
इकाई - 13	प्रलेखीय साख	233–247
इकाई - 14	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित संस्थाएँ	248–269
इकाई - 15	अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विभिन्न विधियाँ	270–284
इकाई - 16	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन - अंकटाड	285–319
इकाई - 17	निर्यात संवर्द्धन - अर्थ, निर्यातों की वृद्धि हेतु आधारभूत संरचना, ईसी-जीसी कार्य प्रणाली	320–333
इकाई - 18	विदेशी विनियोग नीति - भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति	334–347

इकाई 1 : अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय - अर्थ. विशेषताऐं. महत्व (International Business-meaning, Characteristics, Importance)

इकाई की रूपरेखा -

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अर्थ एवं परिभाषा

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विशेषताएँ

1.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवम् आन्तरिक व्यापार के बीच समानताएँ एवं असमानताएँ

1.5 आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पारस्परिक निर्भरता

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार के आधार बिन्दु

1.7 अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार का महत्व / उपयोगिता

1.8 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दोष /हानियॉ

1.9 सारांश

1.10 शब्दावली

1.11 स्वपरख प्रश्न

1.12 सन्दर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

आप इस तथ्य से शत-प्रतिशत सहमत होंगे कि आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान होता है । आप यह भी समझते होगे की व्यापार मे हर स्तर पर जोखिम निहित होती हैं । इन जोखिम को जितना कम किया जा सकता हो, लाभों में उतनी ही वृद्धि की सम्भावना रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तो जोखिमों का स्तर भी ऊंचा होता है एवम् विभिन्न प्रकार की भौगौलिक वैधानिक आर्थिक एवं वित्तीय समस्याओं का समावेश भी रहता है । अत: इस इकाई के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :-

- अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार की अवधारणा को समझाना,
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार की स्वदेशी व्यापार से तुलनात्मक अध्ययन,
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में किन विशेष बातों को ध्यान मे रखना चाहिए,
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे महत्व को समझाना,
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार बिन्दुओं को समझाना, एवं
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय व्यापार में होने वाले नवीनतम परिवर्तनों से अवगत करवाना ।

1.1 प्रस्तावना

आपको यह समझना होगा कि मानवीय सभ्यता के विकास के साथ साथ व्यापार 'व्यवसाय के स्तर, आकार एवम् दिशा में सतत् रूप से परिवर्तन होता आ रहा है । आपको यहाँ यह भी समझना चाहिए कि सुदूर प्राचीनकाल में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित होती थी तथा अपनी जरूरत की वस्तुओं का उत्पादन वह स्वयं ही कर लेता था । एक प्रकार से उस समय साधारण अर्थव्यवस्था' की स्थिति थी । लेकिन सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बड़ी और स्वाभाविक रूप से उन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अब अकेले व्यक्ति के लिए करना मुश्किल हो गया। वर्तमान समय में तो आवश्यकताएँ संख्या में इतनी अधिक हो गई हैं कि एक व्यक्ति उन सब आवश्यकताओं की सन्तुष्टि अपने स्तर पर करने की सोच भी नहीं सकता । फलस्वरूप मानव की निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं, श्रम-विभाजन में विशिष्टीकरण की प्रवृति एवं परिवहन तथा संचार साधनों के तीव्र विकास से आज देश का व्यापार देश की भौगोलिक और राजनीतिक सीमाओं मे सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, आज भारत अनेक देशों से माल मँगवाता है और अनेक देशों को माल भेजता है । विदेशों से आयात करने तथा विदेशों को माल निर्यात करने की प्रवृत्ति सभी देशों के व्यापार मे दृष्टिगोचर हुई है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विश्वव्यापी हो गया है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशिष्ट लक्षणों और उसके लाभों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशेष अध्ययन की आवश्यकता है । वर्ष 1991 के बाद से भारत में अपनायी गयी एल.पी.जी. (LPG) की नीति के कारण तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय, व्यापार की आवश्यकता और भी अधिक बढ गयी है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज न केवल अर्थव्यवस्था का ही बल्कि दैनिक जीवन का भी अभिन्न अंग बन चुका है । अति प्राचीन एवम् प्राचीन समय मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र अत्यधिक सीमित था लेकिन 1930 के बाद उतरोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र एवम् आकार बढ़ता ही जा रहा है । आज के इस उदारीकरण के युग मे पूरा विश्व "समूह' के रूप मे बनता जा रहा है जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व और भी अधिक साबित हो रहा है

1.2 अर्थ एवं परिभाषा

जैसा कि आपको विदित है कि दो से अधिक राष्ट्रों के बीच वस्तुओं व सेवाओं के क्रय-विक्रय तथा आदान-प्रदान की क्रिया ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाती है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक देशों के बीच व्यापार संबंध को व्यक्त करता है । जब वस्तुओं अथवा सेवाओं का क्रय-विक्रय एक ही देश की सीमाओं में होता है तो उसे हम आन्तरिक व्यापार कहते हैं जबकि वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय अथवा विनियम दो या दो से अधिक राष्ट्रो के बीच होने पर वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अथवा विदेशी व्यापार कहलाता है ।

कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं -

पी. टी. एल्सवर्थ के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसा व्यापार है जो राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर जाता है ?

सी. एफ. स्टेनलेक के अनुसार, "यह (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार) राष्ट्रीय सीमाओं के पार वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय है।"

प्रो. हैरोल्ड के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस समय सम्भव होता है, जबकि श्रम विभाजन राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर किये जाते हैं ।"

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि दो या दो से अधिक राष्ट्रो के मध्य वस्तुओं, सेवाओं एवं अन्य मदों का आदान-प्रदान करने को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहते हैं । वस्तुओं के क्रय-विक्रय को 'अदृश्य व्यापार' तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय को 'अदृश्य-व्यापार' के नाम से पुकारा जाता है । इन दोनो को संयुक्त रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कह सकते हैं । अब आप समझ गये होगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे क्रेता व विक्रेता दोनों अलग-अलग देशों से सम्बन्धित होते हैं । उदाहरणार्थ, भारत का जापान से या अमेरिका का इग्लैंड से होने वाला व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की श्रेणी में आयेगा । इसे 'बाह्य व्यापार' या 'विदेशी व्यापार' भी कहा जा सकता है-

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पुनः तीन भागो में बांटा जा सकता है-

(i) आयात व्यापार

(ii) निर्यात व्यापार

(iii) पुनः निर्यात व्यापार

यहाँ आपको इन तीनों शब्दों का अर्थ समझना चाहिए जो इस प्रकार है -

(i) **निर्यात व्यापार-** जब कोई राष्ट्र अपने यहाँ निर्मित या उत्पादित माल को किसी दूसरे राष्ट्र को विक्रय कर भेजता है तो विक्रेता देश के लिए वह निर्यात व्यापार कहलाता है तथा विक्रयकर्ता देश निर्यातक कहलाता है । जैसे भारत से चाय, जूट का निर्मित माल, इंजीनियरिंग सामान आदि विदेशों को भेजा जाता है । यह भारत के लिए निर्यात है तथा भारत इसका निर्यातक देश है ।

(ii) **आयात व्यापार-** जब कोई राष्ट्र अन्य देशों से माल क्रय करता है तो क्रेता देश के लिए मँगवाया गया माल आयात व्यापार कहलाता है और क्रेता अथवा आयातकर्ता देश आयातक कहलाता है । उदाहरणार्थ भारत खाद्यान्न, मशीनें, विद्युत परिवहन का भारी सामान इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस, जापान से क्रय करता है अथवा मँगवाता है, तो भारत के लिए यह आयात-व्यापार है, भारत क्रेता के रूप में आयातक देश है ।

(iii) पुनः-निर्यात व्यापार- यह आयात-निर्यात की सम्मिलित प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत एक देश किन्हीं अन्य राष्ट्रो से माल आयात कर उसी माल को अन्य किसी देश को पुनः निर्यात कर देता है । यह आयातित माल के पुन. निर्यात की अवस्था है, इसे पुनः निर्यात व्यापार कहा जाता है । इसमे वस्तुतः तीन देशों के मध्य व्यापार सम्बन्ध होता है । पुन. निर्यातकर्ता देश मध्यस्थ के रूप मे काम करता है और लाभ कमाता है ।

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विशेषताएँ

इसकी निम्नाकिंत विशेषताएँ बताई जा सकती हैं -

1. यह व्यापार दो या दो से अधिक राष्ट्रो के बीच सम्पादित होता है ।
2. अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार मे भिन्न भिन्न राष्ट्रो के कानूनी एवम् नियमों की अनुपालना करनी होती है ।
3. अधिकांश व्यापार समुद्री मार्ग से सम्पादित होता है ।

4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निर्धारित शर्तों की अनुपालना करनी होती है ।
5. राष्ट्रीय व्यापार की तुलना मे इस व्यापार में जोखिम अधिक निहित होती है ।
6. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी मुद्रा का उपयोग होने के कारण विनिमय दर का महत्वपूर्ण स्थान होता है ।
7. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो राष्ट्रो के आपसी सम्बन्धों पर अधिक निर्भर करता है ।
8. यदि राजनीतिक दृष्टि से प्रतिकूलता हो तो लाभकारी होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्पादित नहीं हो सकता।
9. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बैंकों एवम बीमा कम्पनियों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है ।
10. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव का क्षेत्र विस्तृत होता है ।
11. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जीवन स्तर प्रभावित होता है ।
12. आर्थिक क्षेत्र के साथ साथ सामाजिक एवम् राजनीतिक क्षेत्र को भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रभावित करता है ।

1.4 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवम आंतरिक व्यापार के बीच समानताएँ एवं असमानताएँ

आप इस बात से सहमत होगे कि आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों ही दो रूप हैं । इन दोनो में कुछ समानताएँ हैं, तो कुछ भिन्नताएँ भी हैं । प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो राष्ट्रों के मध्य सम्पन्न किया जाता है । अत. यह आन्तरिक व्यापार से सर्वथा भिन्न है और इसके लिये पृथक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाना चाहिये। इसके विपरीत स्वीडन के अर्थशास्त्री **प्रो. बर्टिल ओहलिन** उपरोक्त विचार से सहमत नहीं हैं । उनका मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार का ही एक वृहद् रूप है । उनके अनुसार- "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर क्षेत्रीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा है। (International trade is a special case of internal trade)"

यहाँ आप समझ गये होगे कि प्रो. ओहलिन राजनीतिक सीमाओं को व्यापार का आधार नहीं मानते । उनके अनुसार राजनीतिक सीमाएँ तो बदलती रहती है । उन्होने 'आन्तरिक व्यापार के स्थान पर 'अन्तर क्षेत्रीय व्यापार शब्द का प्रयोग किया है । उनके मतानुसार व्यापार का आधार 'भौगोलिक क्षेत्र' होना चाहिए न कि 'राजनीतिक क्षेत्र', वे घरेलू और विदेशी व्यापार मे कोई मौलिक अन्तर नहीं मानते । उनके अनुसार इन दोनो प्रकारों के व्यापारों के बीच विभाजन रेखा खींचना न तो सम्भव है और न ही आवश्यक । इस बात को आप निम्नलिखित उदाहरणों से अच्छी तरह से समझ सकते हो-

जैसे 1947 मे विभाजन से पूर्व भारत का कराची, लाहौर एवं रावलपिण्डी से व्यापार आन्तरिक व्यापार था किन्तु पाकिस्तान के अलग राष्ट्र बन जाने से वहाँ से व्यापार तब से "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' मे बदल गया । ठीक इसी प्रकार का उदाहरण पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान दो अलग-अलग क्षेत्रो के रूप में उनके बीच व्यापार "अन्तर-क्षेत्रीय व्यापार" था, किन्तु 1971 में पूर्वी

पाकिस्तान एक अलग राष्ट्र "बांग्लादेश' के नाम से उभरा तो उसके साथ पश्चिमी पाकिस्तान का व्यापार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार" मे बदल गया । यह राजनीतिक प्रभुसत्ता की भिन्नता व्यापार की प्रकृति में कोई मौलिक अन्तर नहीं लाती, आन्तरिक व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों ही तकनीकी दृष्टि एवं व्यापारिक उद्देश्यों से एक जैसे ही हैं । यही कारण है कि विद्वानों ने दोनों प्रकार के व्यापार की समानता के लिए निम्नलिखित तर्क दिये हैं-

1. **व्यावसायिक क्रियाओं में समानता-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्तर क्षेत्रीय व्यापार दोनो मे एक ही प्रकार की व्यापारिक क्रियाएँ होती हैं, दोनों मे क्रेताओं एवं विक्रेताओं के पारस्परिक सम्पर्क, वार्ता एवं संचार व्यवस्था से व्यापारिक सौदे होते हैं, भुगतान की शर्तें तय होती हैं, माल भेजा व मंगाया जाता है, अन्ततः भुगतान निपटाये जाते हैं । दोनो में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।
2. **पक्षो एवम् मध्यस्थो की समानता-** दोनो प्रकार के व्यापार मे लगभग एक से पक्ष एवं मध्यस्थ होते हैं । आन्तरिक व्यापार मे जैसे क्रेता और विक्रेता होते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी क्रेता के रूप में आयातक होता है और विक्रेता के रूप में निर्यातक होता है । इसी प्रकार मध्यस्थ के रूप में दलाल, कमीशन एजेण्ट्स होते हैं, दोनो में वित्तीय संस्थाएँ साख एवं भुगतानों मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, अन्तर केवल उनके स्वरूप में हैं ।
3. **विक्रय प्रयत्नों की समानता-** दोनो ही प्रकार के व्यापार मे विक्रेताओं को बढ़ती प्रतिस्पर्द्धा का डटकर मुकाबला करने तथा अपने माल के अधिकाधिक विक्रय हेतु सुनियोजित प्रयत्न करने पड़ते हैं । वस्तु की माँग बढ़ाने के लिए विज्ञापन की प्रभावपूर्ण व्यवस्था तथा मूल्य प्रतिस्पर्द्धा में लागतों की न्यूनता का प्रयास आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो मे आवश्यक हैं ।
4. **क्रियाओं में समानता-** आन्तरिक व्यापार एवं विदेशी व्यापार दोनों मे प्रायः एक-सा व्यापारिक व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। दोनों मे वस्तुओं का उत्पादन कर उनके विक्रय का प्रयास किया जाता है, व्यापारिक शर्तें तय होती हैं, माल क्रेता द्वारा विक्रेताओं को भेजने के लिए पैकिंग पार्किंग, वाहन पर लदान, माल सम्बन्धी प्रपत्र तैयार करना व भेजना तथा भुगतान आदि की व्यवस्था करना आदि होता है ।
5. **दोनों का आधार विशिष्टीकरण-** जिस प्रकार अन्तर देशीय व्यापार का प्रमुख आधार श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण है । उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार भी विशिष्ठकरण होता है । कुछ क्षेत्र अथवा स्थान कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्ठता रखते हैं, अत. उन स्थानों का उत्पादित माल दूसरे स्थानों पर जाकर बिकता है, जैसे- जयपुर की संगमरमर की मूर्तियाँ, सांगानेर मे छपे कपड़े, कोटा डोरिया की साड़ियाँ और कश्मीर के गलीचे देश के दूसरे भागों मे बिकते हैं, और वहाँ दूसरे स्थानों पर उत्पन्न चाय, चावल, सूखे मेवे, कपड़े आदि की माँग होती है । इससे आन्तरिक व्यापार होता है, ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल आधार हैं ।

6. **ऐच्छिक सौदे-** दोनों ही स्थितियों मे व्यापार ऐच्छिक होता है । यद्यपि सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं लेकिन सरकार अपने नियमों के अनुसार किसी भी व्यापारी को क्रय अथवा विक्रय करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती । दोनों ही अवस्थाओं मे राजकीय नियमों व आदेशों का पालन किया जाता है ।
7. **दोनों व्यापार अभाव की पूर्ति करते हैं-** जिस प्रकार आन्तरिक व्यापार के द्वारा उन स्थानों से माल भेजा जाता है जहाँ उसकी पूर्ति अधिक है और उन स्थानों को माल भेजा जाता है जहाँ उसकी पूर्ति माँग की तुलना में कम है, यही सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे क्रियाशील होता है । जिन देशों मे वस्तु की अतिरिक्त पूर्ति होती है, वह उन देशों को निर्यात की जाती है जहाँ उसका अभाव होता है जैसे भारत अपने यही से कॉफी, चाय, हैण्डलूम का कपड़ा आदि अमेरिका को भेजता है और वहाँ से अनाज, मशीनें व अन्य आवश्यकता का सामान मँगवाता है । इस प्रकार दोनों प्रकार के व्यापार में अतिरिक्त वस्तुओं का विक्रय (निर्यात) तथा अभाव वाली वस्तुओं का क्रय (आयात) किया जाता है।
8. **दोनों के पक्षकारों को लाभ एवम् सन्तुष्टि-** जिस प्रकार आन्तरिक व्यापार के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने अतिरिक्त माल के बदले में अभाव वाली वस्तु का विनिमय करता है। इससे क्रेता और विक्रेता दोनो को अपनी सन्तुष्टि एवं लाभ अधिकतम करने का अवसर मिलता है । ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी एक देश के व्यापारी अपने देश की अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं को विदेशों में निर्यात करके वहाँ से उन वस्तुओं का आयात करते हैं, जिनका देश मे अभाव है । परिणामस्वरूप दोनों देश माल के विनिमय के लाभ उठाते हैं और उन्हें अपनी सन्तुष्टि अधिकतम करने का अवसर मिलता है । जहाँ दोनो पक्षों को हानि होने लगती है, व्यापार बन्द हो जाता है ।
9. **दोनों में व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक सौहाद्र एवं सम्बन्ध बढ़ते है-** चाहे आन्तरिक व्यापार हो चाहे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, दोनो मे जब क्रेता और विक्रेता वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हैं, निकट सम्पर्क में आते हैं, एक-दूसरे को समझने और तालमेल बैठाने का प्रयास करते हैं, तो स्वाभाविक रूप से दोनों में व्यक्तिगत सौहाद्र सामाजिक सम्बन्धों में सुदृढ़ता और राष्ट्रीय एकता (जब आन्तरिक व्यापार एक ही देश के दो या दो से अधिक राज्यों के बीच होता हैं) बढ़ती हैं । यहाँ उल्लेखनीय है कि आन्तरिक व्यापार में ये सम्बन्ध अधिक सुदृढ होते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ये संबंध अल्पकालिक एवं अस्थायी होते हैं जो राजनीतिक हितों के साथ बदलते रहते हैं ।
10. **दोनों में स्थान एवं क्षेत्रों की दूरी महत्वपूर्ण नहीं है-** दोनों प्रकार के व्यापार में राजनीतिक सार्वभौमिकता एवं अस्तित्व अन्तर का प्रमुख कारण है । आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो मे स्थान या क्षेत्रो की दूरी कोई अन्तर नहीं लाती । जो देश विशाल एवं व्यापक क्षेत्र में फैले होते हैं वहाँ व्यापार के एक या अधिक स्थानों की दूरी अधिक हो सकती है, जैसे भारत मे कश्मीर से कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक परन्तु फिर भी दूरी आन्तरिक व्यापार के स्वरूप को नहीं बदल सकती, किन्तु ज्यों ही दोनो ही स्थानों की राजनीतिक प्रभुसत्ता बदलती हैं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वरूप प्राप्त कर लेता हैं ।

उपर्युक्त बिन्दुओं की विवेचना से आप समझ गये होगे कि आन्तरिक एवम बाह्य व्यापार के बीच अत्यधिक समानतायें हैं । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं निकाल लेना चाहिए की यह दोनों एक ही है । कुछ आधारभूत भिन्नताओं के कारण इनके बीच कुछ मौलिक अन्तर भी पाये जाते है ।

असमानताएँ- रूप से आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निम्नलिखित अन्तर बतलाये जा सकते हैं-

1. **उत्पादन साधनों की गतिशीलता-** प्रायः यह देखने में आया है कि किसी देश की सीमा के अन्दर ' श्रम व पूँजी की गतिशीलता विभिन्न देशों के बीच की अपेक्षा अधिक होती है । इससे सम्पूर्ण राष्ट्र मे वस्तुओं का उत्पादन-व्यय भी लगभग एक समान होता है । साधारणतः भूमि को छोडकर उत्पादन के अन्य साधन विशेषकर श्रम व पूँजी अपने देश के किसी भी भाग में स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकते हैं जबकि अन्य किसी देश में जाने पर अनेक प्रतिबन्ध भी होते हैं तथा हिचकिचाहट भी होती है । वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अलग-अलग राजनीतिक प्रभुसत्ताओ, राजनीतिक प्रतिबन्धों, अलग-अलग धर्म, भाषा, रीति-रिवाजों और राष्ट्रीय नीतियों के कारण उत्पादन साधनों मे गतिशीलता का बहुत अभाव होता है । परिणामस्वरूप वस्तुओं की उत्पादन लागत मे भिन्नता रहती है, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख कारण हैं । कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन होने पर निर्यात बढ़ते हैं जबकि अधिक लागत वाले स्थानो पर वस्तुओ का आयात बढने लगता है । गतिशीलता के अभाव का एक और प्रभाव पडता है । देश के अन्दर दीर्घकाल मे सभी वस्तुओं के मूल्य में उत्पादन-व्यय के बराबर होने की प्रवृति पायी जाती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे ऐसी सम्भावना नहीं पायी जाती ।

   यहाँ आपको इस मत को भी समझ लेना चाहिए जिस प्रकार श्रम व पूँजी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गतिहीन होते हैं, वे उसी प्रकार एक देश के भीतर भी गतिहीन हो सकते हैं । श्रमिक एक स्थान या राज्य को छोड़कर दूसरे स्थान पर ज्यादातर जाना पसन्द नहीं करते । बिहार व उत्तर प्रदेश के श्रमिक पंजाब जाने मे हिचकिचाते हैं । इसी प्रकार उत्तर भारत के श्रमिक दक्षिण भारत में जाना पसंद नहीं करते । जिस प्रकार दूसरे देश में भाषा, खान-पान, रीति-रिवाज जलवायु आदि की कठिनाइयाँ आती हैं, उसी प्रकार एक राज्य से दूसरे राज्य मे जाने पर भी ऐसी कठिनाइयों से रूबरू होना पडता हैं। इसका दूसरा पक्ष भी है । एक देश से दूसरे देश में श्रम की गतिशीलता के भी अनेक उदाहरण देखने को मिल सकते हें! संयुक्त राज्य अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, अर्जेन्टीना, व अरब देशों के आर्थिक विकास मे बाहर से आये श्रमिकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । युद्धोत्तरकाल मे स्पेन, पुर्तगाल, यूगोस्लाविया, दक्षिणी इटली आदि से बडी संख्या मे श्रमिक फ्रान्स, जर्मनी तथा स्विट्जरलैंड में जाकर बस गये थे ।

   लगभग यही स्थिति पूंजी की भी है । विभिन्न देशों के बीच पूँजी में गतिशीलता पाई जाती है । अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के इस युग मे विदेशी पूँजी का विनियोग किसी भी देश के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि साधनो की गतिशीलता का अन्तर श्रेणी का है, न कि किस्म का ।

2. **मौद्रिक भिन्नताएँ-** आन्तरिक व्यापार मे समूचे राष्ट्र में एक ही प्रकार की मौद्रिक व्यवस्था होती है पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भिन्न-भिन्न राष्ट्रों मे भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित होती हैं । एक देश की मुद्रा दूसरे देश में विधिग्राह्य नही होती अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आपसी भुगतानों मे विदेशी विनिमय की समस्या का प्रादुर्भाव होता है । फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न हो जाता है । यही आप इस बात से भी सहमत होंगे कि कभी-कभी तो विदेशी विनिमय सम्बंधी कठिनाइयाँ इतनी जटिल हो जाती हैं कि उनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रूकावटें उत्पन्न होने लगती है
3. **राष्ट्रीय नीतियों में भिन्नता-** आप जानते ही हो कि प्रत्येक देश मे राजनीतिक दृष्टि से सम्प्रभुता-सम्पन्न सरकार की एकछत्र सत्ता होती है, वह अपनी आर्थिक एवं व्यापारिक नीतियाँ अपने राष्ट्रीय हितों को सामने रखकर निर्धारित करती है । राष्ट्रीय व्यापार मे समूचे क्षेत्र मे एक ही प्रकार की नीतियाँ लागू होती हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न नीतियाँ लागू होती है । प्रशुल्क नीति तथा तटकर नीति की विभिन्नता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे नई समस्याओं को जन्म देती है । इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रीय नीतियों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न हो जाता है ।
4. **मौद्रिक सस्थाओं मे भिन्नता:-** जिस प्रकार विभिन्न देशों की मुद्रा मे भिन्नता होती है, उसी प्रकार उनमें मौद्रिक सस्थाओं मे भी भिन्नता पायी जाती है इन संस्थाओं की कार्य प्रणाली भी अलग-अलग होती है । अमेरिका, जापान, भारत आदि मे 'आयात-निर्यात बैंक' हैं । विश्व स्तर पा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करती है । कई देशों की आन्तरिक वित्त प्रदान करने वाली मौद्रिक संस्थाएं ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का प्रबन्ध करती हैं । इन सभी सस्थाओं की साख, रोजगार, कीमत, ब्याज दर आदि नीतियों मे अन्तर होता है ।आन्तरिक व्यापार मे वित्तीय तथा गैर-वित्तीय संस्थाओं की संख्या कम होती है तथा उनके साधन भी सीमित होते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे विशाल साधनो वाली संस्थाएं निर्णायक भूमिका निभाती है । आन्तरिक व्यापार का संचालन सुगमतापूर्वक किया जा सकता है तथा उसने वित्तीय सस्थाओं की भूमिका सीमित रहती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संचालन तब तक आसानी से नहीं किया जा सकता जब तक कि विभिन्न प्रकार की सस्थाओं का सहयोग न लिया जाये ।
5. **भौगोलिक दशाओं एवं प्राकृतिक साधनों में भिन्नता-** भिन्न-भिन्न देशों की भौगोलिक परिस्थितियों- भूमि की बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक साधनो में अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है । इन भिन्नताओं के कारण कृषि उत्पादनों, खनिज, प्राकृतिक साधनो तथा औद्योगिक उत्पादनों मे भिन्नता होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास होता है । उदाहरण के लिए, भारत चाय और जट का सामान निर्यात करता है पर खनिज तेल, मशीनों आदि का आयात करना पडता है।
6. **व्यापार की शर्तें-** आन्तरिक व्यापार में व्यापार की शर्तें प्रायः स्थिर रहती हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों मे बहुत जल्दी परिवर्तन होते है । आर्थिक व राजनीतिक

सम्बन्धों मे परिवर्तन, व्यापारिक स्थितियों में परिवर्तन व जोखिम मे परिवर्तन होते रहते हैं । इन परिवर्तनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रत्येक सौदे के साथ व्यापार की शर्तें नये सिरे से तय करनी पड़ती है । इसके विपरीत आन्तरिक व्यापार की शर्तों मे ज्यादा परिवर्तन नहीं होते हैं । व्यापार शर्तें अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अति महत्वपूर्ण है क्योकि इसमें 'व्यापार से प्राप्त लाभ' एक मूलभूत समस्या है, जबकि आन्तरिक व्यापार एक ही देश के लोगों के बीच होता है और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से व्यापार शर्तें इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती ।

7. **विभिन्न राजनीतिक इकाइयाँ:-** प्रत्येक देश मे अपनी-अपनी राजनीतिक सत्ता होती है, जिसका मुख्य उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करना होता है, चाहे उससे दूसरे राष्ट्र को कितना ही नुकसान क्यों न उठाना पड़े । आन्तरिक व्यापार मे तो समूचा प्रभाव उस देश की अर्थव्यवस्था पर ही पडता है, अच्छा या बुरा- पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे तो प्रभाव दो या दो से अधिक राष्ट्रों पर पड़ता है ।

   यहाँ आपको यह भी समझना होगा कि एक ही देश में एकता व पारस्परिकता निर्भरता पाई जाती है । सरकार अपने देश के निवासियो के कल्याण को अधिक महत्व प्रदान करती है । यद्यपि एक देश में भी विभिन्न राज्य होते हैं तथा क्षेत्रवाद की समस्या भी हो सकती है । पंजाब एव हरियाणा चंडीगढ के मामले पर वर्षो से झगड़ रहे हैं । कर्नाटक तथा तमिलनाडु मे जल विवाद गहराया हुआ है लेकिन फिर भी राष्ट्रवाद की तुलना मे क्षेत्रवाद की गम्भीरता बहुत कम होती है । एक ही देश मे विभिन्न राज्यों मे विभिन्न राजनीतिक दलो का शासन होते हुए भी व्यापारिक नियमन व नियन्त्रण निर्धारित कानून के अनुसार ही रखना होता है । अत. आन्तरिक व्यापार मे सुगमता रहती है । इसके विपरीत पूंजीवाद, साम्यवाद, प्रणाली के अपने-अपने हित होते हैं जिस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती है।

8. **व्यापारिक उद्देश्यों में भिन्नता-** आन्तरिक व्यापार का उद्देश्य 'आर्थिक' होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य 'आर्थिक तथा राजनीतिक' दोनों हो सकता है । यहाँ तक कि कई बार तो राजनीतिक उद्देश्य को प्राथमिकता प्रदान की जाती है । आन्तरिक व्यापार के अन्तर्गत आधिक्य वाले क्षेत्रों से अभावग्रस्त क्षेत्रों में माल की आपूर्ति करके लाभ कमाया जाता है । इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कई बार बाजार हथियाने की दृष्टि से लागत से भी कम मूल्य पर माल बेचकर राशिपातन की नीति अपनाई जाती है । भुगतान सन्तुलन को सुधारने की दृष्टि से मुद्रा का अवमूल्यन करके महँगे आयात तथा सस्ते निर्यात की नीति अपनाई जाती है । भारत द्वारा 1965 मे अत्यधिक कम दामों पर चीनी का निर्यात करके तथा 1991 मे मुद्रा का अवमूल्यन करके अपने आयात-निर्यात व्यापार को प्रभावित किया गया था । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब राजनीतिक दबावों के कारण उस वस्तु का निर्यात भी करना पड़ सकता है जिसकी मे पूर्ति पहले से ही कम होती है ।

9. **भिन्न-भिन्न सामाजिक एवं व्यापारिक रीतियाँ-** प्रत्येक देश में सामाजिक जीवन दूसरे देश के सामाजिक जीवन से रीति-रिवाज, धर्म, भाषा और परम्पराओं से भिन्न होता है ।

उनकी उपभोग, रूचि आदि दूसरे देशों से भिन्न होती हैं । जैसे- पाश्चात्य राष्ट्र मांसाहारी हैं जबकि भारत के अधिकांश लोग शाकाहारी ।

इससे फ्रांस व इंग्लैण्ड में विदेशी व्यापार की प्रकृति भारत के विदेशी व्यापार से भिन्न होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार व्यापारिक क्षेत्र में आन्तरिक व्यापार मे परम्पराओं से ही काम चल जाता है, पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे पारस्परिक निकटतम सम्बन्धों के अभाव में व्यापारिक रीतियों की भिन्नता बाधा उत्पन्न करती है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यापारिक रीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न कर देती हैं ।

10. **राष्ट्रीय आर्थिक जीवन-** देश के आर्थिक जीवन के स्तर का आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । आर्थिक सम्पन्नता जिस देश में जितनी अधिक होगी, उस देश का व्यापार भी उतना ही अधिक समृद्ध होगा । आर्थिक दृष्टिकोण से पिछडे राष्ट्रों का व्यापार भी पिछड़ा तथा सीमित होता है । आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में होता है । आन्तरिक व्यापार की में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर राष्ट्र के आर्थिक जीवन का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।
11. **विशिष्ठ समस्याएँ-** अंतरराष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत राजनीतिक जोखिमों के साथ-साथ भुगतान की विशिष्ठ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं । जैसा कि:-
    - विदेशी विनिमय की समस्या;
    - नाप तौल सम्बन्धी भिन्नता की समस्या
    - अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
    - अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार एवं विनिमय नियन्त्रणों को दूर करने की समस्या,
    - वस्तुतः उपर्युक्त समस्याएँ आन्तरिक व्यापार में नहीं पायी जाती हैं

उपर्युक्त विवेचना से आप इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुंच गये होंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी आन्तरिक व्यापार की एक विशिष्ठ दशा है पर दोनों में कई समानताओं के बावजूद भी अलग-अलग देशों की अलग सार्वभौमिक सत्ताएँ होने, उनकी आर्थिक नीतियों में अन्तर होने, अलग-अलग देशों की अलग-अलग मुद्राएँ होने, आयात एवं निर्यात व्यापार में कई बाधाएँ होने, विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के साथ-साथ कई प्रकार की समस्याएँ होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आन्तरिक व्यापार में भेद करना आवश्यक हो जाता है, अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए भिन्न सिद्धान्त की आवश्यकता हुई है। लेकिन मैं यहाँ यह उल्लेख करना चाहूँगा कि अलग सिद्धान्त की वास्तव में अनिवार्यता नहीं बल्कि अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही ऐसा किया जाता है ।

1.5 आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पारस्परिक निर्भरता

आन्तरिक व्यवसाय, व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानताओं, असमानताओं के अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो गया है कि व्यापार की मूलभूत विशेषताओं दोनों में पाई जाती है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवसाय की कुछ मौलिक भिन्नताओं के बावजूद भी इतना तय है कि सभी देश कमोबेश व्यापार हेतु एक दूसरे पर निर्भर करते हैं । विश्व में कोई भी देश ऐसा नहीं है जो

यह दावा कर सकता हो कि वह पूर्णतया आत्मनिर्भर है तथा वह अपने देश के नागरिकों द्वारा उपभोग में लायी जाने वाली सभी वस्तुओं का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में करने में समर्थ है ।

इंग्लैण्ड जैसे शक्तिशाली राष्ट्र को भी आज भारी मात्रा में चीनी, चाय. कपास, तम्बाकू मास आदि का आयात करना पड़ता है । जर्मनी और जापान कच्चे लोहे का आयात करते हैं । फ्रांस को भारी मात्रा में कोयले का आयात करना पडता है । विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली तथा आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न राष्ट्र अमेरिका भी चीनी. चाय, कॉफी. जूट आदि न जाने कितनी वस्तुओं के लिये दूसरे देशों पर निर्भर करता है । यही हालत रूस और चीन का भी है ।

यहाँ आपको यह भी समझना होगा कि यदि किसी देश द्वारा विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो वह अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होता है । एक देश द्वारा लगाया गया प्रतिबन्ध दूसरे देश के उद्योग व व्यापार मे लगे लोगो के रोजगार एवं क्रय शक्ति पर तो विपरीत प्रभाव डालता ही है, साथ ही साथ प्रतिबन्ध लगाने वाले देश की अर्थव्यवस्था पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । भारत द्वारा पोखरण में किये गये परमाणु विस्फोटों के बाद अमेरिका द्वारा भारत पर जिन आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा की गई है, उनकी काली छाया स्वयं अमेरिका के व्यापार पर भी पड़ने लगी । अन्ततः अमेरिका को प्रतिबन्ध हटाना पड़ा ।

इस प्रकार विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध के बाद उस सम्बन्धित देश के आंतरिक व्यापार का प्रवाह पहले जैसा नहीं रह सकता । विदेशी व्यापार के कारण श्रम विभाजन से उत्पादन क्षमता में जो वृद्धि होती है उसमें ह्रास होने लगता है । जो उद्योग कच्चे माल व तकनीक आदि के लिये किसी अन्य देश पर निर्भर करते हैं, उनके विकास मे रूकावट आने लगती है । अतः आंतरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों के बीच घनिष्ठ पारस्परिक निर्भरता है । एक के अभाव मे दूसरे का सुचारु रूप से संचालन सम्भव नहीं है । आज के इस वैश्वीकरण की धारा में तो पारस्परिक निर्भरता का महत्व और भी अधिक बढ़ता जा रहा है । इसलिए सम्पूर्ण विश्व एक दूसरे के साथ मजबूत आर्थिक सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास करता जा रहा है ।

1.6 अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार के आधार बिन्दु

यहाँ आपको यह समझना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय व्यापार की आखिर आवश्यकता ही क्यों महसूस हुई / वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी लाभ की भावना पर आधारित है । प्रत्येक देश किसी अन्य देश से व्यापार करने से पूर्व इस बात की पूर्ण जानकारी हासिल कर लेता है कि उसके यहाँ किन-किन वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है, किन वस्तुओं का आधिक्य रहेगा जिनका निर्यात किया जा सकेगा तथा किन वस्तुओं का अभाव रहेगा जिनका आयात करना अनिवार्य होगा । यह विचार करते समय प्रत्येक देश अपने यहाँ की भौगोलिक, प्राकृतिक. आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को भी ध्यान मे रखता है। जिस वस्तु के लिये देश की जलवायु, प्राकृतिक साधन, कच्चा माल, पूँजी, श्रम आदि उपलब्ध होंगे उन वस्तुओं का देश मे ही उत्पादन किया जायेगा । अपनी आन्तरिक माँग की आपूर्ति करने के बाद 'आधिक्य' को निर्यात किया जायेगा तथा बदले में अन्य देशों से जरूरत की वस्तुओं का आयात किया जायेगा । इस प्रकार यदि आप इसे यों समझे कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परिस्थितियों की देन है' तो भी अतिश्योक्ति नहीं होगी ।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार बिन्दुओं को इस प्रकार समझाया जा सकता है.-

(A) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भौगोलिक आधार / आवश्यकता

आप इस बात से सहमत होंगे कि प्रत्येक देश की स्थिति, भूमि की बनावट, जलवायु, प्राकृतिक साधनों एवं परिस्थितियों में एक-दूसरे से अत्यधिक अन्तर होता है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक प्रभाव पडता है-

(i) **भौगोलिक स्थिति-** जो देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक मार्गों पर स्थित हैं, वे स्वत: ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लिप्त रहते हैं । उपयुक्त भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख कारण है । दुबई इसका उदाहरण हैं ।

(ii) **प्राकृतिक सम्पदा-** जिस देश मे विपुल खनिज एवं वन-सम्पदा होती है, ये अपने विपुल साधनों को विदेशों में भेजकर विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं और जिन देशों मे इन साधनों का अभाव होता है, वे अपनी माँग आयतों से पूरी करने का प्रयास करते हैं, अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास एवं होता हैं ।

(iii) **जलवायु एवं भूमि की भिन्नता-** इसके कारण भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग उत्पादन एवं भिन्न-भिन्न माँग उत्पन्न होती है । कृषि प्रधान देश कृषि उपज का निर्यात करते हैं जबकि औद्योगिक निर्मित माल आयात करते हैं । भारत से चाय, जुट, चावल, सूखे मेवे निर्यात होते हैं जबकि मशीनें, भारी उपकरण एवं रसायन सामग्री का आयात होता है । यह भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देती हैं ।

(B) आर्थिक आधार / आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आर्थिक आधार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्भव, विकास एवं विस्तार होता है, जो इस प्रकार है-

(i) **उत्पादन साधनों में कम गतिशीलता-** जहाँ एक ओर भूमि, प्राकृतिक सम्पदा एवं वातावरण में गतिहीनता होती है वहीं श्रम एवं पूँजी में गतिशीलता सीमित होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है ।

(ii) **औद्योगिक एवं तकनीकी कुशलता में अन्तर-** कुछ देशों में उच्च तकनीकी शान एवं उन्नत प्रौद्योगिक ज्ञान के कारण कई प्रकार की आधुनिक वस्तुओं का उत्पादन होता है जबकि पिछडे देशों में उनका नितान्त अभाव होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है ।

(iii) **श्रम-विभाजन एवं विशिष्ठीकरण-** श्रम-विभाजन एवं विशिष्ठीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिलता है, क्योकि किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में विशिष्टीकरण कर बडी मात्रा मे उत्पादित माल का निर्यात आवश्यक हो जाता है और दूसरे कच्चे माल का आयात करना पड़ता है ।

(iv) **तुलनात्मक लागतों में सापेक्षिक अन्तर-** यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण आधार है । प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए प्रेरित होता है, जिनकी सापेक्षित लागत कम होती है और उन वस्तुओं के आयात का प्रयास करता है, जिनकी सापेक्षिक लागत अधिक होती है । अत: तुलनात्मक लागतों में सापेक्षिक अन्तर

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देता है । जैसे भारत जूट का सामान बाहर भेजता है और मशीनें मँगवाता है ।

(v) **उत्पादन आधिक्य एवं अभाव-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पादन आधिक्य अथवा कमी दोनो परिस्थितियों में होता है । उत्पादन आधिक्य होने पर निर्यात बढने का प्रयास होता है जबकि उत्पादन अभाव की स्थिति से आयातों का प्रयास किया जाता है । दोनों ही स्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देती हैं ।

(vi) **आर्थिक संकट में सहायता-** युद्ध, बाढ. महामारी, भूकम्प, अकाल अथवा अन्य किसी आर्थिक संकट के समय सहायता लेन-देन मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रादुर्भाव एवं विस्तार है । विकसित राष्ट्र विकासशील देशों को आर्थिक संकट के समय सहायता देकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाते हैं ।

(vii) **उच्च जीवन-स्तर की लालसा-** आधुनिक युग में प्रत्येक देश अपने नागरिको के जीवन-स्तर को बढ़ाने का हर-सम्भव प्रयास करते हैं, अत. विदेशों से आयातों को बढाया जाता है और उन वस्तुओं के उपयोग की चेष्टा की जाती है जो देश मे उपलव्य नहीं है।

(viii) **परस्पर आर्थिक सहयोग-** विभिन्न देशों में परस्पर आर्थिक सहयोग की बढ़ती प्रवृत्ति ने भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रेरित किया ।

(ix) **विदेशी विनिमय अर्जन-** कुछ राष्ट्र विदेशी बाजारों में अपनी वस्तुएं एवं सेवाएँ निर्यात कर विदेशी मुद्रा अर्जन करने के प्रयास करते हैं, उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होना स्वाभाविक है ।

(C) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के राजनीतिक आधार / आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के राजनीतिक आधार भी कम महत्वपूर्ण नहीं होते है जो इस प्रकार है.-

(i) **राजनीतिक प्रभुत्व की इच्छा-** आज विश्व गुटों मे बंटा हुआ है और प्रत्येक गुट पूँजीवादी, समाजवादी एवं गुट-निरपेक्ष एक-दूसरे को अपने गुट मे मिलाने के लिए तथा अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम करने के लिए आयात-निर्यात का सहारा लेता है ।

(ii) **राजनीतिक सम्बन्ध कायम करना एवं सुदृढ करना-** आजकल बहुत-से देशों मे परस्पर राजनीतिक संबंध कायम करने तथा उन्हे सुदृढ बनाने की होड़-सी है । अत. इसके कारण वस्तुओं एवं सेवाओं के आयात-निर्यात का सहारा लिया जाता है । राजदूतों एवं अधिकारियों का आवागमन बढ़ता है और राजनीतिक संबंधों की सुदृढ़ता के लिए व्यापारिक समझौते किये जाते हैं ।

(iii) **राजनीतिक सुरक्षा एवं स्वाधीनता-** प्रत्येक देश अपनी राजनीतिक सुरक्षा एवं सार्वभौमिकता के लिए उन वस्तुओं एवं सेवाओं का आयात-निर्यात करते हैं जो उसमे मदद करती हैं । भारत अमेरिका एवं रूस तथा अन्य देशों से सैनिक साज-सामान मंगवाता रहा है । इसी प्रकार अपने पडोसी देशों से सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करता हैं।

1.7 अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार का महत्व / उपयोगिता

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय / व्यापार के संबंध मे उपर्युक्त विभिन्न बिन्दुओं की विवेचना के बाद आपको इसके महत्व / उपयोगिता के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए । आप इस बात को जानते

हो कि अर्थव्यवस्था में उद्योग व्यापार का अपना विशिष्ट महत्व एवम् स्थान होता है । इनके विकास एवम् विस्तार के साथ साथ अर्थव्यवस्था का भी विस्तार एवम् विकास होता है । आपको यहाँ यह भी समझना होगा कि सभी राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समान महत्व नहीं, फिर भी उन राष्ट्रों के लिए जिनकी अर्थव्यवस्था विदेशी व्यापार प्रधान है या जो अपनी उत्पत्ति का एक चौथाई से अधिक भाग निर्यात करते हैं, औद्योगिक निर्मित माल निर्यात कर कच्चे माल का आयात करते हैं । अपने देश के श्रम-विभाजन का लाभ उठाने के लिए विशिष्ठीकरण अपनाते हैं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिक लाभ है । वैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सभी राष्ट्रो को लाभ मिलता है । केवल मात्रा मे अन्तर हो सकता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के निम्नलिखित लाभ हैं -

1. **प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही सभी राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनो का अधिकतम उपयोग कर सकते हैं, तुलनात्मक लाभ का स्वरूप बहुत कुछ प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि पर निर्भर है, जैसे- भारत में अभ्रक का पूरा उपयोग न होने पर भी विदेशों मे निर्यात कर उसका लाभ लेने की चेष्ठा की जा रही है । प्रत्येक देश प्रायः उन उद्योगो में ही विशिष्टीकरण अपनाता हैं, जिसके प्राकृतिक साधन देश मे उपलब्ध हैं और कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन करते हैं । इससे साधनों का पूरा-पूरा उपयोग सम्भव होता है ।
2. **श्रम-विभाजन एवं विशिष्ठीकरण-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओं की माँग मे वृद्धि होती है, अत: प्रत्येक राष्ट्र उन वस्तुओं के उत्पादन मे विशिष्ठीकरण करता है, जिनके उत्पादन में उन्हें अधिकतम योग्यता, कुशलता, कच्चा माल आदि प्राप्त है और वे अन्य देशों की अपेक्षा अनुकूलतम दशाओं मे होने के कारण कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन कर सकते हैं इससे श्रम- विभाजन एवं विशिष्ठीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं ।
3. **आर्थिक संकट में सहायता-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध एवं संकटकाल में वस्तुओं का आयात किये जाने से सकट को टाला जा सकता है । जैसे अगर अभाव के समय भारत को खाद्यान्न अमेरिका से उपलब्ध न हो या युद्ध के समय अस्त्र-शस्त्र प्राप्त न हों तो देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जावे और । के उपभोग स्तर मे गिरावट आ जावे । अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आर्थिक संकटों से मुक्ति प्रदान है ।
4. **औद्योगीकरण को बढ़ावा-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से ही पिछडे राष्ट्र अपनी कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था मे औद्योगीकरण को बढ़ावा दे सकते हैं । वे अपने यहाँ से कच्चे माल का निर्यात कर मशीनें, उपकरण आदि आयात कर अपने देश का औद्योगीकरण कर सकते हैं । जैसे अगर भारत विकसित राष्ट्रों से औद्योगिक तकनीक, मशीनें, औजार, उपकरण आदि प्राप्त न करे तो क्या औद्योगीकरण की कल्पना की जा सकती है।
5. **उपभोक्ताओं का उच्च जीवन-स्तर-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अनेक प्रकार की वस्तुएं उपलब्ध होती हैं अत: उपभोक्ताओं के चयन का क्षेत्र बता है और वे देश में उन वस्तुओं का उपयोग कर सकते है । इसी प्रकार उपभोक्ताओं को अनेक प्रकार की वस्तुओं के साथ सस्ती वस्तुओं की प्राप्ति सम्भव होती है, जिससे उनका जीवन-स्तर बढ़ता है ।

6. **वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य मे समानता-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओं और सेवाओं का अन्तराष्ट्रीय स्तर पर क्रय-विक्रय होता है । महँगे स्थानों पर आयात होता है और सस्ते स्थानों से निर्यात होता है । इससे अन्तर्राष्ट्रीय खर पर वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग और पूर्ति में सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा सम्भव होता है और सभी क्षेत्रो में मूल्यो में समानता की प्रवृति होती है ।
7. **विस्तृत बाजार का लाभ-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओं एवं सेवाओं का व्यापार क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है, उसके कारण एक देश अपने अतिरिक्त उत्पादनों को विदेशों में बेचकर लाभ कमाता है. साथ ही अपने उत्पादन के आकार को बढ़ाने के लिए स्वतन्त्र होता है । इसी प्रकार विस्तृत बाजार का लाभ क्रेता को भी मिलता है, वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति कहीं से भी वस्तुएं मँगाकर कर सकता है।
8. **आर्थिक विकास में तेजी-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण प्राकृतिक साधनों के विदोहन को प्रोत्साहन, बडे पैमाने पर उत्पत्ति तथा विस्तृत बाजार और उत्पादनों के व्यापार आदि से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उत्पादन, उपभोग एवं व्यापार मे वृद्धि से आर्थिक विकास में तेजी आती है । उत्पादन, रोजगार, आय तथा उपभोग बढ़ता है ।
9. **उत्पादन की विधियों में सुधार-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उत्पादकों में प्रतियोगिता बढ़ती है और प्रत्येक उत्पादक कम से कम लागत पर अधिक उत्पादन के लिए आधुनिकतम उत्पादन विधियाँ अपनाने का प्रयास करता है । प्रत्येक देश के उत्पादकों को विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता का भय रहता है । इससे उत्पादन विधियों में सुधार, उत्पादन में कुशलता, उत्पादन मे वृद्धि और लागत मे कमी होती है । एकाधिकार को ठेस पहुँचती है।
10. **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं भ्रातृत्व में वृद्धि-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विभिन्न देशों की पारस्परिक निर्भरता बढ़ती है और वे एक-दूसरे के प्रति सहयोग एवं सद्भावना के साथ भ्रातृत्व भावना को बढ़ाते हैं ।
11. **सांस्कृतिक सम्बन्ध एवं सभ्यता का विकास-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों को आर्थिक दृष्टि से निकट लाता है। उनमें पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना बढ़ाता है । इससे लोग एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं और संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का सुअवसर प्राप्त होता है ।
12. **एकाधिकारी प्रवृत्ति पर रोक-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विदेशी प्रतिस्पर्द्धा बनी रहती हैं । और इस कारण कोई भी उत्पादक एकाधिकार प्राप्त करने में असमर्थ रहता है । इससे एकाधिकार के शोषण से मुक्ति मिलती है ।
13. **उत्पादन साधनों का सर्वोत्तम उपयोग-** जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण श्रम-विभाजन एवं विशिष्ठीकरण होता है तथा प्रत्येक उत्पादक न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के लिए साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करता है तो स्वभावतः उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उसी क्षेत्र मे प्रयुक्त किया जाता है जहाँ उसकी सीमान्त उत्पत्ति अधिकतम हो । इससे

उत्पादन के प्रत्येक साधन का सर्वोत्तम उपयोग होने की प्रवृत्ति बढती है और उसे राष्ट्रीय लाभांश में पर्याप्त एवं उचित पारिश्रमिक मिलता है ।

14. **विदेशी मुद्रा अर्जन-** एक देश अपनी उत्पादित वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा उन सब देशों को है, जिन्हें आवश्यकता है । इससे निर्यातक देश को विदेशी मुद्रा प्रान्त होती है और आवश्यकता से अधिक उत्पादन का भी सदुपयोग हो जाता है ।

15. अन्य लाभ-

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कुल मानव कल्याण में वृद्धि होती है, क्योंकि देश के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग, श्रम-विभाजन एवं विशिष्ठीकरण उत्पादन में वृद्धि करते हैं । कम लागत पर उपभोक्ताओं को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उपभोग का मौका मिलता है,

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय रोजगार में वृद्धि करता है

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता से तकनीकी विकास को बढ़ावा मिलता है ।

(iv) आर्थिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है ।

(v) राजनीतिक सुदृढ़ता बनी रहती है ।

(vi) उद्योगों के लिए कच्चे माल की उपलब्धता बनी रहती है ।

निष्कर्ष - उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवसाय क महत्व केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं होता है बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् राजनैतिक दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता सिद्ध साबित हुई है । लेकिन इसके बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि रहित नहीं माना जा सकता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से राष्ट्रों को अनेक प्रकार की हानियों / कठिनाइयों को भी सामना करना पडता हैं ।

1.8 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के दोष / हानियाँ

आपको समझना भी चाहिए कि व्यापार से अनेक लाभ प्राप्त होते हुए भी हानियाँ भी भयंकर होती हैं । इस कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियन्त्रण की प्रवृत्ति को बल मिलता है । मुख्य हानियाँ इस प्रकार है:-

1. **विदेशी प्रतियोगिता के कारण घरेलू उद्योगों का पतन-** प्रतिस्पर्द्धा तब तक अच्छी तरह लाभप्रद मानी जा सकती है जब तक प्रतियोगिता करने वाले राष्ट्रो का आर्थिक विकास समान स्तर पर हो । वास्तव में विश्व मैं-ऐसे राष्ट्र अधिक हैं जो पिछडे हैं और कुछ ही विकसित राष्ट्रो को विदेशी बाजार में अप्रत्याशित लाभ प्राप्त होते हैं । अविकसित पिछडे राष्ट्रो के घरेलू उद्योग विकसित राष्ट्रो के आधुनिक उद्योगो की प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं पाते । उनका पतन प्रारम्भ हो जाता है । ब्रिटिश शासन काल मे इंग्लैण्ड मे निर्मित माल का अत्यधिक मात्रा में आयात किये जाने से ही भारत के घरेलू उद्योगो का पतन हुआ ।
2. **राशिपतन एवं गलाघोंट प्रतिस्पर्द्धा-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विकसित देशों मे विदेशी बाजार हथियाने का लालच उत्पन्न हो जाता है और ये परस्पर प्रतिस्पर्द्धा में इतने उलझ जाते हैं कि कभी-कभी अपनी वस्तु को लागत से भी कम कीमत में बेचने को तत्पर हो जाते हैं । इससे घरेलू उद्योगों का पतन तो होता ही है, इसके साथ-साथ एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ पनपने से आर्थिक शोषण के प्रयास प्रबल होते हैं ।

3. **प्राकृतिक साधनों का दुरूपयोग-** किसी भी देश में प्राकृतिक साधनो की एक सीमा होती है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण पिछडे राष्ट्रों के प्राकृतिक साधनों का उपयोग विकसित राष्ट्र बड़े पैमाने पर करते हैं जिससे इन साधनों के भण्डार ही समाप्त हो जाते हैं जैसे भारत के अभ्रक और मैंगनीज का अधिकांश उपयोग अभी तक विदेशियों द्वारा हो रहा है जबकि अब हमे भी अपने उद्योगो में बडी मात्रा में इसकी आवश्यकता रहेगी । लेकिन अब तक अत्यधिक अभ्रक भण्डार खाली हो चुके हैं ।
4. **उपभोक्ताओं की आदतों पर प्रतिकूल प्रभाव-** जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे उपभोक्ताओं को अनेक प्रकार की सस्ती वस्तुएं मिल जाती हैं वहाँ साथ-साथ में हानिकारक वस्तुओं के आयात से देश के उपभोक्ताओं मे भी उनका उपभोग बढ़ सकता है । जैसे, आजकल भारत में विदेशों से आयातित शराब के उपभोग की प्रवृति तथा अमेरिका के बीटल्स को भारत के गाँजा और भॉग पीने की आदत । 19वीं शताब्दी में चीन के लोग की अफीम के आदी हो गये थे । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देशवासियों के स्वास्थ्य, चरित्र एवं आदतो पर बुरा प्रभाव डालता है ।
5. **देश का एकांगी एवं असन्तुलित आर्थिक विकास-** अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन मे विशिष्टीकरण अपनाता है जिनमें वह सर्वाधिक सक्षम एवं कुशल है तथा अधिक लाभ प्राप्त करता है । इससे देश की अर्थव्यवस्था का सर्वागीण विकास न होकर एकांगी विकास ही होता है । यह देश में राजनीतिक सकट एवं युद्धकाल मे घातक सिद्ध होता है ।
6. **प्राथमिक उद्योगों वाले देशों को क्षति-** अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मे विशिष्ठीकरण से कृषि प्रधान अथवा प्राथमिक उद्योग प्रधान (पशुपालन, खनिज खोदना, चाय-बागान) देशों मे उत्पादन की मात्रा बढ़ाने पर सीमान्त उत्पादन हास नियम लागू होता है जबकि औद्योगिक प्रधान देशों के औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, इससे औद्योगिक-प्रधान देशों को कृषि-प्रधान देशों की अपेक्षा लाभ मिलते हैं और व्यापार शर्तें कृषि-प्रधान देशों के प्रतिकूल रहती हैं '
7. **प्रदर्शन प्रभाव के दोष-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विकासशील देशों के समृद्ध परिवारों पर प्रदर्शन प्रभाव पडता है । वे अपने साधनों को पूँजी निर्माण मे न लगाकर विदेशियों के समान उत्कृष्ट उपभोग की ओर अग्रसर होते हैं, इससे देश के विकास मे बाधा पड़ती है और गरीबों तथा अमीरों के जीवन-स्तर मे अन्तर निराशा उत्पन्न करता है ।
8. **उच्च कोटि की वस्तुओं से देशी उपभोक्ता वंचित-** उच्च कोटि की वस्तुओं का प्रायः निर्यात किया जाता है और आन्तरिक उपभोग के लिए प्रायः घटिया माल ही बचता है । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण देश के उपभोक्ताओं को उच्च कोटि की वस्तुओं के उपभोग से वंचित रहना पडता है ।भारत से उच्च कोटि का मेवा निर्यात किया जाता है ।
9. **राजनीतिक एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचार-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बडी-बडी व्यापारिक कम्पनियों के एकाधिकार जमाने, क्रय-विक्रय के सौदे तय करने तथा अत्यधिक लाभ

अर्जन हेतु रिश्वत, कमीशन आदि भ्रष्ट तरीके राजनीतिक एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचार को बढ़ाते हैं।

10. **पिछडे राष्ट्रों में रोजगार -**वृद्धि में बाधा- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण पिछडे राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के उत्पादन की प्रतिस्पर्द्धा मे नहीं टिक पाते, अतः उसके निर्यात एवं उत्पादन स्तर नीचे होते हैं । माँग की पूर्ति आयातों से की जाती है, अतः रोजगार नहीं बढ पाता व बेरोजगारी बढ़ती है ।
11. **युद्धकाल में कठिनाई-** यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से राष्ट्रीय संकट और युद्धकालीन परिस्थितियों का 'मुकाबला करना सम्भव होता है, पर अगर युद्ध निर्यातक देशों से ही हो जावे या दुश्मन चारों ओर से नाकेबन्दी कर ले तो विदेशों पर निर्भरता घातक सिद्ध होती है । इसके अलावा युद्धकाल में दूसरे राष्ट्रो पर निर्भरता खतरे से खाली नहीं मानी जाती।
12. **अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा संघर्ष-** जब तक अंतरराष्ट्रीय व्यापार मे शोषण की प्रवृत्ति नहीं होती तब तक सद्भावना और सहयोग बढ़ता है, पर जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे शोषण की प्रवृत्ती प्रबल होने लगती है फलस्वरूप शोषित एवं शोषक दोनो मे द्वेष के अंकुर पनपते लगते हैं तब ये इतने अधिक द्वेष मे परिवर्तित हो सकते हैं कि युद्ध को आमन्त्रण दे सकते हैं। 1930 की आर्थिक मन्दी के बाद विभिन्न देशों मे पारस्परिक द्वेष बढ़ता गया, यहाँ तक कि सन् 1939 में वह द्वितीय विश्व-युद्ध के रूप मे परिणित हो गया । इंग्लैण्ड को साम्राज्य-स्थापना मे कितने ही संघर्ष करने पड़े ।
13. **अन्यः-**
    (i) प्रतिकूल व्यापारिक शर्तों से क्षति की सम्भावना बनी रहती है ।
    (ii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राजनीतिक दासता को जन्म देता हैं ।
    (iii) अति-उत्पादन या कम-उत्पादन का भय बना रहता हैं ।
    (iv) आन्तरिक उपभोग मे कमी आती है ।

उपर्युक्त दोष एवं हानियाँ इतनी भयावह हैं कि प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते हैं । आर्थिक स्वावलम्बन पर जोर देते हैं।

निष्कर्षः- उपर्युक्त लाभ हानि की विवेचना से आपको यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों की तुलना मे हानियाँ अधिक है । वस्तुतः यदि सतर्कता के साथ विवेकपूर्ण ढंग से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रभावी नियन्त्रण रखा जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश के सर्वागीण विकास और आर्थिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर विश्व बंधुत्व की भावना को प्रेरित कर सकता है । इससे विश्व शान्ति की स्थापना का उद्देश्य भी पूरा हो सकता है ।

1.9 सारांश

उपर्युक्त विवेचना से आप इस निष्कर्ष पर पहुँच गये होंगे कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय व्यापार का विश्व अर्थव्यवस्था मे आर्थिक, सामाजिक एवम् राजनीतिक दृष्टि से अपना विशेष स्थान बना हुआ । हर क्रिया के लाभ-हानि दोनों पक्ष होते हैं । उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भी लाभ-हानि दोनो की सम्भावना रहती है । लेकिन विवेक पूर्ण क्रिया के सम्पादन से हानियों से बचा जा सकता है । वर्तमान युग मे अंतरराष्ट्रीय व्यापार न केवल आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त एवम्

न्यायोचित है बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी इसकी न्याय शीलता साबित हो रही है । इसमें विश्व बंधुत्व की भावना का विकास होता है जो विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त करता है । इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है ।

1.10 शब्दावली

एल.पी.जी (LPG) - उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार - दो राजनैतिक क्षेत्रों के बीच सम्पादित व्यापार

1.11 स्वपरक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ / अभिप्राय स्पष्ट कीजिये ।
2. आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे क्या-क्या समानताएँ हैं?
3. आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्या अन्तर हैं ?
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आर्थिक आवश्यकता पर प्रकाश डालिये ।
5. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार बिन्दुओं को समझाइये ।

1.12 सन्दर्भ ग्रंथ

1. एम. सी. वैश्व - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
2. वी. सी. सिन्हा - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
3. R.H.Heller - International Trade
4. Bestilohlin. - International and Inter-regional Trade
5. F.W. Taussing - International Trade

इकाई- 2: व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन
(Balance of Trade and Balance of Payment)

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 ऐतिहासिक अवलोकन

2.3 भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन का अर्थ

2.4 भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन का स्वरूप

2.5 व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन का महत्व

2.6 व्यापार सन्तुलन तथा भुगतान सन्तुलन में अन्तर

2.7 अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार संतुलन / भुगतान सन्तुलन के सापेक्षिक प्रभाव

2.8 प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के कारण

2.9 प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को सुधारने की आवश्यकता

2.10 प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को सुधारने के उपाय /तरीके

2.11 सारांश

2.12 उदाहरण

2.13 शब्दावली

2.14 स्वपरख प्रश्न

2.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

- भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन के आशय को स्पष्ट करते हुये इनके अन्तरों से अवगत करवाना ।
- भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन की आवश्यकता, स्वरूप एवं महत्व की जानकारी प्रदान करना ।
- भुगतान सन्तुलन की प्रमुख मदों एवं उसके महत्व की जानकारी करवाना ।
- भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के कारण एवं असाम्यता को दूर करने के उपाय बताना।
- व्यापार सन्तुलन का देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव से अवगत करवाना ।
- व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन के सापेक्षिक महत्व से भी अवगत करवाना ।

2.1 प्रस्तावना

उदारीकरण और वैश्वीकरण के आधुनिक युग मे कोई राष्ट्र शेष विश्व के अन्य राष्ट्रो के साथ आर्थिक व्यवहार किये बिना नहीं रह सकता है क्योकि कोई भी देश पूर्णरूप से स्वावलम्बी नहीं हो सकता है, उसे वस्तुओं एवं सेवाओं के लिये अन्य देशों पर निर्भर रहना पडता है । जिसके कारण

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूँजी प्रवाहों का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है, जिसका किसी भी राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर व्यापक और गहरा प्रभाव पडता है । इनको ठीक से समझने के लिये व्यापार सन्तुलन के साथ भुगतान सन्तुलन को समझना आवश्यक है क्योंकि व्यापार सन्तुलन किसी भी राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों की एक अधूरी तस्वीर पेश करता है जबकि भुगतान सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन की सम्पूर्ण तस्वीर को स्पष्ट करता है ।

अत: प्रतिष्ठित आर्थिक नीतियों एवं औद्योगिक देशों के अनुभव पर आधारित विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों को जो लाभ प्राप्त होता है उससे आर्थिक विकास को गति प्राप्त होती है । विकास व व्यापार के अन्तर्निहित सम्बन्धों की अभिव्यक्ति भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन द्वारा की जा सकती है ।

साधारण शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक लेन देन किसी भी राष्ट्र के लिये न केवल अपरिहार्य है, अपितु उसकी प्रगति के परिचायक भी है । प्रत्येक राष्ट्र द्वारा कुछ वस्तुओं का आयात किया जाता है तथा कुछ का निर्यात । अन्य शब्दों में किसी देश के कुल निर्यातों व कुल आयातों के अन्तर को ही व्यापार सन्तुलन कहा जाता है । एक राष्ट्र द्वारा शेष राष्ट्रों के साथ एक निश्चित समयावधि में किये गये समस्त आर्थिक लेन-देनों का अभिलेख रखा जाना भी आवश्यक है और भुगतान सन्तुलन एक ऐसा ही व्यवस्थित अभिलेख है जो एक देश द्वारा विश्व के अन्य देशों के साथ एक निश्चित समयावधि में किये गये समस्त आर्थिक लेन-देनों को प्रदर्शित करता है भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन का विस्तृत विवरण इकाई में आगे किया गया है।

2.2 ऐतिहासिक अवलोकन

भुगतान एवं व्यापार संतुलन का विचार अत्यन्त संकीर्ण अर्थों में चौदहवीं शताब्दी में वाणिकवादी (Nationalism) वाणिज्यवादी विचार का केन्द्र बिन्दु था । आर्थिक क्षेत्र में व्यापार व वाणिज्य का महत्व बढ़ने लगा था । एक नया वर्ग उत्पन्न होने लगा था, जिसे व्यापारी कहा जाने लगा था । व्यापारी व राजा के हित समान थे क्योंकि राजा को धन व शक्ति की आवश्यकता केवल अपने लिये ही नहीं वरन् अपनी जनता के कल्याण के लिये भी थी और व्यापार को ही इस उद्देश्य की पूर्ति का एक उत्तम स्त्रोत माना गया था ।

15 वी शताब्दी के अन्त तक विश्व के आर्थिक ढाँचे में काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे । घरेलू अर्थव्यवस्था (Domestic Economy) के स्थान पर विनिमय अर्थव्यवस्था (Exchange Economy) ने जन्म लिया तथा इसका महत्व बढ़ने लगा था । विनिमय व व्यापार की प्रगति से मुद्रा की आवश्यकता भी बढ़ी । विज्ञान व तकनीक का निरन्तर विकास हुआ । नये खोज व अविष्कार होने लगे थे जिससे जहाज अधिक सुविधा जनक हो गये थे और नये महाद्वीपों की खोज होने लगी थी और जिसके परिणामस्वरूप व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होने लगा था ।

आर्थिक दृष्टि से व्यापार व वाणिज्य का विस्तार तथा राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिये मुद्रा व बहुमूल्य धातुओं पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाने लगा था । वाणिकवादियों का यह विश्वास था कि स्वर्ण, चांदी व अन्य बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त करने का एक मात्र साधन विदेश व्यापार ही था । वाणिज्यवादी लेखकों ने कहा था कि यदि आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक होते हैं तो यह

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्र अपने व्यापार से बहुमूल्य धातुओं का आयात करेगा व इस प्रकार राष्ट्र- के कोषों में वृद्धि होगी ।

कुछ वाणिज्यवादी लेखकों का विचार था कि हर व्यक्तिगत सौदे से राष्ट्र को लाभ प्राप्त होना चाहिये परन्तु किसी ने भी इस बात को स्पष्ट नहीं किया कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन से उनका आशय संपूर्ण व्यापार के संतुलन की अनुकूलता से था या वे प्रत्येक देश से होने वाले व्यापार के संतुलन अनुकूलता को अलग-अलग लेते थे ।

वाणिज्यवादी साहित्य में अनुकूल व्यापार सन्तुलन सम्बन्धित कुछ अन्य विचार भी महत्वपूर्ण हैं "जैसे निर्यातों का मूल्य अधिक से अधिक होना चाहिये," कच्ची सामग्री के निर्यात को सीमित रखना चाहिये विलासिता की वस्तुओं का आयात कम होना चाहिये तथा यह लेखक व्यापार सन्तुलन की अदृश्य मदों (Invisible Item) से भी परिचित थे । इन मदों में जहाजों द्वारा माल ढोने से प्राप्त होने वाली आय,बीमा, विदेशों में दूतावासों तथा सेना पर होने वाला व्यय इत्यादि सम्मिलित किये जाते थे ।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वाणिज्यवादी अनुभवों व नीतियों को नया जीवन प्राप्त हुआ । युद्धकाल में व्यक्तिगत, सामाजिक व आर्थिक स्वतन्त्रताओं को स्थगित कर दिया था जिससे सिद्धान्त व व्यवहार में युद्ध ने राष्ट्रीय संरक्षणवाद को जन्म दिया । यह सब होने के बाद भी विभिन्न देशों ने पारस्परिक निर्भरता, वाणिज्यवादी स्वावलंबन, शक्ति के आदर्शों व अन्तराष्ट्रीय शांति के हित में सहयोग की आवश्यकता अनुभव करते हुए लीग आफ नेशन (League of Nation) की स्थापना की थी ।

1927 में लीग आफ नेशन्स ने 17 देशों के भुगतान सन्तुलन के प्रथम भाग को प्रकाशित किया । सन् 1938 में एक उपसमिति की स्थापना लीग ने की थी, जो भुगतान सन्तुलन की सांख्यिकी को क्रमबद्ध करने य इसकी तकनीक में सुधार के उपाय निर्दिष्ट करता था । दूसरे विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के कारण यह उपसमिति अपना कार्य पूर्ण नहीं कर पाई थी ।अत: 1945 में इसकी पुन: स्थापना की गई थी जिसे यूनाइटेड नेशन्स (United Nations) द्वारा सन् 1947 में प्रकाशित किया गया था । भुगतान सन्तुलन की विषय वस्तु पर यह रिर्पोट महत्वपूर्ण थी जिसमें क्रियाविधि (Methodology) पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया था ।

1947 में अन्तर्राष्ट्रीय सहभागिता; विनिमय दरों के प्रबन्ध व भुगतान सन्तुलन की असाम्यावस्था के निवारण हेतु उपयुक्त नीतियों को निर्दिष्ट करने का भार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने वहन किया था । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने सदस्य देशों की भुगतान सन्तुलन व व्यापार सन्तुलन सम्बन्धित समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाने लगा था एवं ऐसी नीतियाँ प्रस्तावित की जो सदस्य देशों को समायोजन की अन्य कठोर नीतियों के विकल्प प्रदान करती थी।

अन्त में कह सकते है कि सन् 1947 के पश्चात विश्व में भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन का महत्व -बढ़ गया था तथा विश्व की आर्थिक विकास की गति में तीव्रता. आई ।

2.3 भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन का अर्थ

भुगतान सन्तुलन का अर्थ : किसी देश का भुगतान सन्तुलन उसके किसी दिये हुये वर्ष में बाहर के देशों से किये गये आर्थिक लेन-देनों का व्यवस्थित रिकार्ड है । यह देश के शेष दुनिया के साथ

आर्थिक सम्बन्धों की प्रकृति तथा आयामों का सांख्यिकीय रिकार्ड होता है । दूसरे शब्दों में भुगतान सन्तुलन एक ऐसा व्यवस्थित अभिलेख है जिसमें एक निश्चित समयावधि में एक देश के द्वारा शेष विश्व को किये जाने वाले कुल भुगतानों और उससे आने वाली कुल प्राप्तियों को दर्शाया जाता हैं ।

भुगतान सन्तुलन लेखा दोहरी प्रविष्टि (Double Entry) बहीखाता के सिद्धान्त पर बनाया जाता है । जिसके 'सक पक्ष में उन समस्त मदों को प्रदर्शित किया जाता है जिनसे एक देश को भुगतान प्राप्त होता है तथा दूसरे पक्ष में उन समस्त मदों को प्रदर्शित किया जाता हे जिनके लिये उसे अन्य देशों को भुगतान करना पड़ता है । सामान्यत: व्यापार - लेखांकन डेबिट प्रविष्टियां (-) बैलेन्स शीट के बाई और तथा क्रेडिट प्रविष्टियां (+) दाई और दिखाई जाती - जबकि भुगतान सन्तुलन लेखांकन में क्रेडिट प्रविष्टियां बैलेन्स शीट के बाई और तथा डेबिट प्रविष्टियां दाई और दिखाने की प्रथा है । इन क्रेडिट तथा डेबिट मदों को देश के भुगतान सन्तुलन लेखे में दोहरी प्रविष्टि बही खाता के सिद्धान्तानुसार अनुलम्ब रूप में दिखाया जाता है । क्षैतिज रूप से उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता हैं : चालू लेखा (Current Account), पूंजी लेखा (Capital Account) और सरकारी भुगतान लेखा (Official Settlement Accounts) निम्न को तालिका 2.1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है-

तालिका 2.1

भुगतान सन्तुलन लेखा (Balance of Payment A/c)

(+) Credit/Receipt	**(-) Debit/Payment**
1. Current account (चालू लेखा)	
Export (निर्यात)	**Import (आयात)**
1. Goods	1. Goods
2. Services	2. Service
3. Transferable Payment	3. Transferable Payment
2. Capital Account (पूंजी लेखा)	
1. Received loan from foreign countries	1. Provide loan to foreign countries
2. Direct Investment by foreign countries	2. Investment in foreign countries
3. Office Settlements Accounts (सरकारी भुगतान लेखा)	
1. Inflow is special accounts	1. Outflow in special accounts
2. Errors and Misclleonous	

भुगतान सन्तुलन के अर्थ को और अधिक स्पष्ट तथा बोधगम्य बनाने की दृष्टि से इस क्षेत्र के कतिपय लब्ध प्रतिष्ठित अर्थ विशेषज्ञों की परिभाषाएँ नीचे दी जा रही है :

बो-सोडर्स्टन (Bo-Soderston) के अनुसार "भुगतान सन्तुलन किसी देश के लिये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों में प्राप्तियों और भुगतानों को दर्ज करने का तरीका मात्र हैं ।

हेबरलर (Hebler) के अनुसार "भुगतान सन्तुलन शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण मांग एवं पूर्ति सम्बन्धी परिस्थिति (विदेशी मुद्रा की) के अर्थ में किया जाता है और यही अर्थ है जिसमें भुगतान सन्तुलन की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विवेचना में सर्वाधिक प्रयोग होती है ।"

बेनहम (Benhem) के अनुसार "भुगतान सन्तुलन एक निश्चित समयावधि में एक देश का शेष विश्व के साथ सम्पन्न हुये मौद्रिक व्यवहारों का अभिलेख है ।"

वाल्टर क्रास, (Walter Cross) के अनुसार "भुगतान सन्तुलन किसी देश के निवासियों ओर शेष विश्व के निवासियों के बीच, किसी निश्चित समयावधि में पूर्ण किये गये समस्त आर्थिक व्यवहारों का एक व्यवस्थित अभिलेख है ।"

उपर्युक्त दी गयी परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि भुगतान सन्तुलन शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थशास्त्री भिन्न-भिन्न रूपों में करते हैं । सामान्य रूप में भुगतान सन्तुलन निम्नलिखित तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है ।

1. एक निश्चित समयावधि में एक देश द्वारा शेष विश्व से प्राप्त कुल राशि और शेष विश्व को किये गये कुल भुगतानों से है ।
2. यह आय खाते में भुगतानों का सन्तुलन प्रदर्शित करता हे । इस अर्थ से भुगतान सन्तुलन "खाते का सन्तुलन"(Balance of Accounts) कहलाता है।
3. यह देश विशेष के अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान स्पष्ट करता है, इसलिये इसे अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सन्तुलन (Balance of International Indebtedness) भी कहते हैं ।

प्रो. हेबरलर के अनुसार भुगतान सन्तुलन निम्नलिखित पाँच अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है.

1. एक निश्चित समयावधि में एक देश द्वारा विदेशी मुद्रा की क्रय व विक्रय की मात्रा के रूप में ।
2. एक विशेष समयावधि में एक देश द्वारा विदेशों को किये गये भुगतान तथा प्राप्त भुगतान के रूप में ।
3. आय जाते के रूप में यह देश के विदेशी व्यापार से सम्बन्धित आय को व्यक्त करता है । इसमें ब्याज सन्तुलन एवं व्यापार व सेवाओं के सन्तुलन सम्मिलित होते है ।
4. अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता के अर्थ में भुगतान सन्तुलन देश के दायित्वों और दावों (Liabilities and claims) का विवरण होता है ।
5. विदेशी मुद्रा की कुल माँग एवं पूर्ति की परिस्थिति के रूप में भुगतान सन्तुलन एक देश के समस्त आर्थिक व्यवहारों के उन प्रभावों से सम्बन्धित है जो विनिमय दर को प्रभावित करते हैं ।

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि भुगतान सन्तुलन का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ किसी देश विशेष की विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण माँग एवं पूर्ति की परिस्थिति से है । भुगतान सन्तुलन को और स्पष्ट रूप से समझने हेतु भुगतान संतुलन विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

तालिका 2.2

भुगतान संतुलन विवरण (Schematic Balance of Payment)

Items	Debit		Credit
A. Current Account	(-)		(+)
1. Merchandise Trade	(-)		(+)
2. transportation	(-)		(+)
3. Tourist expenditure	(-)		(+)
4. Investment income, free royalty & other services	(-)		(+)
5. Military and other Expenditure	(-)		(+)
Total (1-5)	(-)	=	(+)
B. Unilateral Transfer	(-)		(+)
6. Private remittance	(-)		(+)
7. Govt transfer	(-)		(+)
Total (1-7)	(-)	=	(+)
C. Capital Account Increase in Assets/Reduction In Liabilities	(-)		(+)
8. Foreign Investment: Direct an Portfolio	(-)	=	(+)
D. Balancing item Increase in assets/reduction in liabilities			
9. Short term official capital Movements	(-)	=	(+)
10. Gold & International Capital	(-)	=	(+)
Total (1-10)	(-)		(+)

व्यापार सन्तुलन का अर्थ:

उदारीकरण और वैश्वीकरण के आधुनिक युग में प्रत्येक राष्ट्र द्वारा कुछ वस्तुओं का आयात तथा कुछ का निर्यात किया जाता है । साधारण शब्दों में व्यापार सन्तुलन निर्यात और आयात वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य का अन्तर होता है । इसमें भुगतान सन्तुलन लेखा के क्रेडिट और डेबिट पक्षों की पहली दो मदें आती है । इसे चालू लेखा का भुगतान शेष कहते हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यापार-सन्तुलन की परिभाषा यह दी है कि व्यापार सन्तुलन व्यापारिक माल के निर्यातों तथा आयातों के मूल्य का अन्तर होता है ।

व्यापार सन्तुलन के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ विद्वानों द्वारा दी गई इसकी परिभाषाएँ नीचे दी जा रही है.

1. **बेनहम (Benhem):-** "एक निश्चित अवधि में किसी देश के निर्यातों के मूल्य एवं आयातों के मूल्य के सम्बन्ध को ही व्यापार सन्तुलन कहते हैं । '
2. **प्रोफेसर मीड (Prof. Meade)** 'देश की राष्ट्रीय आय के दृष्टिकोण से व्यापार सन्तुलन को परिभाषित करने का यह ढंग गलत है और कम आर्थिक महत्व रखता है । समीकरण रूप में भुगतान सन्तुलन है Y = C+I+G+(X-M) जिनमें वे सभी लेन देन शामिल है जो राष्ट्रीय आय को उत्पन्न अथवा समाप्त करते है ।"

   Y = National Income

   C= Consume Expenditure

   I = Investment Expenditure

   G = Government Expenditure

   X = Exports of Goods & Service

   M = Imports of Goods & Services

   व्यंजक (X-M) व्यापार सन्तुलन को व्यक्त करता है ।

   यदि X-M = o है तो व्यापार सन्तुलन संतुलित होता है ।

   X > M; तो व्यापार सन्तुलन अनुकूल होता है ।

   X < M; तो व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल होता है ।
3. **डब्लू एम. स्केमैल (W.M. Scammel)** के अनुसार "व्यापार सन्तुलन एक देश के निवासियों द्वारा विदेशियों को बेची गई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य तथा उस देश के निवासियों द्वारा विदेशियों से खरीदी गई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों का अन्तर होता है । '

   उपर्युक्त परिभाषाओं ये यह स्पष्ट है कि व्यापार सन्तुलन किसी निश्चित समयावधि में एक देश द्वारा विश्व के सभी शेष देशों की किये गये, कुल निर्यात मूल्यों के समग्र योग तथा उसके द्वारा शेष विश्व से किये गये कुल आयात मूल्यों के समग्र योग के अन्तर को कहते हैं ।

   भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य आयात - निर्यात मदों को ही सम्मिलित किया जाता है जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार व्यापार सन्तुलन में दृश्य एवं अदृश्य व्यापार दोनों को सम्मिलित किया जाता है ।

   व्यापार सन्तुलन का गणितीय सूत्र द्वारा प्रस्तुतीकरण :

   B T= (X-M)

   B T = Balance of Trade

   X = Total Export Value (Price)

   M = Total Import Price

   व्यापार सन्तुलन को एक और निम्नलिखित सूत्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है :

   $i = \Sigma xt - \Sigma mt$

   यहाँ i = Balance of trade for

Σxt= Total Export Price for Special year

Σmt = Total Import Price for Special year

इस प्रकार दोनों ही सूत्रों से यह साष्ट है कि व्यापार सन्तुलन को ज्ञात करने के लिये वर्ष विशेष की अवधि में एक देश के कुल. निर्यात मूल्यों में से उसके कुल आयात मूल्यों को घटा दिया जाता है अर्थात एक राष्ट्र के दृश्य निर्यातों और दृश्य आयातों का अन्तर ही व्यापार सन्तुलन कहलाता है ।

2.4 भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन का स्वरूप

किसी भी देश का भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन निम्नलिखित तीन स्थितियों में से किसी भी एक स्थिति में हो सकता है

तालिका 2.3

व्यापार सन्तुलन / भुगतान सन्तुलन (Balance of Trade) / (Balance of Payment)

अनुकूल	प्रतिकूल	साम्य
(Favourable)	**(Unfavourable)**	**(Equilibrium)**

1 भुगतान सन्तुलन के स्वरूप.

साम्य भुगतान सन्तुलन : भुगतान सन्तुलन में साम्य, अतिरेक या घाटा रहता ही है । जब B = Rf = Pf हो तो हम कह सकते है कि भुगतान सन्तुलन साम्य की स्थिति में है । यहां B को भुगतान सन्तुलन R.A को विदेशियों से प्राप्तियों द्वारा और Pf को विदेशियों को किये गये भुगतानों के रूप में व्यक्त किया गया है । यदि निवल (net) विदेशी उधार दान तथा विदेशों में निवेशों को लिया जाये, तो लोचदार विनिमय दर निर्यातों को आयातों से बढ़ा देती है । अन्य करेन्सियों के दामों में घरेलू करेन्सी का मूल्य घट जाता है । आयातों की सापेक्षता से निर्यात अधिक सस्ते हो जाते हैं । इसे समीकरण के रूप में दिखाया जा सकता है.

X+B = M+If

X = Export If = Foreign Investment

M = Import B = Loan from foreign countries

अथवा X-M = If - B

अथवा (X-M) - (If - B) = O

यह समीकरण बताता है कि भुगतान सन्तुलन साम्य में है ।

चालू लेखा के धनात्मक शेष का उसके पूंजी लेखा का ऋणात्मक शेष पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति कर देता है और उलट भी । लेखांकन की दृष्टि से भुगतान-सन्तुलन हमेशा साम्य में होता है । इसे निम्नलिखित समीकरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है ।

C+S+T = C+I+G+(X-M)

अथवा Y = C+I+G+(X-M)

यहां C=Consume Expenditure

S=Domestic Saving

T=Tax Received

C+S+T= सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNI) अथवा (Y) National Income हैं ।

लेखांकन की दृष्टि से, यह आवश्यक है कि कुल घरेलू व्यय (C+I+G) और चालू आय (C+S+T) बराबर हो और फिर घरेलू बचतें (Sd) और घरेलू निवेश (Id) भी बराबर होने चाहिये । इसी तरह आवश्यक हैं कि चालू खाते में निर्यात अतिरेक (X>M) को निवेश से बढ़ी हुई घरेलू बचतें (Sd>Id) क्षतिपूर्ति कर दे । इस प्रकार, लेखांकन की दृष्टि से, भुगतान सन्तुलन हमेशा साम्य में होता है क्योंकि यह दोहरी लेखा पद्धति पर आधारित होता है अर्थात भुगतान सन्तुलन के भुगतान तथा प्राप्तियां दोनों पक्ष सदैव बराबर होते है । (R=P) ।

अनुकूल भुगतान सन्तुलन : जब Rf-Pf>0 तो इसका मतलब है कि विदेशियों को किये गये भुगतानों की अपेक्षा विदेशियों से हुई प्राप्तियां अधिक है और भुगतान सन्तुलन में अतिरेक (Surplus) है भुगतान सन्तुलन की अनुकूलता को मापने के तीन तरीके है । प्रथम बुनियादी शेष (Basic Balance) होता है । जिसमें चालू लेखा शेष और दीर्घावधिक पूंजी लेखा शेष शामिल है । दूसरा निवल तरलता शेष (Net Liquidity Balance) है जिसमें बुनियादी शेष तथा अल्पावधिक निजी तरल पूजी शेष शामिल है । तीसरा, सरकारी भुगतान शेष (Official Statement Balance) है जिसमें कुल निवल तरल शत तथा अल्पावधिक निजी तरल पूंजी शेष शामिल है ।

प्रतिकूल भुगतान: जब Rf-Pf<O अथवा Rf<Pf तो भुगतान सन्तुलन में घाटा है तथा यह प्रतिकूल स्थिति में है क्योंकि विदेशों से प्राप्त भुगतान, विदेशों से हुई प्राप्तियों से अधिक है । नीचे प्रत्येक शेष, घाटे का अलग-अलग चित्र प्रस्तुत किया गया है जिसके द्वारा भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल स्वरूप को समझना आसान हो जाता है ।

तालिका 2.4

व्यापार शेष ----------	(a)
हस्तान्तरण भुगतान शेष ----------	(b)
चालू लेखा शेष ----------	C=(a+b)
दीर्घावधिक पूंजी शेष ----------	d
1. बुनियादि शेष ----------	e= (c+d)
अल्पावधिक निजी अतरल पूंजी ----------	f
SDRs का आवंटन ----------	g
अशुद्धियां और भूल----------	h
2. निवल तरलता शेष ----------	i=(e+f+g+h)
अल्पावधिक निजी तरल पूंजी शेष ----------	j
3. सरकारी भुगतान शेष ----------	k=(i+j)

जो मदें एक विशिष्ट शेष में शामिल को जाती हैं वे रेखा के ऊपर रखी जाती है और जो मदें निकाल दी जाती है वे रेखा के नीचे रखी जाती हैं । जो मदें रेखा के नीचे रखी जाती है वे निपटारा (Settlement) अथवा समायोजक (Accommodating) अथवा क्षतिपूरक (Compensatory) मदें कहलाती है । दूसरी ओर, जो मदें रेखा के नीचे रखी जाती है, वे स्वायत्त (Cautonomous) मदें कहलाती है ।

सैद्धान्तिक विश्लेषण में, भुगतान सन्तुलन में प्रतिकूल स्थिति का अर्थ है स्वायत्त मदों का शेष परन्तु इस बात का निर्णय करना कठिन होता है कि कौन-सो मद क्षतिपूरक और कौन सी स्वायत्त हैं । उदाहरणार्थ, तालिका 2.4 में तीनों शेषों में प्रमुख अन्तर इस बात का है कि वह अल्पावधि में पूँजीगतियों को किस प्रकार लेती हैं क्योंकि ये गतियां भुगतान सन्तुलन में घाटे के लिये उत्तरदायी होती हैं । बुनियादी शेष तो अल्पावधि में निजी अतरल पूंजी गतियों को रेखा के नीचे रखता है जबकि निवल तरल शेष उन्हें रेखा के ऊपर रखता है । इसी प्रकार निवल (net) तरल अल्पावधि में निजी तरल पूँजी गतियों को रेखा के नीचे रखता है और सरकारी भुगतान शेष उन्हें रेखा के ऊपर रखता है ।

उपर्युक्त विश्लेषण स्थिर विनिमय दरों की मान्यता पर आधारित है । इस प्रकार स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय शेष में घाटा संभव है परन्तु स्वतन्त्र रूप से कार्यशील विनिमय दरों की प्रणाली के अर्न्तगत विनिमय शेष सिद्धान्त में कोई घाटा नहीं हो सकता है और लेखांकन के नियमानुसार भुगतान-सन्तुलन हमेशा अनुकूल रहता है । भुगतान-सन्तुलन उसी स्थिति में प्रतिकूल रह सकता है जब क्षतिपूरक लेन देन न हो ।

2. व्यापार सन्तुलन के स्वरूप:

साम्य व्यापार सन्तुलन: सामान्यत: जब किसी देश का कुल निर्यात मूल्य (X) उसके कुल आयात मूल्य (M) के बराबर है तो उस स्थिति में हम कह सकते है कि व्यापार सन्तुलन साम्यावस्था में है । निम्न गणितीय सूत्र द्वारा साम्य व्यापार सन्तुलन को प्रकट किया जा सकता है:

BT=(X) = (M)

Or i = (Σxt) = (Σmt)

BT/i = साम्य व्यापार सन्तुलन/Equilibrium balance of Trade

M/Σmt = कुल आयात मूल्य/Total Import x/Σxt = कुल निर्यात मूल्य/Total Export Price

अनुकूल व्यापार सन्तुलन

सामान्य भाषा में किसी देश के कुल निर्यातों का मूल्य उसके कुल आयातों के मूल्य से अधिक होता है, तो व्यापार सन्तुलन उस देश के अनुकूल अथवा पक्ष में होता है । व्यापार सन्तुलन का अनुकूल स्वरूप, देश के पक्ष में होता है और उस देश की आर्थिक दृष्टि अच्छी मानी जाती है । अनुकूल व्यापार सन्तुलन निर्यात आधिक्य (Export Surplus) का प्रतीक है

गणितीय सूत्र के रूप में इसे निम्न सूत्र के रूप में प्रकट कर सकते है:

(+) BT = (X) > (M)

Or (+)i = (Σxt) > (Σmt)

अनुकूल व्यापार सन्तुलन = कुल निर्यात मूल्य > कुल आयात मूल्य

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन

जब किसी देश के कुल निर्यातों का मूल्य (X), उसके कुल आयात मूल्य (M) से कम होता है तो व्यापार सन्तुलन उस देश के प्रतिकूल होता है । आयात आधिक्य (Import Surplus) प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन का प्रतीक होता है । प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन की स्थिति देश के लिये आर्थिक दृष्टि से अच्छी नहीं मानी जाती है । प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन को निम्न सूत्र के रूप में प्रकट कर सकते है ।

(-) BT = (X) < (M)

Or (-)i = (Σxt) < (Σmt)

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन = कुल निर्यात मूल्य < कुल आयात मूल्य

2.5 व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन का महत्व

भुगतान सन्तुलन एक व्यापक अवधारणा है, इसलिये इसका सापेक्षिक महत्व व्यापार सन्तुलन की तुलना में कहीं अधिक होता है । इसका उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय गणनाओं, विश्लेषणों एवं निष्कर्षों में व्यापार सन्तुलन की तुलना में अधिक होता है । भुगतान सन्तुलन के महत्व निम्नलिखित हैं

1. भुगतान सन्तुलन एक देश द्वारा एक वर्ष की अवधि में शेष विश्व के साथ किये गये समस्त आर्थिक लेन-देनों का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है, इसलिये इसके विश्लेषण एवं अवलोकन से उस देश की आर्थिक स्थिति का तत्काल पूर्ण एवं सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।
2. भुगतान सन्तुलन की स्थिति से किसी भी देश की चलन (Currency) तथा विदेशी विनिमय कोषों (Forex) की दशा का आसानी से ज्ञान हो जाता है । यदि देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल है तो इसका अर्थ यह है कि उसके चलन तथा विदेशी विनिमय कोषों की स्थिति सुदृढ़ है ओर उस देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य अथवा विदेशी विनिमय दर ऊँची है । इसके विपरीत प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन की स्थिति है तो अनुकूल स्थिति के विपरीत स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
3. कोई भी देश सामान्यतया अपनी मुद्रा का अवमूल्यन निर्यातों में वृद्धि और आयातों में कमी द्वारा भुगतान सन्तुलन में असाम्यता को दूर करने के लिये अन्तिम अस्त्र के रूप में करता है । किसी देश द्वारा मुद्रा का अवमूल्यन करने से उसके निर्यातों में वृद्धि और आयातों को कम करने में कहीं तक सफलता मिली है इस बात की जानकारी, भुगतान सन्तुलन विवरण की मदों के विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है । निष्कर्ष रूप से भुगतान सन्तुलन विवरण के अध्ययन विश्लेषण से किसी देश द्वारा अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) करने से उसके विदेशी व्यापार पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।
4. भुगतान सन्तुलन विवरण मदों की प्रकृति और आकार में होने वाले परिवर्तनों का राष्ट्रीय आय पर व्यापक प्रभाव पड़ता है इसलिये इसके विवरण का प्रयोग राष्ट्रीय आय पर

विदेशी व्यापार तथा अन्य आर्थिक व्यवहारों के पड़ने वाले प्रभावों को मापने अथवा ज्ञात करने के लिये किया जाता है ।

5. भुगतान सन्तुलन विवरण खाते को दो भागों में विभक्त किया जाता है - चालू खाता और पूँजी खाता । इसलिये किसी देश के चालू खाते और पूँजी खाते की स्थिति का यथार्थपरक ज्ञान भुगतान सन्तुलन विवरण से प्राप्त किया जा सकता है । इन खातों के अध्ययन तथा विश्लेषण से देश की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।
6. यदि किसी देश के भुगतान सन्तुलन में अनुकूलता है तो वह उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय शोधन क्षमता की गारण्टी है । यदि किसी देश के भुगतान सन्तुलन में प्रतिकूल असाम्यता चिरस्थायी प्रकृति की है और अत्यन्त गम्भीर है तो वह देश अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का समय पर भुगतान करने में सक्षम नहीं है तथा पिछड़े और गरीब राष्ट्रों के भुगतान सन्तुलन में निरन्तर प्रतिकूल असाम्यता उनकी कमजोर अन्तर्राष्ट्रीय शोधनक्षमता का प्रतीक है ।
7. भुगतान सन्तुलन विवरण के विश्लेषण के आधार पर देश के लिये उपयुक्त आर्थिक नीतियों का निर्माण करना सम्भव हो पाता है । उदाहरणार्थ: मौद्रिक, राजकोषीय, औद्योगिक एवं आयात-निर्यात नीति का निर्माण भुगतान सन्तुलन विवरण की समीक्षा के आधार पर ही किया जाता है ।
8. भुगतान सन्तुलन का अध्ययन न केवल अर्थशास्त्रियों नीति विश्लेषकों, नीति निर्माताओं के लिये उपयोगी है, वरन् राजनीतिज्ञों और राजनीतिक समीक्षकों के लिये भी उपयोगी है क्योंकि भुगतान सन्तुलन के विश्लेषण के आधार पर ही देश की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं का अध्ययन एवं विश्लेषण कर उनके समाधान के लिये आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं ।

व्यापार सन्तुलन का महत्व :

भुगतान सन्तुलन का क्षेत्र व्यापार सन्तुलन से अधिक व्यापक है इसलिये यह कहा जा सकता है कि किसी देश का भुगतान सन्तुलन उसकी आर्थिक स्थिति का बेरोमीटर है जबकि व्यापार सन्तुलन द्वारा हम किसी भी राष्ट्र की आर्थिक और वित्तीय स्थिति का आकलन नहीं कर सकते है क्योंकि व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य मदें ही सम्मिलित की जाती है जबकि भुगतान सन्तुलन के अन्तर्गत सभी प्रकार की दृश्य एवं अदृश्य मदें सम्मिलित की जाती हैं । इसलिये व्यापार सन्तुलन के अनुकूल होने से हम भुगतान सन्तुलन भी अनुकूल होगा इसका अन्दाजा नहीं लगा सकते हैं । अत: व्यापार सन्तुलन का ' महत्व भुगतान सन्तुलन के समायोजित होने से ही अधिक बढ़ता है इसलिये व्यापार सन्तुलन के महत्व की अलग से विवेचना करना थोड़ा कठिन है क्योंकि भुगतान सन्तुलन किसी देश की विदेशी मुद्रा की कुल माँग एवं कुल पूर्ति का सम्पूर्ण विश्लेषण है जबकि व्यापार सन्तुलन देश की विदेशी मुद्रा की कुल माँग एवं कुल पूर्ति का आंशिक विश्लेषण है तथा वर्तमान युग में अदृश्य व्यापार मदों का निरन्तर महत्व बढ़ता जा रहा है जो कि व्यापार सन्तुलन में सम्मिलित नहीं की जाती है, इसलिये जेवन्स ने भुगतान सन्तुलन के महत्व पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि "जो महत्व तत्वों की सावधिक तालिका का एक रसायन शास्त्री

के लिये है, वही महत्व एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिये भुगतान? सन्तुलन का है । नीचे व्यापार सन्तुलन के कुछ महत्वों पर प्रकाश डालने की यथासम्भव कोशिश की गई है :

1. व्यापार सन्तुलन अनुकूल स्थिति में विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि करने में सहायक होता है तथा प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन द्वारा विदेशी विनिमय कोषों में कमी हो जाती है इसलिये विदेशी विनिमय कोषों (Forex) में वृद्धि या कमी होने की स्थिति में व्यापार सन्तुलन का महत्व पूर्ण योगदान रहता है ।
2. व्यापार सन्तुलन का महत्व तब और बढ़ जाता है जब यह भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार करने में सहयोग देता है ।
3. विनिमय दर को देश के पक्ष में करने के लिये व्यापार सन्तुलन का महत्व होता है ।
4. व्यापार सन्तुलन देश के त्वरित आर्थिक विकास में तथा अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सहायक होता है ।
5. व्यापार सन्तुलन द्वारा देश की प्रतिष्ठा का अध्ययन किया जा सकता है ।
6. व्यापार सन्तुलन द्वारा राष्ट्रीय आय पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन सम्भव है ।
7. व्यापार सन्तुलन द्वारा देश की शोधन क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।
8. व्यापार सन्तुलन द्वारा किसी सीमा तक अवमूल्यन का विदेशी व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना, देश के लिये उपयुक्त आर्थिक नीतियों का निर्माण में सहायक तथा आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान में सहायता प्राप्त की जा सकती है ।

2.6 व्यापार सन्तुलन तथा भुगतान सन्तुलन में अन्तर

व्यापार सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन समानार्थी न होकर एक दूसरे से भिन्न है या कह सकते हैं कि भुगतान सन्तुलन में व्यापार सन्तुलन सम्मिलित है क्योंकि भुगतान सन्तुलन में दृश्य और अदृश्य मदें सम्मिलित होती है जबकि व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य मदें ही सम्मिलित की जाती हैं । व्यापार सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन के मध्य अन्तर को अग्रांकित विवरण से स्पष्ट किया जा सकता है

1. व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य मदें ही सम्मिलित की जाती है जबकि भुगतान सन्तुलन में दृश्य एवं अदृश्य मदें दोनो मदें सम्मिलित की जाती है । दृश्य मदें जैसे कच्चा माल, मशीनें आदि तथा अदृश्य मदें जैसे वेतन, भत्ते, रायल्टी आदि।
2. व्यापार सन्तुलन का क्षेत्र सीमित होता है जबकि भुगतान सन्तुलन का क्षेत्र विस्तृत होता है ।
3. व्यापार सन्तुलन कम विस्तृत अवधारणा है क्योंकि यह भुगतान सन्तुलन का एक अंश है जबकि भुगतान सन्तुलन अधिक विस्तृत अवधारणा है क्योंकि इसमें व्यापार सन्तुलन भी सम्मिलित होता है ।
4. व्यापार सन्तुलन सदैव साम्य रहे यह आवश्यक नहीं है । यह अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकता है जबकि भुगतान सन्तुलन सदैव साम्य में होता है, क्योंकि इसके खाते दोहरी लेखांकन पद्धति पर आधारित होते

5. व्यापार सन्तुलन का देश की आर्थिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है जबकि भुगतान सन्तुलन का गहरा एवं व्यापक प्रभाव पड़ता है ।
6. व्यापार सन्तुलन का उपयोग विभिन्न आर्थिक गणनाओं में कम किया जाता है जबकि भुगतान सन्तुलन का आर्थिक गणनाओं में व्यापक उपयोग किया जाता है ।
7. व्यापार सन्तुलन किसी देश की भुगतान स्थिति का आशिक विश्लेषण होता है जबकि भुगतान सन्तुलन किसी देश की भुगतान स्थिति का सम्पूर्ण विश्लेषण होता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत देश की विदेशी विनिमय की सम्पूर्ण माँग एवं पूर्ति का विश्लेषण किया जाता है और दृश्य व अदृश्य मदों के भुगतान का लेखा-जोखा होता हे ।
8. व्यापार सन्तुलन का भुगतान सन्तुलन की तुलना में महत्व कम होता है जबकि भुगतान सन्तुलन का महत्व, व्यापार सन्तुलन की तुलना में अधिक होता है ।
9. व्यापार सन्तुलन वस्तुओं के आयात निर्यात को प्रदर्शित करता है जबकि भुगतान सन्तुलन मुद्राओं की माँग एवं पूर्ति को प्रदर्शित करता है ।
10. व्यापार सन्तुलन के प्रतिकूल होने पर भुगतान सन्तुलन का प्रतिकूल होना आवश्यक नहीं है ।
11. व्यापार सन्तुलन की गणना करना सरल है अपेक्षाकृत भुगतान सन्तुलन के ।
12. व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूल असाम्यता को ठीक करने के लिये विशेष प्रयास एवं चिन्ता की आवश्यकता नहीं होती है जबकि भुगतान सन्तुलन में होती है ।
13. व्यापार सन्तुलन देश की मुद्रा की विनिमय दर के निर्धारण और इसमे परिवर्तन को प्रभावित नहीं करता है क्योंकि यह विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति का आशिक विवरण होता है जबकि भुगतान सन्तुलन विदेशी मुद्रा की कुल मांग एवं कुल पूर्ति का विवरण होता है, इसलिये यह देश की मुद्रा की विनिमय दर के निर्धारण एवं परिवर्तन को प्रभावित करता है ।
14. व्यापार सन्तुलन से देश की सही आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है जबकि भुगतान सन्तुलन द्वारा देश की अर्थव्यवस्था की स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त होता है ।

2.7 अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन /भुगतान सन्तुलन के सापेक्षिक प्रभाव

व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन दोनो ही देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है तथा इनका देश की अर्थव्यवस्था पर व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ता है ।

व्यापार सन्तुलन भुगतान सन्तुलन का एक अभिन्न एवं अति महत्वपूर्ण भाग है, इसलिये व्यापार सन्तुलन के अनुकूल होने पर इसका भुगतान सन्तुलन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है तथा व्यापार सन्तुलन के प्रतिकूल होने पर इसका भुगतान सन्तुलन पर बुरा प्रभाव पड़ता है इसलिये यहाँ हम दोनों सन्तुलनों के सापेक्षित प्रभाव का वर्णन कर रहे है ।

अनुकूल स्थिति का देश की अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, जबकि प्रतिकूल स्थिति का देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है । देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रतिकूल एवं अनुकूल प्रभावों का वर्णन निम्न प्रकार से है

अनुकूल व्यापार सन्तुलन एंव भुगतान सन्तुलन के प्रभाव

1. **अनुकूल विनिमय दर:** अनुकूल स्थिति में विनिमय कोषों में वृद्धि होने के कारण विनिमय दर देश के पक्ष में होने की प्रवृत्ति होती है । निर्यातों की आयातों पर अधिक्यता के कारण देश की मुद्रा की माँग अधिक और पूर्ति कम होती है जिससे उसका मूल्य बढ़ने लगता है, अर्थात विनिमय दर पक्ष में होने लगती है ।
2. **सुदृढ़ अर्थव्यवस्था** : अनुकूलता की स्थिति में देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होने लगती है । विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि के कारण त्वरित आर्थिक विकास के लिये आवश्यक वस्तुएं क्रय की जा सकती है, विनिमय दर की अनुकूल प्रवृत्ति होती है, अन्य देशों में विनियोग करके लाभ अर्जित किया जा सकता है, अन्य देशों को ऋण उपलब्ध कराया जा सकता है, पुराने ऋणों का भुगतान किया जा सकता है, स्वर्ण खरीद कर मौद्रिक कोषों की स्थिति सुदृढ की जा सकती है, अनुकूल व्यापार सन्तुलन के प्रभाव से भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार होता है, अत: भुगतान सन्तुलन भी अनुकूल हो जाता है ।
3. **विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि :** अनुकूल स्वरूप द्वारा देश के विदेशी मुद्रा भण्डारों में वृद्धि होने लगती है, क्योंकि आयातों की तुलना में निर्यातों की अधिकता के कारण विदेशी मुद्रा के भुगतान उसकी प्राप्ति से कम होते हैं।
4. **राष्ट्र की समृद्धि/प्रतिष्ठा में वृद्धि:** अनुकूल स्थिति से विदेशों में देश की आर्थिक प्रतिष्ठा बढ़ती है और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय साख (International Credit/Credit Rating) में सुधार होता है ।
5. **त्वरित आर्थिक विकास में सहायक :** विदेशी विनिमय कोषों की आसान उपलब्धि के कारण विकास के लिये आवश्यक पूँजीगत सामान, मशीनें व तकनीक आयात की जा सकती है जिससे देश का त्वरित आर्थिक विकास करने में सहायता मिलती है ।
6. **मुद्रा प्रसार का भय :** अनुकूल व्यापार एवं भुगतान सन्तुलन के कारण देश में विदेशी मुद्रा की प्राप्ति लगातार बढ़ने से मुद्रा प्रसार का भय बना रहता है । मुद्रा प्रसार की स्थिति देश के हित में नहीं होती है ।
7. **प्रतिस्पर्धा में वृद्धि :** व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन में निरन्तर अनुकूलता अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित कर सकती है । अन्य देश अनुकूलता स्थिति वाले देशों को निर्यात बढ़ाने के लिये राशिपतन की नीति (Policy of Dumping) का भी सहारा ले सकते हैं तथा अपने देश के उद्योगों की सुरक्षा के लिये संरक्षणात्मक उपाय अपना सकते है । इसलिये इससे देश के निर्यात घट सकते हैं और आयात बढ़ सकते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन के अच्छे व बुरे दोनो ही प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं ।

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन के प्रभाव

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के कारण भुगतान सन्तुलन में भी प्रतिकूलता अथवा असाम्य की सम्भावना होती है, क्योंकि व्यापार सन्तुलन, भुगतान सन्तुलन का ही एक भाग है । प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के कारण विदेशी मुद्रा कोषों में कमी तथा विदेशी विनिमय दर के विपक्ष में होने के कारण भुगतान सन्तुलन के विपक्ष में होने की सम्भावना रहती है इसलिये प्रतिकूल व्यापार

सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन का किसी देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव का सापेक्षित अध्ययन निम्नलिखित है:

1. प्रतिकूल व्यापार एवं भुगतान सन्तुलन की स्थिति में आयात आधिक्य के कारण विदेशी विनिमय कोषों में भुगतान उनकी प्राप्तियों से अधिक होता है जिससे विदेशी विनिमय कोषों (Forex) में कमी हो जाती है । अत: विदेशी मुद्रा भण्डार घटने लगते हैं ।
2. प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होने के कारण देश की मुद्रा की विनिमय दर (Exchange Rate) विपक्ष में हो जाती है क्योंकि आयात अधिक हो जाने के कारण देश की मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है और निर्यातों में कमी के कारण उसकी मांग कम हो जाती है ।
3. प्रतिकूल वातावरण, देश के आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करता है क्योंकि इससे देश के विदेशी विनिमय कोषों में कमी तथा विनिमय दर की प्रतिकूलता के कारण आर्थिक विकास हेतु आवश्यक पूँजीगत सामान मशीन व संयन्त्र आदि आयात करने में कठिनाई होती है, जिससे देश के त्वरित आर्थिक विकास (Rapid Economic Development) का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है ।
4. व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन में निरन्तर प्रतिकूलता देश की कमजोर अर्थव्यवस्था का प्रतीक है क्योंकि इनके कारण देश के विदेशी विनिमय कोषों में कमी, विदेशी विनिमय दर का विपक्ष में होना, विदेशी विनियोगों में कमी, ऋण भार में वृद्धि आदि समस्यायें उत्पन्न हो जाती है जो अन्ततः: देश की अर्थव्यवस्था को संकट में डाल कर कमजोर बना देती है ।
5. प्रतिकूल वातावरण देश की कमजोर अर्थव्यवस्था का द्योतक होता है जो कि देश की विदेशों में प्रतिष्ठा में कमी लाता है क्योंकि इसकी वजह से अंतर्राष्ट्रीय साख संस्थाएँ देश की आर्थिक स्थिति का नीचा मूल्यांकन करती है । उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश को प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन की स्थिति से बचना चाहिये क्योंकि इससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते है ।

2.8 प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के कारण

बहुत से ऐसे कारण होते हैं जो एक देश के भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूलता ला सकते है इन कारणों की विवेचना निम्नलिखित प्रकार से है :

1. व्यापार में आकस्मिक परिवर्तन, मौसमी उतार चढ़ाव, कृषि उत्पादनों पर मौसम के प्रभाव इत्यादि कुछ ऐसे कारण हैं जो अस्थायी रूप से असंतुलन उत्पन्न कर देते हैं, आशा यह की जाती है कि इस तरह के अस्थायी कारणों से उत्पन्न होने वाले घाटे या अतिरेक थोड़े समय में अपने आप ठीक हो जाएंगे ।
2. कुछ चिरकालिक अथवा आधारभूत असंतुलन होते हैं जिनके कारण प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है । वे अर्थव्यवस्था के भीतर आधारभूत परिवर्तनों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं । वे देश के भीतर या विदेशों में

उपभोक्ता रूचियों में परिवर्तनों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं ओर परिणामस्वरूप देश के आयातों अथवा निर्यातों को प्रभावित करते हैं ।

3. उत्पादन के तरीकों में प्रोद्योगिकीय परिवर्तन, घरेलू उद्योगों अथवा अन्य देशों के उद्योगों के उत्पादन भी घरेलू या विदेशी बाजारों में देश की प्रतियोगिता क्षमता को प्रभावित कर सकते हैं । इसका कारण यह है कि प्रोद्योगिकीय सुधारों के परिणामस्वरूप उत्पादनों की लागतों और कीमतों तथा गुणवत्ता में परिवर्तन हो जाते हैं ।
4. किसी देश की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन होना भी असंतुलन का एक कारण है । यदि देश की राष्ट्रीय आय बढ़ेगी तो आयात बढ़ जाएंगे और परिणाम यह होगा कि यदि अन्य बातें समान रहे तो भुगतान सन्तुलन में घाटा उत्पन्न हो जाएगा । यदि देश पहले ही पूर्ण रोजगार के स्तर पर है, तो आय बढ़ने से कीमतों में स्फीतिकारी वृद्धि होगी और देश के आयात बढ़ जाएंगे जो भुगतान-सन्तुलन एवं व्यापार संतुलन में प्रतिकूलता उत्पन्न कर देंगे ।
5. भुगतान सन्तुलन में असंतुलन उत्पन्न होने का एक अन्य कारण मुद्रा स्फीति है । जब देश में मुद्रा स्फीति आती है तो निर्यातों की कीमतें बढ़ जाती है । इस प्रकार निर्यात कम हो जाते हैं । पर साथ ही आयातों की मांग भी बढ़ जाती है । इस प्रकार निर्यात कीमतों के बढ़ने से निर्यातों के कम होने और आयातों के बढ़ने का परिणाम यह होता है कि भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है ।
6. किसी देश का भुगतान सन्तुलन उसके आर्थिक विकास की अवस्था पर भी निर्भर करता है । यदि देश विकास की प्रक्रिया में से गुजर रहा है तो उसके भुगतान सन्तुलन में घाटा होगा क्योंकि वह कच्चे माल, मशीनरी, पूंजी उपकरण, और विकास प्रक्रिया से सम्बद्ध सेवाओं का आयात करता है और प्राथमिक उत्पादन निर्यात करता है । देश को महंगे आयातों के लिए भुगतान तो अधिक करना पड़ता है और सस्ते निर्यातों के बदले प्राप्ति कम होती है । इससे उसके भुगतान सन्तुलन में असंतुलन हो जाता है ।
7. विभिन्न देशों के उधार लेने देने और उधार से भी भुगतान सन्तुलन में असंतुलन पैदा हो जाता है । जो देश दूसरे देशों को बड़े पैमाने पर ऋण और अनुदान देता है, उसके पूंजी लेखे के भुगतान सन्तुलन में घाटा होगा । यदि वह आयात भी अधिक कर रहा है, जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका, तो उसके भुगतान शेष में चिरकालिक घाटा रहेगा । दूसरी ओर जो. विकासशील देश दूसरे देशों और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से बहुत अधिक कोष उधार लेता है, उसका भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो सकता है । परन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम है क्योंकि ये देश प्रायः खाद्य सामग्री, कच्चा माल, पूंजी वस्तुएं इत्यादि भारी मात्रा में आयात करते हैं और प्राथमिक उत्पादन ही निर्यात करते हैं । इस तरह के-उधार लेना केवल भुगतान सन्तुलन के घाटों को. कम करने मे, ही सहायक होते है ।

2.9 प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को सुधारने की आवश्यकता

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन की तुलना क्षय रोग से की जा सकती है क्योंकि यह देश की अर्थव्यवस्था को धीरे-धीरे कमजोर एवं खोखला करता चला जाता है । इसके दुष्प्रभावों से बचने के लिये इनमें सुधार करने की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों की वजह से होती है :

1. देश के त्वरित आर्थिक विकास (Rapid Economic Development) के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिये अर्थात् विकास हेतु आसानी से पूँजीगत सामग्री मशीनें आदि के आयात के लिये आवश्यक है
2. देश के विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षण एवं अभिवृद्धि के लिये आवश्यक है ।
3. देश में उत्पादन, आय एवं रोजगार स्तर में वृद्धि के लिये आवश्यक है ।
4. देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर की प्रतिकूलता को रोकने, कम करने एवं उसमें सुधार करने के लिए आवश्यक है।
5. विदेशी मुद्रा बाजारों में देश की मुद्रा की प्रतिष्ठा और सुदृढ़ता को बनाये रखने के लिये आवश्यक हें अथवा उसमें सुधार हेतु आवश्यक है।

2.10 प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को सुधारने के उपाय/तरीके

प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को सुधारने के उपाय :

1. **आय परिवर्तनों के माध्यम से समायोजन :** निर्यातों के मूल्य में स्वायत्त वृद्धि राष्ट्रीय आय में उतनी मात्रा में वृद्धि कर देती है जो निर्यातों में वृद्धि यों गुणा विदेशी व्यापार गुणक के बराबर होती है । इस प्रकार विदेशी व्यापार गुणक के कार्य करण के माध्यम से राष्ट्रीय आय बढ़ती है । 'विदेशी व्यापार गुणक उस आय-परिवर्तन को व्यक्त करता है जो खुली अर्थव्यवस्था में निर्यातों अथवा निवेश में परिवर्तन के कारण होता है और उस खुली अर्थव्यवस्था में आय बिखर कर आयातों में समा जाती है ।
2. **निर्यातों को प्रोत्साहन:** निर्यातों को प्रोत्साहन देकर भी भुगतान सन्तुलन का घाटा पूरा किया जा सकता है । बढ़िया वस्तुओं का उत्पादन करके, बढ़ते हुए उत्पादन और उत्पादकता के माध्यम से और बेहतर क्रय-विक्रय द्वारा निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है । निर्यातों में वृद्धि विदेशी व्यापार गुणक के कार्य करण के माध्यम से राष्ट्रीय आय को कई गुणा बढ़ा देती है । विदेशी व्यापार गणक निर्यातों में परिवर्तन द्वारा लाए गए आय परिवर्तन को व्यक्त करता है । अन्ततः भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन का घाटा तब समाप्त होता है, जब आयातों से निर्यात अधिक तेजी से बढ़े ।
3. **आयात नियन्त्रण:** भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन, असन्तुलन को ठीक करने का एक अन्य उपाय आयातों का नियंत्रण करना है । इसके अन्तर्गत अनावश्यक और विलासिता की वस्तुओं के आयात पर रोक लगा दी जाती है अथवा उन पर भारी आयात कर लगाये जाते हैं जिससे आयातित वस्तुएं महंगी हो जाने से उनके आयात घट जाते हैं इसके

अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के आयात कोटा लगाकर आयातों परे रोक लगाकर उनका नियमन किया जाता है जिससे निर्यातों की अपेक्षा आयात कम हो जाते हैं तथा भुगतान शेष का सन्तुलन सम्मव होता है ।

4. **विनिमय नियन्त्रण:** विनिमय नियंत्रण द्वारा भी सरकार प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन को ठीक करती है । इसके अनुसार सरकार विदेशी विनिमय बाजार को नियंत्रित करती है । सभी विदेशी करेंसियां केन्द्रीय बैंक के पास जमा करानी होती है जो उनका आवश्यकताओं के अनुसार वितरण करता है । विनिमय नियंत्रण द्वारा अन्य देशों की करेंसियों के साथ देश की विनिमय दरें स्थिर की जाती हैं जिससे भुगतान सन्तुलन/ व्यापार सन्तुलन में होने वाले उतार-चढ़ाव कम होते हैं । इसके अतिरिक्त, इस नीति के अन्तर्गत विदेशों को पूंजी प्रवाह तथा आयातित वस्तुओं पर व्यय की जाने वाली विदेशी मुद्राओं पर भी नियंत्रण करके भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन के घाटे का कम करने का प्रयत्न किया जाता है ।
5. **सरकार द्वारा व्यापार :** भुगतान सन्तुलन /व्यापार सन्तुलन के घाटे को कम करने के लिए आजकल बहुत से विकासशील देशों की सरकारें स्वयं विदेश व्यापार में सक्रिय भाग लेती है । निजी व्यापारी विकसित देशों के व्यापारियों के साथ जब व्यापार सौदे करते हैं, तो उनकी सौदा करने की शक्ति कमजोर होने के कारण व्यापार की शर्तें इन देशों के विरूद्ध जाती है । परन्तु जब राज्य व्यापार अपने हाथ में लेता है, तो उसका देश की वस्तुओं को निर्यात करने और विदेशों से वस्तुएं आयात करने पर एकाधिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो द्विपक्षीय सौदे किए जाते हैं वे देश के व्यापारियों के हित में होते हैं और व्यापार शर्तें भी देश के अनुकूल होती हैं । सरकार देश की आवश्यकताओं के अनुसार विदेशी मुद्राओं का प्रयोग करती है जिससे भुगतान-सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन में असन्तुलन को दूर किया जाता है ।
6. **आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करना :** आयात की जाने वाली वस्तुओं का देश में ही उत्पादन करने की क्रिया को आयात प्रतिस्थापन कहते हैं । भुगतान सन्तुलन में प्रतिकूलता को कम अथवा समाप्त करने के लिए' इसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिये अर्थात् देश में ऐसे उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिये जिनके द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन देश में ही किया जा सके । आयात प्रतिस्थापन से आयातों में कमी होगी, देश की देनदारियाँ घटेगी. और भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन में सुधार होगा ।
7. **विदेशी पूँजी विनियोजन को प्रोत्साहन :** भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन के असाम्य को सुधारने के लिए देश में एक निश्चित और आकर्षक नीति द्वारा विदेशी पूँजी विनियोजन को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये । इसके लिए देश में विदेशी पूँजी विनियोग करने की प्रक्रिया को सरल बनाने के साथ-साथ विदेशी पूँजी निवेशकर्ता को अनेक प्रकार की रियायतें भी देनी होगी । देश में विदेशी पूँजी के विनियोग से विदेशी मुद्रा की आवक में वृद्धि होगी जो भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन के असाम्य को ठीक करने मैं मददगार होगी।

8. **पर्यटन उद्योग का विकास करना :** भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन के असाम्य को ठीक करने के लिए देश में विदेशी पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए विभिन्न आकर्षक योजनायें बनायी जानी चाहिए । विदेशी पर्यटकों के आगमन से विदेशी मुद्रा की प्राप्तियां बढ़ती है जिससे भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता कम हो जाती है । पर्यटकों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से देश के दर्शनीय स्थानों को मनोरम, आकर्षक, सस्ता एवं आरामदायक बनाया जाना चाहिये । पर्यटक स्थलों के बारे में विदेशी में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराने की दृष्टि से प्रचार प्रसार किया जाना चाहिये ।
9. **तस्करी पर प्रभावी रोक:** सरकार द्वारा तस्करी तथा अन्य गैर-कानूनी गतिविधियों पर प्रभावी रोक लगाकर विदेशी विनिमय के दुरूपयोग को रोका जा सकता है । तस्करी पर रोक लगाने से देश के विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि होती है, जिससे भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन मे असाम्यता को ठीक करने में मदद मिलती है ।
10. **विदेशी ऋणों की व्यवस्था करना:** भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूल असाम्य को विदेशी सरकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेकर समाप्त किया जा सकता है । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य राष्ट्रों भुगतान सन्तुलन में असाम्य को दूर करने के लिए अल्पकालीन ऋण सहायता सुलभ करवाता है ।
11. **ऋण भुगतानों का स्थगन :** यदि उपर्युक्त वर्णित उपायों द्वारा भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूल असाम्यता को ठीक नहीं किया जा सके तो फिर सरकार विदेशी ऋणों के भुगतान को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है और बाद में जब विदेशी मुद्रा भण्डारों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है तो फिर ऋणों का भुगतान पुन: प्रारम्भ कर दिया जाता है ।
12. **प्रवासी नागरिकों को विदेशी विनिमय प्रेषित करने के लिए प्रोत्साहित करना :** सरकार अपने देश के प्रवासी नागरिकों को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन व कर आदि में छूट देकर अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा स्वदेश में भेजने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है । इस उपाय से देश में विदेशी विनिमय की प्राप्तियां बढ़ेगी, जिससे भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन में असाम्यता को ठीक किया जा सकेगा ।
13. **मुद्रा का अवमूल्यन:** भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूल असाम्य को ठीक करने के लिए अन्तिम अस्त्र के रूप में देश की मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है । अवमूल्यन द्वारा देश की मुद्रा के मूल्य को विदेशी मुद्राओं के मूल्य के सन्दर्भ में कम किया जाता है । इससे देश के निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते हैं और इस प्रकार भुगतान असन्तुलन तथा व्यापार असंतुलन को ठीक किया जाता है । लेकिन यह उपाय तभी सफल हो सकता है जब अन्य देश प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन की नीति (Policy of Comptitive Devaluation) न अपनायें ।

इस प्रकार उपर्युक्त-विवेचन विवरण से यह स्पष्ट है कि एक देश मौद्रिक एवं गैर-मौद्रिक उपायों को अलग-अलग अथवा एक साथ अपनाकर अपने भुगतान सन्तुलन/व्यापार सन्तुलन के प्रतिकूल असाम्य को कम अथवा समाप्त कर सकता है । विकसित देशों के भुगतान सन्तुलन/व्यापार

सन्तुलन में प्रायः अनुकूल असाम्य होता है जिसे उपर्युक्त वर्णित उपायों के ठीक उल्टे उपाय अपनाकर समाप्त किया जा सकता है ।

2.11 सारांश

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि प्रतिष्ठित आर्थिक नीतियों एवं औद्योगिक देशों के अनुभव पर आधारित विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों को जो लाभ प्राप्त होता है उससे आर्थिक विकास को गति प्राप्त होती है । विकास व व्यापार के अन्तर्निहित सम्बन्धों की अभिव्यक्ति भुगतान संतुलन द्वारा की जा सकती है । भुगतान संतुलन एक नियत समय में किसी देश द्वारा शेष विश्व से हुये लेन-देन का सुव्यवस्थित विवरण है ।

व्यापार संतुलन, भुगतान सन्तुलन का एक अभिन्न एवं अति महत्वपूर्ण भाग है । व्यापार सन्तुलन का देश की अर्थव्यवस्था पर व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु इसका क्षेत्र भुगतान सन्तुलन की तुलना में सीमित होता है क्योंकि व्यापार सन्तुलन के पक्ष में होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हो तथा व्यापार सन्तुलन के विपक्ष में होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ न हो इसलिये व्यापार सन्तुलन से देश की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त नहीं होता है जबकि भुगतान सन्तुलन का पक्ष में होना देश की अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ होने का परिचायक होता है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्वत: ही स्पष्ट है कि व्यापार सन्तुलन कम विस्तृत अवधारणा है क्योंकि यह भुगतान सन्तुलन का एक भाग है तथा भुगतान सन्तुलन वास्तव में किसी देश की अर्थव्यवस्था का आर्थिक बेरोमीटर है ।

2.12 उदाहरण

1. जापान का अनुकूल भुगतान सन्तुलन उसकी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का प्रतीक है, जबकि भारत का प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन इसकी कमजोर स्थिति का प्रतीक है।
2. द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्व भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल और भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल था जबकि इंग्लैण्ड का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल और भुगतान सन्तुलन अनुकूल था । इसका यह अर्थ है कि इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल होने के उपरान्त भी भारत से अधिक सुदृढ़ थी क्योंकि उसका भुगतान सन्तुलन अनुकूल था ।

2.13 शब्दावली

1. **व्यापार सन्तुलन** (Balance of trade) एक निश्चित अवधि में किसी देश के निर्यातों के मूल्य एवं आयातों के मूल्य के सम्बन्ध को ही व्यापार सन्तुलन कहते हैं ।
2. **भुगतान सन्तुलन** (Balance of Payment) : किसी देश विशेष की विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण मांग एवं पूर्ति की परिस्थिति से है तथा किसी देश द्वारा एक वर्ष में किये गये अन्तर्राष्ट्रीय लेन देनों की प्राप्तियों और भुगतानों का व्यवस्थित रिकार्ड होता है ।
3. **दृश्य मदें** (Visible Items): जो देश के वस्तु व्यापार अर्थात वाणिज्यिक व्यापार यथा खाद्यान्न, कच्चा माल व निर्मित वस्तुओं को समाहित करती है ।

4. **अदृश्य मदें** (Invisible items): जो सेवायें, यातायात, ब्याज भुगतान, लाभांश, बैंक चार्ज, बीमा भुगतान रायल्टी, भेंट, सट्टाजनित लाभ व हानि तथा अन्य मदों को सम्मिलित करती है ।
5. **चालू खाता** (Current Account): चालू खाता भुगतान सन्तुलन का वह भाग है, जो एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति को प्रदर्शित करता है । इसके अन्तर्गत दृश्य अदृश्य दोनों प्रकार के आयात एवं निर्यात सम्मिलित किये जाते है ।
6. **पूँजी खाता** (Capital Account): पूँजी खाता भुगतान सन्तुलन का वह भाग है जो केवल समायोजनों (Adjustment) को दर्शाता है ।
7. **सरकारी भुगतान लेखा** (Official Settlement Account) : यह लेखा देश की वर्ष के दौरान विदेशी सरकारी धारकों के पास तरल तथा अतरल देयताओं में परिवर्तन को और राष्ट्र की सरकारी रिजर्व परिसम्पत्तियों में परिवर्तन को मापता है ।
8. **साम्य** (Equilibrium) सन्तुलन या अनुकूल अवस्था, साम्य कहलाती है ।
9. **असाम्य** (Disequilibrium) असन्तुलन या प्रतिकूल अवस्था, असाम्य कहलाती है ।

2.14 स्वपरख प्रश्न

1. भुगतान संतुलन एवं व्यापार सन्तुलन में क्या अन्तर है? भुगतान संतुलन की प्रमुख मदों का उल्लेख कीजिए ।
2. भुगतान संतुलन का व्यापार संतुलन की अपेक्षा अधिक महत्व है । इस कथन को स्पष्ट कीजिये ।
3. भुगतान संतुलन से आप क्या समझते हैं? प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन का किसी देश की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है? प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन को ठीक करने के लिये कौन से उपाय अपनाये जाते है?
4. भुगतान सन्तुलन से आप क्या समझते है? इसकी विशेषताओं बताते हुये प्रमुख मदों का वर्णन कीजिये ।
5. भुगतान सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है ।" इस कथन की विवेचना कीजिए ।

2.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - डॉ. एम.एल. झिंगन
अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - डॉ. मृगेश पाण्डे
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त -डॉ. गोपाल सिंह, डॉ. ओपी गुप्ता

इकाई - 3 : व्यापार की शर्तें - अर्थ कार्य प्रणाली
(Terms of Trade-Meaning and System of Function)

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 व्यापार की शर्तें: ऐतिहासिक अवलोकन

3.3 व्यापार की शर्तों से आशय

3.4 व्यापार की शर्तों की स्थिति/स्वरूप

3.5 व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाले घटक/कारक

3.6 व्यापार की शर्तों की श्रेणियाँ/कार्यप्रणाली/रूप

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 स्वपरख प्रश्न

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

- व्यापार की शर्तों से आशय एवं उसकी कार्यप्रणाली की जानकारी प्रदान करना ।
- विभिन्न देश आपस में किन शर्तों पर व्यापार करते है इससे अवगत करवाना ।
- एक देश द्वारा किया गया निर्यात, देश द्वारा किये जाने वाले आयातों से किस प्रकार विनिमय करता है ।
- व्यापार की शर्तों द्वारा यह जानकारी प्राप्त हो सकती है कि देश के आयात-निर्यातों का, देश पर प्रतिकूल या अनुकूल प्रभाव पड़ रहा है तथा व्यापार की शर्तों द्वारा राष्ट्रों के आय स्तर और उसमें होने वाले परिवर्तनों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन किया जाना सम्भव हो सकेगा ।
- प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर पड़ने वाले प्रभाव की जानकारी प्रदान करना ।
- कोटे का व्यापार की शर्तों पर पड़ने वाले प्रभाव से अवगत करवाना ।
- व्यापार की शर्तों पर आर्थिक वृद्धि के प्रभाव से अवगत करवाना तथा व्यवहारिक आर्थिक नीति की अनेक समस्याओं के समाधान में व्यापार की शर्तों के योगदान से अवगत करवाना ।
- अवमूल्यन के शुद्ध विनिमय या वस्तुगत व्यापार की शर्त पर प्रभाव की जानकारी प्रदान करना ।
- इस इकाई के अध्ययन में ही अर्न्तराष्ट्रीय और राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभों को ज्ञात किया जा सकता है।

3.1 प्रस्तावना

व्यापार की शर्तें आर्थिक वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । सामान्यत: जब एक देश के निर्यात, देश द्वारा किये गये आयातों से अधिक होते है तो व्यापार की शर्तों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है । यदि किसी देश के आयात देश द्वारा किये निर्यातों से अधिक हो तो व्यापार शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । व्यापार की शर्तों के अधीन उस दर का निर्धारण किया जाता है जिस पर एक देश द्वारा किया गया निर्यात, देश द्वारा किये जाने वाले आयातों से विनिमय करता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं व्यापार की शर्तों का किसी देश के आयातों के रूप में उस देश की निर्यातों की क्रय शक्ति का माप है और उस देश की निर्यात कीमतों तथा आयात कीमतों के बीच सम्बन्ध के रूप में व्यक्त की जाती है । सामान्यत: विकसित देश घरेलू स्तर पर अधिकाधिक वस्तु व सेवाओं को कम लागत पर उत्पादित करने एवं इनका अधिक निर्यात करने की स्थिति में रहते है । अधिकांश उपभोग वस्तुओं का उत्पादन देश में करने के कारण इनके आयात कम होते हैं । इस दशा में विकसित देशों की व्यापार शर्तें अनुकूल या पक्ष में रहती है । दूसरी तरफ विकासशील देश के साधनों का अनुकूलतम उपयोग नहीं कर पाते है । इन देशों में (भारत भी सम्मिलित है) सामान्यत. कृषि क्षेत्र की तुलना में औद्योगिक एवं तकनीकी क्षेत्र सीमित होते है इस कारण विकासशील देशों में अधिक उत्पादन कर उसका निर्यात नहीं कर पाते व दूसरी ओर अपने घरेलू या आन्तरिक क्षेत्र के विकास हेतु इन्हें विदेशी संसाधनों या पूँजी की निरन्तर आवश्यकता पड़ती है । निर्यातों के सीमित रहने एवं आयातों की अधिकता से इन देशों में भुगतान सन्तुलन विपरीत रहता है । अत: व्यापार की शर्तें भी प्रतिकूल रहती है ।

3.2 व्यापार की शर्ते : ऐतिहासिक अवलोकन

व्यापार की शर्तों का उल्लेख सर्वप्रथम जान स्टुअर्ट मिल ने "अन्तर्राष्ट्रीय माँग समीकरण" के रूप में किया था एवं इसके लिये प्रतिपूरक माँग का सिद्धान्त (Doctrine of Reciprocal Demand) प्रतिपादित किया । एलफ्रेड मार्शल ने व्यापार की शर्त के सम्भावित विकल्प के रूप में विनिमय दर (Rate of Exchange) के प्रयोग का सुझाव दिया । मिल के प्रतिपूरक माँग के सिद्धान्त में मार्शल एवं जेकोब वाइनर द्वारा संशोधन प्रस्तुत किये गये । प्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री टॉजिग (Taussing) ने विनिमय व्यापार की शर्तों (Barter term of trade) का उल्लेख किया । प्रो. पीगू ने इसे विनिमय की वास्तविक दर (Real Rate of Exchange) द्वारा समझाया । व्यापार की शर्तों के सन्दर्भ में आधुनिक अर्थशास्त्री विदेशी व्यापार गुणक सिद्धान्त (Foreign Trade Multiplier Theory) का आश्रय लेते हैं तथा इस सिद्धान्त का प्रयोग व्यापार के किसी देश पर पड़ने वो आय व मूल्य प्रभावों के विवेचन-विश्लेषण के लिये करते हैं ।

3.3 व्यापार की शर्तों से आशय

व्यापार की शर्तें उस दर को बताती है जिस दर पर एक देश की वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओं से विनिमय होता है ।

अन्य शब्दों में व्यापार की शर्तें निर्यातों की कीमत के निर्देशांक का आयातों की कीमत के निर्देशांक के अनुपात द्वारा व्यक्त की जाती है (The ratio of the index of export prices to the index of import prices) जब किसी देश की आयात कीमतों की सापेक्षता में उस देश की निर्यात कीमतें बढ़ती है तो कहा जायेगा कि उसकी व्यापार की शर्तें बेहतर हो गई है । देश को व्यापार से लाभ होता है क्योंकि यह निर्यात की दी हुई मात्रा के बदले आयातों की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकता है । दूसरी ओर यदि उस देश की निर्यात कीमतों की सापेक्षता में आयात कीमतें बढ़ती है, तो कहा जायेगा कि उसकी व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो गई है । उस देश का व्यापार से लाभ कम हो जायेगा क्योंकि यह निर्यातों की दी हुई मात्रा के बदले आयातों की पहले से कम मात्रा प्राप्त कर सकेगा । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यापार शर्तों से अभिप्राय उन शर्तों से है जिन पर किसी देश के आयातों और निर्यातों का विनिमय होता है ।

उदाहरण के लिये भारत को 200 टन गेहूँ के बदले चीन में 250 टन शक्कर प्राप्त होती है तो व्यापार की शर्तें 200: 250 होगी इससे हमें यह पता चलता है कि भारत को 2 टन गेहूँ के बदले 2.5 टन शक्कर प्राप्त होती है अर्थात् व्यापार शर्त 2:2.5 होगी । लेकिन जब दो से अधिक वस्तुओं का व्यापार किया जाता है तो हम फिर वस्तुओं के भौतिक विनिमय को आधार न मानकर उनके सामूहिक मूल्यों को विनिमय का आधार मानते हैं । ऐसी स्थिति में व्यापार शर्तों का सम्बन्ध उस दर से होता है जो एक देश की निर्यात कीमतों तथा आयात कीमतों के आपसी अनुपात को व्यक्त करता है ।

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{\text{आयातों का कुल मूल्य}}{\text{निर्यातों का कुल मूल्य}}$$

$$\text{Terms of Trades} = \frac{\text{Total Price of Imort Goods}}{\text{Total Price of Export Goods}}$$

इस सूत्र के अनुसार विदेशी व्यापार में जिस मूल्यानुपात पर वस्तुओं का आयात निर्यात किया जाता है उसे ही व्यापार की शर्तों के नाम से जाना जाता है । एक अर्न्तराष्ट्रीय अर्थशास्त्री के अनुसार ' 'किसी देश की व्यापार की शर्तें दो प्रकार के विश्व मूल्यों से सम्बद्ध है ।

उदाहरणार्थ: माना देश I (भारत) व A (अमेरिका) है तथा दो वस्तुओं X (कपड़ा) व Y (गेहूँ) का उत्पादन किया जा रहा है । माना भारत गेहूँ तथा अमेरिका कपड़े का निर्यात करता है । प्रश्न यह है कि गेहूँ की क्तिनी इकाइयाँ कपड़े की कितनी इकाइयों से विनिमय की जायेगी ।

गेहूँ व कपड़े के ऐसे सभी संयोग जिन्हें अमेरिका व्यापार करते समय स्वीकृत करता है चित्र 3.1 द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं । उदाहरण के लिये बिन्दु A पर अमेरिका 10 इकाई कपड़े के 3 इकाई गेहूँ स्वीकार करता है । जैसे ही कपड़े का निर्यात दुगना होता है, यह दर परिवर्तित हो जाती है । अब अमेरिका 20 इकाई कपड़े के निर्यात के बदले 6 इकाई गेहूँ स्वीकार न कर 10 इकाई गेहूँ स्वीकार करता है । जैसे - जैसे C बिन्दु की ओर बढ़ते जाते है गेहूँ की कीमत (जो प्रति इकाई कपड़े के लिये प्रस्तावित की गई है) । पुन: बढ़ती जाती है । अर्थात जैसे-जैसे अमेरिका अपने कपड़े के निर्यात में वृद्धि करता है वैसे-वैसे गेहूँ की आयात मात्रा प्रति इकाई कपड़ा निर्यात के बढ़ती जाती है । इसी साध्य को विपरीत रूप से देखने पर अमेरिका बढ़ते हुए गेहूँ के आयात को केवल तब स्वीकार करता है जब प्रति इकाई गेहूँ के बदले कपड़े की मात्रा में कमी हो रही हो ।

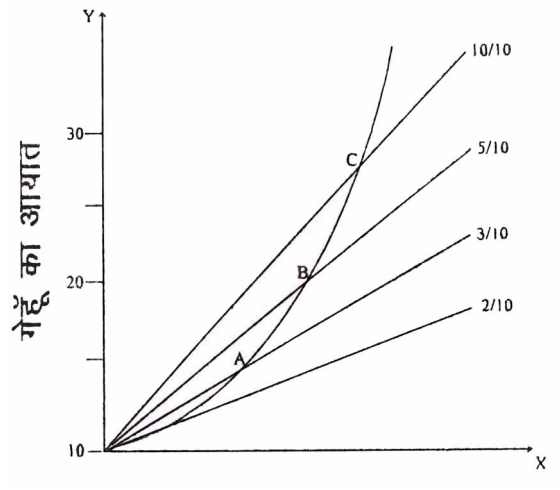

कपडे का निर्यात

चित्र 3.1 प्रस्ताव वक्र (दो देश की व्यापार की शर्तें)

व्यापार की शर्तों के आशय को स्पष्ट करते हुए निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखा गया है -

(अ) व्यापार की शर्त निर्यातों के कीमत निर्देशांक एवं आयातों के कीमत निर्देशांक के मध्य अनुपात द्वारा अभिव्यक्त की जाती है ।

(ब) यदि दो वस्तुओं (गेहूँ और कपड़े) का उत्पादन हो रहा हो तो एक देश का प्रस्ताव वक्र वस्तुओं (गेहूँ और कपड़े) के संयोगों का बिन्दु पथ होगा जो व्यापार में एक देश को स्वीकार्य होता है ।

(स) प्रस्ताव वक्र की आकृति पूर्ति सम्बन्धी घटकों से इस सन्दर्भ में आधारित है कि निर्यात प्रस्ताव तब बढ़ते है जब निर्यात कीमत आयातों की शर्त में बढ़ती है ।

(द) माँग की दशाएँ प्रत्येक सम्भावित व्यापार की शर्त को प्रभावित करती है ।

(य) व्यापार शर्त सन्तुलन दोनों देशों के प्रस्ताव वक्र के अन्तर्छेदन के द्वारा निर्धारित होता है ।

(र) एक देश की घरेलू पूर्ति या मांग दशाओं में होने वाला परिवर्तन उस देश के प्रस्ताव वक्र में परिवर्तन को सूचित करता है । यह परिवर्तन सामान्यत: व्यापार शर्त में सन्तुलन के परिवर्तन का कारण बनता है ।

(ल) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जिस मूल्य पर वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात या व्यापार की शर्त कहा जाता है । अर्थात् व्यापार की शर्त किसी देश का विश्व मूल्यों के मध्य सम्बन्ध है । यह वह मूल्य है जिस पर निर्यात सम्भव होता है तथा जिस पर आयात किया जाता है । व्यापार की शर्तें व्यापार से प्राप्त लाभ की प्रवृत्ति को जानने का तरीका है जिसके आधार पर एक देश द्वारा निर्यात से प्राप्त कीमतों तथा उसके द्वारा आयातों के लिए दी गई कीमतों के मध्य सम्बन्ध का मापन किया जाता है । यदि किसी समय में देश की निर्यात कीमतें बढ़ जाती हैं तथा आयात कीमतें कम हो जाती हैं तो उसकी व्यापार शती में सुधार हो सकता है । दूसरी तरफ यदि निर्यात कीमतों में कमी हो तथा आयात कीमतें बढ़ जाएँ तब उस देश की व्यापा शर्तें प्रतिकूल हो जाती है ।

3.4 व्यापार की शर्तों की स्थिति/स्वरूप

किसी भी देश की व्यापार की शर्तें दो प्रकार की होती है या तो ये उनके अनुकूल होगी या फिर प्रतिकूल । निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं व्यापार की शर्तों का सही विवेचन तभी सम्भव है जब हम इनका ठीक व सही अर्थ जान लेंगे ।

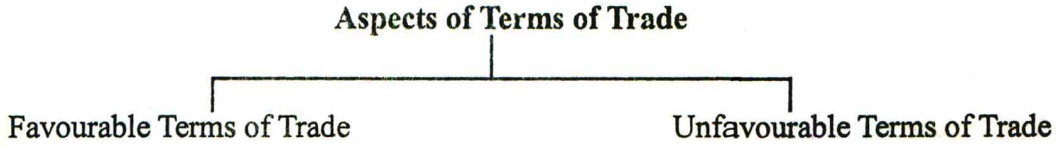

1. **अनुकूल व्यापार की शर्तें** (Favourable Terms of Trade) एक देश के लिये व्यापार की शर्तें तब अनुकूल होती है जब वह आयात की दी हुई मात्रा के लिये कम वस्तुओं का निर्यात करता है । ऐसी स्थिति में उसके आयातों के मूल्य की तुलना में निर्यातों का मूल्य अधिक होता हैं ।

   Price of Exports Goods > Price of Imports Goods

   अनुकूल व्यापार की शर्तें देश के लिये -लाभकारी होती है ।

2. **प्रतिकूल व्यापार की शर्तें** (Unfavourable Terms of Trade) एक देश के लिये व्यापार की शर्तें तब प्रतिकूल मानी जाती है जब उसके निर्यातों के मूल्य की तुलना में आयातों का मूल्य अधिक हो । दूसरे शब्दों में, जब वह आयात की हुई मात्रा के लिये अधिक मात्रा में वस्तुओं का निर्यात करता है तो व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती है ।

   Price of Imports Goods>Price of Exports Goods

   अनुकूल व्यापार की शर्तें देश के लिये हानिकारक होती है ।

3.5 व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाले घटक?कारक

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले देशों की अर्थव्यवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिससे उनकी तुलनात्मक आर्थिक स्थितियों में अन्तर आ जाता है । इसके अतिरिक्त विश्व अर्थव्यवस्था का परिदृश्य भी बदलता रहता है । इन सब कारणों की वजह से व्यापार की शर्तों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । अर्थव्यवस्थाओं के आन्तरिक और बाह्य परिवेश में होने वाले परिवर्तन व्यापार शर्तों पर अपना प्रभाव डालते हैं । व्यापार की शर्तों को अनेक घटक प्रभावित करते है जिनमें से मुख्यतः निम्न प्रकार से हैं

1. **पारस्परिक माँग** (Reciprocal Demand): किसी देश की व्यापार की शर्तें पारस्परिक माँग पर निर्भर करती है अर्थात् "प्रत्येक देश की व्यापार शर्तें दूसरे देश के उत्पादन के लिये माँग की शक्ति तथा लोच" पर निर्भर करती है । अर्थात् एक-दूसरे के उत्पादनों के लिये की जाने वाली माँग की सापेक्षिक गहनता (Relative intensity of demand) जो पूर्ति की मात्रा, जनसंख्या, खाद्यानों की प्रकृति, रूचि, आस्वाद एवं वस्तु क्रय करने की क्षमता तथा देश एवम् राज्य की नीतियों पर निर्भर रहती है । मांग की लोचो में होने वाला परिवर्तन कई घटकों जैसे जनसंख्या वृद्धि, आयात व निर्यात की जा रही वस्तु की प्रकृति, राज्य की व्यापार नीति, कर, प्रशुल्क एवं निर्यात की क्षमता से प्रभावित होता है । इनमें से किसी एक में परिवर्तन या सभी घटकों में परिवर्तन देश की मांग की

सापेक्षिक गहनता पर निर्भर करेगा जो अन्ततः इसकी व्यापार की शर्तों को प्रभावित करता है ।

सारांश रूप में कह सकते हैं, व्यापार की शर्तें प्रत्येक देश के प्रस्ताव वक्र की माँग की सोच पर निर्भर करेंगी । एक देश का प्रस्ताव वक्र जितना अधिक बेलोच होगा, दूसरे देश के मुकाबले उसकी व्यापार की शर्तें उतनी ही अधिक प्रतिकूल होगी । दूसरी और इसका प्रस्ताव वक्र जितना अधिक लोचदार होगा दूसरे देश के मुकाबले उसकी व्यापार की शर्तें उतनी ही अधिक अनुकूल होगी ।

2. **प्रशुल्क** (Tariff) : आयात प्रशुल्क लगाने से उस देश की व्यापार की शर्तें बेहतर हो जाती है जो आयात प्रशुल्क लगाता है तथा आर्थिक कल्याण में वृद्धि की आशा की सकती है ।

   मुख्य समस्या यह है कि क्या प्रशुल्क द्वारा व्यापार की शर्त में सुधार सम्मव है । समाधान हेतु हमें यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि प्रशुल्क आरोपित करने वाले देश का आकार कैसा है? इस प्रसंग में हम दो स्थितियों का अवलोकन करते हैं

   (i) प्रशुल्क आरोपित करने वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सापेक्ष इतना लघु है कि इसके द्वारा किये जाने वाले आयात वस्तु की विश्व मांग पर कोई प्रभाव नहीं डालते है । इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहेगी ऐसे लघु देश में प्रशुल्क लगाये जाने पर कल्याण में कमी होगी ।

   (ii) यदि प्रशुल्क लगाने वाला देश अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सापेक्ष इतना बड़ा हो कि शेष विश्व के साथ उसके आयातों में होने वाली कमी आयतित वस्तु की विश्व माँग में काफी कमी कर दे तो व्यापार की शर्तें, प्रशुल्क लगाने वाले देश के पक्ष में सुधरेगी ।

अत: व्यापार शर्तों पर पड़ने वाले प्रशुल्क के प्रभाव देश के आकार पर निर्भर करते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सापेक्ष एक देश का आकार बड़ा या छोटा हो सकता है । व्यापार की शर्तों पर प्रशुल्क के प्रभाव का विवेचन माँग व पूर्ति पक्ष से सम्बन्धित है । दो बिन्दु महत्वपूर्ण है -

(i) प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार शर्तों में तब सुधार होगा यदि विदेश का प्रस्ताव वक्र पूर्णत: लोचदार न हो तथा विदेश द्वारा प्रशुल्क विरोधी उपाय न अपनाये जाएँ ।

(ii) प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार की शर्तें तब नहीं सुधरेगी जब विदेश का प्रस्ताव वक्र पूर्णतया लोचदार हो।

अत: प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार शर्तों में सुधार केवल तब सम्भव होगा जब विदेश द्वारा प्रशुल्क। विरोधी उपाय न किये जा रहे हो एवं विदेश का प्रस्ताव वक्र पूर्णत: लोचदार न हो ।

3. **आर्थिक वृद्धि** (Economic Growth): आर्थिक वृद्धि भी एक और महत्वपूर्ण कारक है जो व्यापार की शर्तों को प्रभावित करता है । आर्थिक वृद्धि का मतलब है समय पर्यन्त किसी देश के राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय का बढ़ जाना । किसी देश में रूचियों तथा प्रौद्योगिकी के दिये हुये होने पर देश की उत्पादक क्षमता में वृद्धि का मतलब है समयपर्यन्त किसी देश के राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय का बढ़ जाना । किसी देश में

रूचियों तथा प्रौद्योगिकी के दिये हुए होने पर देश की उत्पादक क्षमता में वृद्धि उसकी व्यापार शर्तों पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है । जिस देश में आर्थिक वृद्धि होती है उस देश के उत्पादन सम्भावना वक्रों तथा समुदाय उदासीनता वक्रों रूप में आर्थिक वृद्धि के प्रभाव को देखा जा सकता है । अन्य शब्दों में आर्थिक वृद्धि के तीन मुख्य स्त्रोत है - (i) श्रम वृद्धि (ii) पूँजी संचय एवं (iii) तकनीकी प्रगति । तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (Comparative static analysis) के अधीन श्रम वृद्धि एवं पूँजी संचय (Capital accumalation) के प्रभावों से वृद्धि कर रहे देश के उपभोग, उत्पादन, आयात मांग, निजी पूर्ति व्यापार शर्त, साधन कीमतों व सामाजिक कल्याण पर देखा जाता है । इस व्याख्या के मुख्य शिल्पी जॉनसन (1956) थे हालांकि Export & Import baised growth का विचार **हिक्स** (1953) ने दिया था । इसके अतिरिक्त अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी इसकी व्याख्या की है जैसे: **भगवती (1958) कार्डन (1956) फिडंले एवं गुबर्ट (1959) व रायबजिसकी (1955)** । व्यापार की शर्तों पर आर्थिक वृद्धि के प्रभाव का आकलन करने के लिये हमें वृद्धि के प्रकार अपूर्ण विशिष्टीकरण, एक बड़े देश के प्रसंग में व्यापार शर्तों पर वृद्धि के प्रभाव और निर्यातों एवं आयातों के परिमाण पर वृद्धि के प्रभाव को भी ध्यान में रखना आवश्यक है ।

4. **अवमूल्यन** (Devaluation): जो देश दूसरे देश की करेन्सी के मुकाबले अपनी करेन्सी का अवमूल्यन करता है, अवमूल्यन से उस देश के आयातों की घरेलू कीमत बढ़ जाती है और विदेश में उसके निर्यातों की कीमत गिर जाती है ।

   व्यापार शर्तों पर अवमूल्यन के प्रभावों के सम्बन्ध के अर्थशास्त्रियों में पर्याप्त विवाद रहा है । प्रोफेसर मैक्लप (Machlup) के मतानुसार "अवमूल्यन से व्यापार शेष में सुधार होता है । जब निर्यातों की भौतिक मात्रा की तुलना में आयातों की भौतिक मात्रा घटती है 'तो सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है" इस प्रकार अवमूल्यन तभी सफल होगा जब सकल वस्तु विनिमय शर्तें प्रतिकूल हो जायेगी । प्रोफेसर रार्बटसन (Robertson) के अनुसार अवमूल्यन के प्रभावों का मूल्यांकन करने के लिये वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों की संधारण के प्रयोग किया जाये । उनका मत था कि यदि इस संधारण को प्रयोग किया जाये तो अवमूल्यन से आयातों की कीमतें बढ़ेगी और विदेशी करेन्सी में निर्यातों की कीमतें गिरेगी और परिणाम यह होगा कि वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें गतिकूल हो जायेगी ।

   प्रोफेसर हिर्च (Hirch) ने सुझाव दिया कि अवमूल्यन के सही प्रभावों का मूल्यांकन करने के लिये सही तरीका यह होगा कि निर्यातों तथा आयातों की कीमतों में परितर्वन का अध्ययन एक ही करेन्सी में किया जाये ।

   सामान्य रूप से निर्यातों तथा आयातों दोनो की कीमतें घरेलू करेन्सी में बढ़ती है और विदेशी करेन्सी में गिरती है । वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें केवल उस स्थिति में प्रतिकूल होगी जब घरेलू करेन्सी के रूप में आयात कीमतों की अपेक्षा निर्यात कीमतें अधिक गिरेगी । वास्तव में जो देश अवमूल्यन करता है उस देश की निर्यातों तथा आयातों के लिये माँग तथा पूर्ति की लोच ही उसकी व्यापार शर्तों के बिगड़ने अथवा

सुधरने को निर्धारित करेगी । यदि कीमत परिवर्तनों की सापेक्षता में निर्यातों के लिये विदेशी मांग और आयातों के लिये घरेलू माँग दोनों ही अत्यधिक लोचदार है और घरेलू निर्यातों तथा विदेशी आयातों दोनो की पूर्तियां कीमत परिवर्तनों की सापेक्षता में अत्यधिक बेलोच है तो अवमूल्यन से वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों में सुधार होता है

5. **कोटा** (Quota) व्यापार की शर्त पर पड़ने वाले कोटा के प्रभाव को सामान्यत: निर्धारित नहीं किया जा सकता है तथा इसका पूर्वानुमान कर पाना भी कठिन होता है । परन्तु यह स्पष्ट किया जा सकता है कि आयात कोटा निर्धारित करने के परिणामस्वरूप एक देश की व्यापार शर्तों में परिवर्तन हो जाता है । नई व्यापार शर्तें कोटा लगाने वाले देश के अनुकूल भी हो सकती है व प्रतिकूल भी । यह निर्भर करता है वस्तु निर्यात करने वाले देश का प्रस्ताव वक्र कैसा है । यदि प्रस्ताव वक्र कम लोचदार होगा तो व्यापार शर्तें आयात कोटा लगाने वाले देश के प्रतिकूल हो सकती है । इसके विपरीत यदि विदेशी प्रस्ताव वक्र अधिक लोचदार है तो व्यापार शर्त आयात कोटा लगने वाले देश के अनुकूल हो सकती है ।
6. **साधन सम्पन्नताओं में परिवर्तन** (Change in Factor Endowment): किसी देश की साधन सम्पन्नताओं में होने वाले परिवर्तन उसकी व्यापार शर्तों को प्रभावित करते है । साधन सम्पन्नताओं में होने वाले परिवर्तन निर्यातों को बढ़ा या घटा सकते है ।
7. **देश का राजनैतिक परिवेश** (Political Environment of Country) राजनैतिक परिवेश का देश की व्यापार की शर्तों पर व्यापक और गहरा असर पड़ता है । यदि देश में राजनैतिक शांति और सुरक्षा का वातावरण है तो उस देश की व्यापार की शर्तें अनुकूल होगी तथा राजनैतिक शान्ति और सुरक्षा के वातावरण में देश का आर्थिक विकास भी तेजी के साथ होता है । इसके विपरीत यदि देश में राजनैतिक उथल-पुथल, कानून एवं व्यवस्था का अभाव है तथा देश को सीमाओं पर तनाव विद्यमान है, तो उस देश की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होगी ।
8. **आर्थिक उच्चावचन** (Economic Fluctuations): आर्थिक उच्चावचनों के कारण देश की व्यावसायिक गतिविधियों में उतार-चढ़ाव होते रहते है जो तेजी और मन्दी के रूप में परिलक्षित होते हैं । यदि किसी देश की अर्थव्यवस्था मंदी की स्थिति में है तो उस देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होने की सम्भावना होती है क्योंकि मंदी में कीमतों में निरन्तर कमी होती जिसके कारण आयात घटते हैं और निर्यात बढ़ते हैं । वास्तव में व्यापार की शर्तों में अनुकूलता की सीमा निर्यातों की माँग की लोच की प्रकृति पर निर्भर करेगी । तेजी काल में कीमतों में वृद्धि होने के कारण देश की निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति में ह्रास होने के कारण उनका निर्यात घटेगा और विदेशी वस्तुयें तुलनात्मक रूप से सस्ती होने के कारण अधिक मात्रा में आयात की जायेगी । फलस्वरूप व्यापार की शर्तें देश के प्रतिकूल जाने की प्रवृत्ति होगी ।
9. **भुगतानों का हस्तान्तरण** (Transfer of Payment) : किसी भी देश में आयात-निर्यात सम्बन्धित भुगतानों के अतिरिक्त भी अन्य प्रकार के भुगतान होते है । उदाहरण के लिये ऋण व्याज, लाभांश भुगतान, युद्ध की क्षतिपूर्ति, अनुदान, आर्थिक सहायता उपहार

पर्यटन, ऋण भुगतान आदि । इन सब भुगतानों का भुगतान सन्तुलन की स्थिति पर प्रभाव पड़ता है तथा भुगतान सन्तुलन का प्रभाव व्यापार की शर्तों पर पड़ता है । अगर किसी देश की भुगतानों के कारण दायित्वों की तुलना में प्राप्तियां अधिक होती है तो व्यापार की शर्तें देश के पक्ष में है तथा इसकी विपरीत स्थिति में व्यापार की शर्तें उस देश के लिये प्रतिकूल है ।

10. **पूँजी का आवागमन** (Capital Movement): पूँजी का अन्तर्गमन और बहिर्गमन भी व्यापार की शर्तों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है । यदि किसी देश में पूँजी का शुद्ध अन्तर्गमन होता है, तो वहाँ विनियोग बढ़ने से आर्थिक विकास को बल मिलेगा, परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तों में सुधार की प्रवृत्ति होगी और इसके विपरीत स्थिति विलोमशः होगी ।

    Capital Inflow - Terms of favourable

    Capital outflow - Terms of Trade unfavourable

11. **आर्थिक एवं व्यापारिक संगठन** (Economic and Business Organisation): कुछ राष्ट्र अपने सामूहिक आर्थिक एवं व्यापारिक हितों के अक्षरार्थ आपस में मिलकर एक संगठन का निर्माण कर लेते हैं और फिर सामूहिक रूप से मिलकर कार्य करते हैं । परिणामस्वरूप संगठन निर्माण के कारण इन राष्ट्रों की आर्थिक शक्ति तथा मोल भाव करने की शक्ति में अकल्पनीय सुधार हो जाता है तथा इनकी व्यापार की शर्तें पक्ष में रहने की सम्भावना बढ़ जाती है । इसके विपरीत यदि कोई राष्ट्र बिना किसी संगठित समूह के व्यापार करता है तो उसकी आर्थिक शक्ति क्षीण होने की सम्भावना बढ़ जाती है तथा उसकी व्यापार की शर्तें उस देश के पक्ष में न रहने की सम्भावना बढ़ जाती है । उदाहरण के लिये 'यूरोपीय आर्थिक समुदाय' (EEC) आसियान (ASEAN), नाफ्टा (NAFTA) आदि

12. **प्रौद्योगिकीय परिवर्तन** (Change in Technology):

    प्रौद्योगिकीय परिवर्तन भी किसी देश की व्यापार शर्तों को प्रभावित करते हैं । व्यापार की शर्तों पर प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का प्रभाव चित्र 3.2 में दिखाया गया है । मान लीजिए कि जर्मनी में प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है । प्रौद्योगिकीय परिवर्तन से पहले जर्मनी तथा इंग्लैण्ड के बीच व्यापार की शर्तें OT रेखा के बिन्दु L पर तय होती है जहाँ जर्मनी इंग्लैण्ड के OC कपड़े के बदले CL लिनन निर्यात करता है । जब प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है तो जर्मनी का नया प्रस्ताव वक्र OG_1 हो जाता है जो व्यापार शर्तों की रेखा OT को L_1 बिन्दु पर काटता है । इस बिन्दु पर व्यापार की OT शर्तों के अनुसार इंग्लैण्ड जितना विनिमय करना चाहता है, जर्मनी उसकी अपेक्षा कम लिनन (C_1L_1) निर्यात और कम कपड़ा (OC_1) आयात करना चाहेगा । इसलिए जर्मनी की व्यापार शर्तें बेहतर हो जाती है क्योंकि जर्मनी का नया

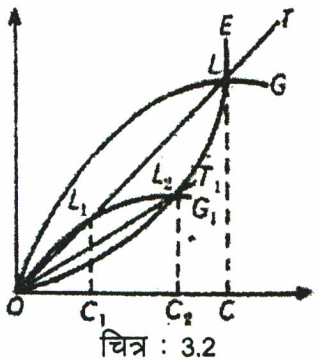

चित्र : 3.2

प्रस्ताव वक्र OG_1 इंग्लैण्ड के अपरिवर्तित प्रस्ताव वक्र OE को L_1 पर काटता है जहाँ OT रेखा पर व्यापार की नई शर्तें तय होती है । L_2 पर जर्मनी की स्थिति बेहतर है क्योंकि वह इंग्लैण्ड के अधिक कपड़े के बदले कम लिनन निर्यात करता है अर्थात् $C_2L_2<OC_2$ प्रौद्योगिकीय परिवर्तन होने से जर्मनी की व्यापार शर्तें बेहतर हो गई है ।

13. **रूचियों का परिवर्तन** (Change in Taste) : किसी देश के लोगों की रूचियों में परिवर्तन भी दूसरे देश के साथ उसके व्यापार की शर्तों को प्रभावित करते है । मान लीजिए इंग्लैण्ड के लोगों की रूचियों में परिवर्तन हो जाता है और वे भारत के लिनन की बजाय अपने ही देश के कपड़े को प्राथमिकता देने लगते हैं । इस स्थिति में इंग्लैण्ड भारत को पहले से कम कपड़ा निर्यात करेगा और भारत के लिनन के लिए इसकी मांग भी गिर जाएगी । इन प्रकार इंग्लैण्ड की व्यापार शर्तें बेहतर हो जायेगी । इसके विपरीत, यदि इंग्लैण्ड की रूचि बदले और भारत के लिनन के पक्ष में हो जाए, तो इंग्लैण्ड की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाएंगी । इनमें से पहली स्थिति अर्थात् इंग्लैण्ड की व्यापार शर्तों की सुधार की रुचियां अपने देश के कपड़े से हटकर भारत के लिनन की ओर हो जाती है तो इसका प्रस्ताव वक्र सरक कर OE_1 पर आ जाता है और भारत के अपरिवर्तित प्रस्ताव वक्र OG को L_1 पर काटता है । परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड भारत के C_1L लिनन के बदले केवल OC_1 कपड़े का निर्यात करता है । स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की व्यापार शर्तें बेहतर हो गई हैं क्योंकि अब वह भारत के अधिक लिनन (C_1L_1) से अपने कम कपड़े (OC_1) का विनमय करता है $OC_1<C_1L_1$

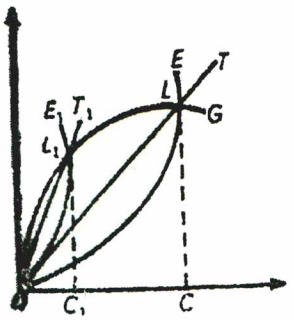

चित्र : 3.3

3.6 व्यापार शर्तों की श्रेणियाँ/कार्यप्रणाली/रूप

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने व्यापार की शर्तों के अनेक प्रकार एवम् श्रेणियों की विवेचना की है । यहाँ हम उनमें से प्रत्येक पर क्रमशः चर्चा करेंगे -

1. **औसत एवं सीमान्त व्यापार की शर्त : (Average and Marginal Terms of Trade):** व्यापार की शर्त के औसत एवं सीमान्त स्वरूप को समझने के लिये हमें पहले प्रस्ताव वक्र की लोच को समझना होगा । चित्र 3.4 में प्रदर्शित प्रस्ताव वक्र के किसी बिन्दु K पर, प्रस्ताव वक्र की लोच जिसे $\sum$ द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

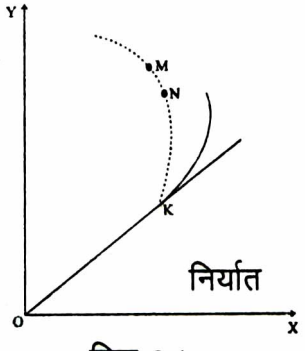

चित्र 3.4

अर्थात्

$\sum$ = आयातों में प्रतिशत परिवर्तन = dyly = $\frac{dy}{dx}$ $\frac{x}{y}$

निर्यातों में प्रतिशत परिवर्तन dxlx

दर y/x, देश की औसत व्यापार की शर्त है जो यह प्रदर्शित करती है कि औसत रूप से प्रत्येक निर्यात होने वाली वस्तु x के लिये y की कितनी इकाइयाँ आयात की जायेगी ।

दर dy/dx जिस पर देश x को y के लिये सीमान्त पर विनिमय करता है । अत: dy/dx दर सामान्यत: सीमान्त व्यापार की शर्त कही जाती है ।

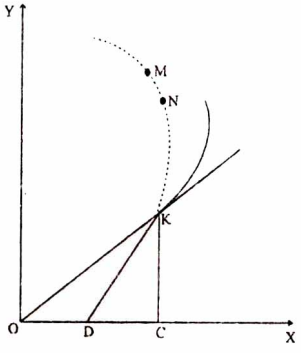

चित्र 3.5

प्रस्ताव वक्र की लोच $\sum$ निम्न होती है

$$\sum = \frac{\text{सीमान्त व्यापार की शर्त}}{\text{औसत व्यापार की शर्त}}$$

यदि हम चित्र 3.5 में K बिन्दु पर प्रस्ताव वक्र की लोच ज्ञात करना चाहे तो K बिन्दु से होती हुई एक स्पर्श रेखा खींचेंगे जो X अक्ष को बिन्दु D पर छूती है । अब K बिन्दु से X अक्ष पर लम्ब डाला जाता है जो X अक्ष को C बिन्दु पर छूता है । इस प्रकार

$$\sum = \frac{CK}{DC}\ \frac{OC}{CK} = \frac{OC}{DC}$$

जब तक बिन्दु D_1 मूल बिन्दु और C बिन्दु के मध्य स्थित रहेगा प्रस्ताव वक्र की लोच धनात्मक एवं इकाई से अधिक रहेगी । जब तक प्रस्ताव वक्र मूल बिन्दु से गुजरने वाली एक सीधी रेखा होगा, बिन्दु D भी मूल बिन्दु पर आ जाएगा और $\sum$ प्रस्ताव वक्र के सभी बिन्दुओं पर इकाई के बराबर होगा । जब प्रस्ताव वक्र पीछे की ओर झुक रहा हो तो $\sum$ का परिकलन किसी एक बिन्दु जैसे कि M पर किया जाएगा तब बिन्दु D_1 बिन्दु C के दाएँ स्थित होगा । दूरी DC ऋणात्मक होगी अत: $\sum$ भी ऋणात्मक होगा । ऐसे बिन्दु पर जहाँ प्रस्ताव वक्र ऊर्ध्वमुखी ढाल नहीं रखता बल्कि पीछे की ओर झुकने लगता है, जैसे कि बिन्दु N_1 तब N से डाला गया लम्ब एक सीधी रेखा होगा, $\sum$ अनंत होगा (क्योंकि OC धनात्मक होगा जबकि शून्य होगा) ।

2. **व्यापार शर्त की श्रेणियाँ : प्रो. मील का सिद्धान्त:** व्यापार की शर्त की श्रेणियों में मिल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का मूल्य मात्रा समानीकरण का विवेचन महत्वपूर्ण है । यह वस्तु-विनिमय की शर्तों पर आधारित है । वस्तु विनिमय की शर्त मूल्य और मात्रा के सम्बन्ध का विलोम या व्युत्क्रम है । माना दो वस्तुओं x और y की कीमत Px और Py है । यदि Q वस्तु की मात्रा को प्रदर्शित करें तो वस्तु की मात्र होगी । अत: अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का समीकरण निम्न होगा:

$$PxQy = Py.Qy \text{ या } \frac{Px}{Qy} = \frac{Py}{Qx}$$

स्पष्ट है कि दो वस्तुओं के मध्य विनिमय के उस अनुपात पर साम्य होगा जहाँ प्रत्येक देश द्वारा आयात की गई वस्तु की मांग व उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तु की मात्रा में

पूर्णता हो । दूसरे शब्दों में एक देश दूसरे देश में निर्मित वस्तु की मांग करता है, उतना ही दूसरे देश द्वारा इस देश की निर्मित वस्तु की मांग होनी चाहिए । इसी कारण इसे प्रतिपूरक मांग का सिद्धान्त कहते हैं । व्यापार शर्तों का निर्धारण दोनों राष्ट्रों में उत्पादित वस्तुओं की मांग या प्रतिपूरक मांग के आधार पर होगा ।

एक देश में वस्तु विनिमय शर्तें तब अनुकूल होगी जब उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली प्रत्येक इकाई का मूल्य आयातित वस्तु की प्रत्येक इकाई की तुलना में बढ़ जाए । तब ही यह देश निर्यातों की मात्रा पूर्ववत् रखते हुए अधिक मात्रा में वस्तुओं की आयात कर सकेगा । अर्थात

$$\frac{Qy}{Qx} = \frac{Px}{Py} > 1$$

मील का सिद्धान्त केवल प्रतिपूरक मांग के समीकरण का ही वर्णन नहीं करता बल्कि उन तत्वों को भी निर्दिष्ट करता है जो इन्हें प्रभावित करते हैं । मिल के अनुसार व्यापार शर्तें प्रतिपूरक माँग द्वारा निर्धारित होती है जिससे आयात और निर्यात मूल्य में साम्य बना रहता है । मील ने स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का नियम सामान्य मूल्य के नियम का ही विस्तार है जिसे हम मांग और पूर्ति के समीकरण द्वारा अभिव्यक्त करते हैं (The law of international value is but an extentin of the more general law of value which we call the equation of supply and demand)

मील का विश्लेषण मौद्रिक मूल्यों के रूप में अभिव्यक्त न होकर वस्तु मूल्यों के रूप में था, अर्थात् एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु या वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्ति करके ही मिल के पारस्परिक मांग के सिद्धान्त को समझा जा सकता
है ।

3. **व्यापार शर्त की श्रेणियाँ: मार्शल का सिद्धान्त:** मार्शल ने स्पष्ट किया कि व्यापार शर्तों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय मांग एवं पूर्ति द्वारा होता है । उसने मील के सिद्धान्त में संशोधन करते हुए स्पष्ट किया कि व्यापार की शर्तों को निर्धारित करते समय दो देशों में विद्यमान मजदूरी की दरों को भी ध्यान में रखना चाहिए । मार्शल ने व्यापार शर्तों के निर्धारण हेतु मौद्रिक लागतों को अपनी व्याख्या में सम्मिलित किया । मार्शल की व्याख्या में दो बिन्दु विचारणीय हैं.

(i) दी हुई व्यापार शर्तों पर किसी वस्तु की मांग व पूर्ति इस बात पर निर्भर करेगी कि उस देश में उत्पादन एवं आंतरिक उपभोग की क्षमता कितनी है ।

(ii) व्यापार की शर्तें स्वयं प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति की लोच पर निर्भर करती है ।

मार्शल ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि प्रत्येक देश में वस्तुओं की मांग व पूर्ति का सही अनुमान लगाना कठिन होता है । अत: उसने किसी देश के आयात व निर्यात में सम्मिलित वस्तुओं का मूल्य जानने के लिए एक सामान्य मौद्रिक माप लिया । उसकी मान्यता थी कि किसी देश में यह माप श्रम की स्थिर इकाई का परिमाण मात्र है । अनेक वैकल्पिक अनुपातों के मध्य साम्य स्थिति उस विनिमय अनुपात पर होगी जहाँ वस्तु की निर्यात (पूर्ति) एवं आयात (मांग) मात्राएँ समान होगी ।

प्रस्ताव वक्र द्वारा व्याख्या - **मार्शल** की व्याख्या प्रस्ताव वक्र द्वारा स्पष्ट की जा सकती है । प्रस्ताव वक्र किसी देश की प्रत्येक वस्तु की मांग ओर पूर्ति के लिए विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित

करता है । माना दो देश अमेरिका एवं भारत हैं तथा उत्पादित होने वाली वस्तुएं गेहूँ तथा कपड़ा है । अमेरिका गेहूँ का निर्यात तथा कपड़े का आयात करता है, दूसरी और भारत कपड़े का निर्यात एवं गेहूँ का आयात करता है । चित्र 3.5 से स्पष्ट है कि X अक्ष पर अमेरिका द्वारा गेहूँ की पूर्ति (अर्थात अमेरिका द्वारा किये गये गेहूँ के निर्यात) तथा Y अक्ष पर भारत द्वारा किये गए कपड़े की पूर्ति (या निर्यात) को प्रदर्शित किया गया है अमेरिका ओर भारत के प्रस्ताव वक्र OA तथा वक्र OB है । इनमें OA अमेरिका तथा OB भारत का मांग पूर्ति वक्र है । OA वक्र X अक्ष पर उन्नतोदर है क्योंकि ब्रिटेन में कपड़े की अधिक मात्रा केवल कम कीमतों (गेहूँ के रूप) में बेची जा सकती है । इसी प्रकार OB वक्र Y अक्ष पर उन्नतोदर है क्योंकि अमेरिका गेहूँ की अधिक इकाइयाँ केवल उस स्थिति में बेच सकता है जबकि इसके मूल्य में कमी होती जाए । OA और OB प्रस्ताव वक्र एक दूसरे को साम्य बिन्दु P पर स्पर्श करते है । यह व्यापार शर्तों का साम्य बिन्दु है जहाँ कपड़े व गेहूँ की मांग व पूर्ति की मात्राएँ क्रमशः OY_1 तथा OX_1 है । यदि साम्य बिन्दु P न होकर P_1 हो जो कि प्रस्ताव वक्र OA पर दिखाया गया है तो इस बिन्दु पर P_1X_2 तथा OY_2 कपड़े की इकाइयों का विनिमय OX_2 या P_1Y_2 गेहूँ की इकाइयों के लिए किया जाएगा । कपड़े व गेहूँ का विनिमय अनुपात अब P_1X_2/OX_2 जो OF_1 रेखा के ढाल को प्रदर्शित करता है । इस विनिमय अनुपात पर जबकि भारत द्वारा अमेरिका में गेहूँ की OX_3 इकाइयां बेची जा सकती हैं, जबकि भारत द्वारा की जाने वाली कपड़े की पूर्ति F_1X_3 के स्थान पर P_1X_2 है तात्पर्य यह है कि भारत द्वारा की जाने वाली कपड़े की पूर्ति से अधिक है ।

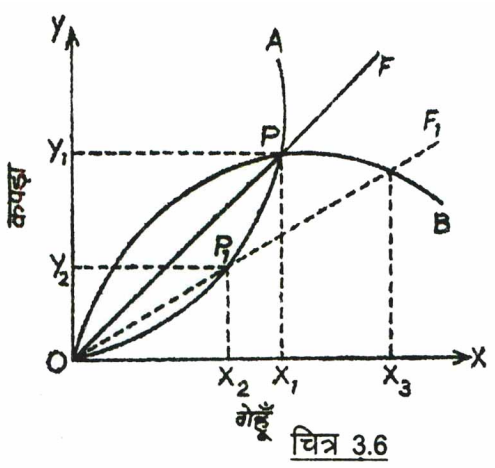

चित्र 3.6

उपर्युक्त दशा में भारत का भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाएगा क्योंकि भारत अमेरिका द्वारा बेचे जा रहे गेहूँ से कहीं अधिक खरीद करेगा । यदि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता तथा स्वर्णमान की दशाएँ विद्यमान न हों तो भुगतान संतुलन के विपरीत होने पर अमेरिका से सोने का बहिर्प्रवाह होगा तथा मौद्रिक व्यवस्था के स्वचालित यन्त्र की क्रियाशीलता द्वारा भारत में मूल्य व मजदूरी की दरें गिर जाएँगी । दूसरी ओर अमेरिका में भुगतान सन्तुलन अनुकूल होने के कारण स्वर्ण कोषों तथा चलन में मुद्रा की राशि में वृद्धि हो जायेगी तथा मूल्य-स्तर व मजदूरी की दरों में भी आनुपातिक वृद्धि होगी । अतः भारत ओर अमेरिका दोनों देशों में उत्पादन लागतों की संरचना बदल जायेगी । भारत में कपड़े की उत्पादन लागत गिरेगी जबकि अमेरिका में गेहूँ की लागत में वृद्धि होगी । परिणामस्वरूप अमेरिका का उपभोक्ता भारत से अधिक कपड़ा खरीदने हेतु उत्सुक होगा जबकि भारत का उपभोक्ता गेहूँ की ऊँची लागत के कारण अमेरिका से इसकी आयातित मात्रा में कमी कर देगा । अमेरिकी उत्पादक अब भारत के कपड़े के बदले अधिक गेहूँ देना चाहेंगे । साम्य तब होगा जहाँ दोनों देशों के प्रस्ताव वक्र एक दूसरे को स्पर्श करेंगे । चित्र में यह बिन्दु

P भारत ओर अमेरिका के मध्य साम्य PX_1 PY_1पर निर्धारित करता है, यह विनिमय अनुपात OF रेखा पर स्थित है ।

उपर्युक्त व्याख्या यह स्पष्ट करती है. कि व्यापार की शर्तें प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति की लोच पर निर्भर करती है । यह प्रस्ताव वक्रों के बदलते हुए ढाल या आकृति से भी स्पष्ट होता है । परन्तु पारस्परिक मांग के सिद्धान्त की यह धारणा कि अंततः निर्यात और आयात समान हो जाते हैं, इस विश्लेषण को संकुचित कर देती है । व्यापार शर्तों को मूल्य या मात्राओं के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है परन्तु इसकी व्यावहारिक उपादेयता नहीं है । दो या विभिन्न देशों के आयात व निर्यात सदैव बराबर नहीं होते और न ही वस्तुओं के मूल्य स्थिर होते है । इसी कारण अधिकांशतः दो देशों के मध्य होने वाले व्यापार को हम व्यापार की आंशिक शर्तों के सन्दर्भ में देखते है ।

जेकब वाइनर तथा **जी.एम नायर** ने अनेक प्रकार की व्यापार शर्तों की चर्चा की है । यहाँ हम उनमें से प्रत्येक पर क्रमशः विचार करें तथा **प्रो. टॉजिग** ने इन्हें विशुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्त की संज्ञा दी ।

(i) **शुद्ध वस्तु विनियम व्यापार की शर्तें/वस्तु व्यापार की शर्तें** (Commodity of Terms of Trade):

व्यापार की वस्तु अथवा निवल वस्तु-विनिमय शर्तें किसी देश की निर्यात वस्तुओं तथा आयात वस्तुओं की कीमतों का अनुपात होती हैं । किसी अवधि में व्यापार की वस्तु-विनिमय शर्तों में हुए परिवर्तनों को मापने के लिए आयात कीमतों में परिवर्तन से निर्यात कीमतों में परिवर्तन का अनुपात लिया जाता है, तो व्यापार की वस्तु-विनिमय शर्तों का सूत्र यह है :

$$N = \frac{P_{X1}}{P_{m1}} = \frac{P_{X0}}{P_{m0}}$$

यहाँ 1 का अर्थ चालू वर्ष (Current Year) से है तथा 0 का अर्थ आधार वर्ष (Base Year) से है ।

सन् 2001 को आधार वर्ष मानकर और भारत की निर्यात कीमतों तथा आयात कीमतों को 100 के रूप में व्यक्त करने पर यदि हम देखें कि 2008 के अन्त तक निर्यात कीमतों का सूचक (index) गिरकर 90 पर आ गया था और आयात कीमतों का सूचक बढ़कर 110 पर पहुंच गया था, तो व्यापार की शर्तों में निम्नलिखित परिवर्तन हुआ था:

$$N = \frac{Px}{Pm} = \frac{90}{100} \Big/ \frac{110}{100} = 81.82$$

सूत्र में - N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें / N.B.T.T

P = कीमत निर्देशांक (Price Index Number)

X = निर्यात (Export)

M = आयात (import)

इसका मतलब है कि भारत की व्यापार शर्तें 2001 के मुकाबले 2008 में लगभग 18 प्रतिशत गिर गई थी अर्थात् व्यापार की शर्तें पहले से खराब हो गई थी । यदि निर्यात-कीमतों का सूचक बढ़कर 180 हो जाता और आयात-कीमतों का सूचक 150 हो जाता, तो व्यापार की शर्तें 120

होती । इसका मतलब यह है कि 2001 के मुकाबले 2008 में व्यापार शर्तें 20 प्रतिशत बेहतर हो गई ।

व्यापार की वस्तु अथवा निवल वस्तु-विनिमय शर्तों की संधारण को अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ को मापने के लिये प्रयोग किया हैं मार्शल विश्लेषण में प्रस्ताव वक्रों द्वारा निर्धारित व्यापार की शर्तें वस्तुतः व्यापार की वस्तु-विनिमय शर्तों से सम्बद्ध है ।

इसकी सीमाएं (Its Limitations) - यद्यपि इसे व्यापार से लाभों की गति की दिशा मापने के साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है, तथापि इस सिद्धान्त की कुछ महत्वपूर्ण सीमाएं हैं -

1. **सूचकांक की समस्याएँ** (Problem of Index Number) - वस्तुओं की संख्या, आधार वर्ष तथा गणना की विधि के रूप में सूचकांक से सम्बद्ध आम समस्याएँ खड़ी हो जाती है।
2. **वस्तु की गुणवत्ता में परिवर्तन** (Changing in Quality of Product) - व्यापार की वस्तु-विनिमय शर्तें निर्यात तथा आयात कीमतों के सूचकांकों पर आधारित होती है । परन्तु वे दो देशों के व्यापार में शामिल होने वाली वस्तुओं की गुणवत्ता और संरचना में होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं देती । बहुधा तो व्यापार की वस्तुविनिमय शर्तों का सूचक आधार-वर्ष में निर्यातित और आयातित वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों में हुए परिवर्तनों की प्रदर्शित करता है । इस प्रकार व्यापार की निवल वस्तु विनिमय शर्तें उन बड़े परिवर्तनों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में असमर्थ रहती है जो विश्व के बाजार में वस्तुओं की गुणवत्ता में होते रहते हैं और उन नई वस्तुओं के बारे में कुछ नहीं बता पाती जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निरन्तर प्रवेश करती रहती है ।
3. **अवधि के चयन की समस्या** (Problem of Selection of Period) - जिस अवधि के दौरान व्यापार की शर्तों का अध्ययन और तुलना की जाती है, उस अवधि के चयन में भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है । यदि बहुत थोड़ी अवधि ली जाए, तो हो सकता है कि आधार तिथि और वर्तमान तिथि में कोई सार्थक परिवर्तन ही न दिखाई दे । दूसरी और, यदि बहुत लम्बी अवधि ली जाए तो हो सकता हैं कि देश के व्यापार का ढाँचा ही बदल चुका हो और दोनों तिथियों के बीच निर्यात तथा आयात वस्तु सामग्री की तुलना ही न की जा सके ।
4. **कीमतों में परिवर्तनों के कारण** (Cause of Change in Prices) - व्यापार की वस्तु-विनिमय शर्तों में एक बड़ी कठिनाई यह है कि वे केवल इतना ही बताती है कि निर्यात तथा आयात कीमतों में क्या परिवर्तन हुए हैं, परन्तु यह नहीं बताती कि ये परिवर्तन कैसे हुए है । वास्तव में, जब विदेशों में निर्यातों की माँग और घरेलू मजदूरी अथवा उत्पादन में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप आयात कीमतों की सापेक्षता में निर्यात कीमतों में होने वाला परिवर्तन वस्तु विनिमय व्यापार-शर्तों के सूचक को बदल देता है, तो बहुत मात्रात्मक अन्तर पड़ जाता है । उदाहरणार्थ, जब विदेशों में निर्यात की अधिक माँग और देश में मजदूरी स्फीति के कारण आयात कीमतों की सापेक्षता में निर्यात कीमतें बढ़ जाती है, तो वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों के सूचक में परिवर्तन हो सकता है । वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का सूचक इस तरह के साधनों के प्रभावों पर ध्यान नहीं देता।

5. **आयात क्षमता** (Import Capacity) - वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का सिद्धान्त किसी देश की "आयात क्षमता" पर कोई प्रकाश नहीं डालता । माल लीजिए कि भारत की वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें गिर गई है । इसका मतलब है कि भारतीय निर्यातों की दी हुई मात्रा के बदले पहले की अपेक्षा कम आयात खरीदे जा सकते हैं । इस प्रवृत्ति के साथ-साथ भारतीय निर्यातों की मात्रा बढ़ जाती है जिसका कारण शायद यह हो कि निर्यातों की कीमतें गिर गई है । हो सकता है कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ चलती रह कर भारत की आयात करने की क्षमता अपरिवर्तित रखें अथवा उसे सुधार दें । इस प्रकार वस्तु-विनिमय व्यापार की शर्तें किसी देश की आयात करने की क्षमता पर ध्यान नहीं देती ।
6. **उत्पादक क्षमता** (Product Capacity) - वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें किसी देश की उत्पादक दक्षता की भी उपेक्षा कर देती है । माल लीजिए, किसी देश की उत्पादक दक्षता बढ़ जाती है । इसके परिणामस्वरूप उत्पादन की लागत और देश की निर्यात वस्तुओं की कीमतें गिर जाएंगी । निर्यात वस्तुओं की कीमतों में गिरावट होने से देश की वस्तु-विनिमय व्यापार शर्तें खराब हो जाएंगी । परन्तु वास्तव में देश की स्थिति पहले से बुरी नहीं होगी । चाहे निर्यातों के दिए हुए मूल्य के बदले कम आयात प्राप्त होंगे, पर देश पहले से बेहतर स्थिति में होगा । इसका कारण यह है कि अब निर्यातों की दी हुई मात्रा का उत्पादन पहले की अपेक्षा कम संसाधनों से होगा और निर्यातों में प्रयुक्त संसाधनों के रूप में आयातों की वास्तविक लागत अपरिवर्तित रहेगी ।
7. **भुगतान शेष** (Balance Payments) - अन्तिम बात, जो कम महत्वपूर्ण नहीं, यह है कि वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का सिद्धान्त तभी सही है जब किसी देश के भुगतान शेष में केवल वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात तथा आयात शामिल हो और आधार तथा दिए हुए वर्षो में भुगतान शेष सन्तुलन में हों । यदि भुगतान शेष में एक पक्षीय भुगतान भी शामिल है अथवा ऐसे अनावश्यक निर्यात तथा अथवा आयात जैसे उपहार और दूसरे देश को भेजी गई अथवा वहां से प्राप्त राशि भी शामिल है जिनसे भुगतान शेष में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, तो वस्तु-विनिमय व्यापार-शर्तें देश की व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों को मापने में सहायक नहीं होती ।

इस अन्तिम कठिनाई पर काबू पाने के लिए टॉसिंग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

(ii) सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें (Gross Barter terms of Trade)

सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें किसी देश के आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्राओं की बीच अनुपात है । प्रतीकात्मक रूप में G = Qm/Qx आयातों तथा निर्यातों की मात्राओं के बीच अनुपात जितना अधिक होगा, सकल व्यापार की शर्तें उतनी ही बेहतर होंगी । निर्यातों के उतने ही परिमाण के बदले आयातों की अधिक मात्रा प्राप्त की जा सकती है । किसी अवधि पर्यन्त सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों में परिवर्तनों को मापने के लिए, आधार अवधि और अवधि के अन्त में आयातों तथा निर्यातों की मात्राओं के सूचनांकों को एक दूसरे से सम्बद्ध किया जाता है । इसके लिए सूत्र है

$$G = \frac{Px}{Pm} = \frac{Qm_1}{Qm_0} \Big/ \frac{Qx_1}{Qx_0}$$

जहाँ G सकल व्यापार शर्तों को व्यक्त करता है QM आयातों की मात्राओं; Qx = निर्यातों की मात्राओं, 2001 को आधार वर्ष मानकर और भारत के आयातों तथा निर्यातों दोनों की मात्राओं को 100 मानकर, यदि हम देखें कि 2008 में मात्रा आयातों का सूचक बढ कर 160 हो गया है और मात्रा निर्यातों का सूचक 120 हो गया है, तो सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों में निम्नलिखित परिवर्तन हुआ

$$G = \frac{Qm_1}{Qm_0} \Big/ \frac{Qx_1}{Qx_0} = \frac{160}{100} \Big/ \frac{120}{100} = 133.33$$

समीकरण में G= सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्त (G.B.T.T)

Q = मात्रा (Quantity)

X = निर्यात (Export)

M = आयात (Imports)

इसका मतलब है कि 2001 के मुकाबले 2008 में भारत की सकल वस्तु-विनिमय व्यापार शर्तों में 33 प्रतिशत सुधार हुआ । यदि मात्रा आयात सूचक बढ़कर 130 और मात्रा निर्यात सूचक 180 हो जाता तो सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें 222 होती । इसका मतलब है कि 2001 के मुकाबले 2008 में व्यापार की शर्तें 28 प्रतिशत खराब हो गई
है ।

व्यापार शर्तों की आलोचनाएं (Criticisms of Terms of Trade) - सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों के सिद्धान्त की इस बात के लिए आलोचना की गई है कि यह निर्यातों और आयातों के सूचकांकों में सभी प्रकार के वस्तु एवं पूंजी भुगतानों तथा प्राप्तियों को एक वर्ग के रूप में इकट्ठा कर देता है । ऐसी कोई इकाई नहीं है जो चावल तथा इस्पात पर पूंजी के निर्यात (अथवा आयात) और अनुदान के भुगतान (अथवा प्राप्ति) पर समान रूप से लागू होती हो । इसलिए लेन-देन के उन विविध प्रकारों में अन्तर करना सम्भव नहीं है जिन्हें सूचक में इकट्ठा कर दिया गया है । इसलिए हैबरलर, वाइनर तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों के सिद्धान्त अयथार्थिक एवं अव्यावहारिक है । प्रो. जैकब वाइनर केवल निवल वस्तु विनिमय शर्तों की संधारणा को काम में लेते हैं जबकि अन्य अर्थशास्त्री वस्तु विनिमय शर्तों की संधारणा को काम में लाता है जबकि अन्य अर्थशास्त्री वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों के रूप में केवल निर्यात आयात कीमत अनुपात को प्रयोग करते है । इसलिए अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया ।

(iii) व्यापार की आय शर्तें/आय व्यापार शर्तें (Income terms of trade)

शेरेन्स (Dorrance) ने व्यापार की आय शर्तों का सिद्धान्त प्रस्तुत करके निवल वस्तु-विनिमय व्यापार-शर्तों की संधारणा को संशोधित किया । यह सूचक किसी देश के निर्यातों और उसकी निर्यात एवं आयात कीमतों (निवल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों) पर ध्यान देता है । यह किसी देश के निर्यातों में परिवर्तनों के अनुपात में उसकी परिवर्तित होती हुई आयात क्षमता को प्रदर्शित

करता है । इस प्रकार व्यापार की आय शर्तें किसी देश की निवल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों तथा उसके निर्यात मात्रा सूचक का गुणनफल होती है इसे यों व्यक्त किया जा सकता है.

आय व्यापार शर्तें

$$Px.Qx = Pm.Qm \text{ or } Qm = \frac{Px.Qx}{Pm}$$

Px = निर्यात मूल्य (Export Price)

Qx = निर्यात की मात्रा (Export Quantity)

Pm = आयात मूल्य (Import Price)

Qm = आयात की मात्रा (Import Quantity)

OR

$$I = \frac{Px\ Qx}{Pm}$$

I = आय व्यापार शर्त

ए.एच इम्लाह (A.H. Imlah) ने निर्यातों के मूल्य के सूचक को आयातों की कीमत के सूचक से विभाजित करके यह सूचक निकाला है । इसे उसने "व्यापार सूचक से निर्यात लाभ" कहा है । व्यापार की आय शर्तों का सूचक बढ़ने का मतलब है कि देश अपने निर्यातों के बदले अधिक वस्तुएं आयात कर सकता है । देश की व्यापार की आय शर्तें बेहतर हो सकती है परन्तु हो सकता है कि उसकी वस्तु विनिमय व्यापार-शर्तें प्रतिकूल हो जाएं । यह मान लेने पर कि आयात कीमतें स्थिर रहती है । यदि निर्यात कीमतें गिर जाएं तो विक्रय बढ़ेंगे और निर्यातों का मूल्य बढ़ेगा । इस प्रकार हो. सकता है कि जहाँ व्यापार की आय शर्तें बेहतर हो गई हों, वहां वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो गई हों ।

दूसरे रूप में, Qm = f' (Px, Qx, Pm) अर्थात किसी देश की व्यापार की आय शर्तों को आयात करने की क्षमता कहा जाता है । यह आवश्यक है कि दीर्घकाल में अर्थात PxQx = PmQm अथवा PxQx/Pm = Qm एक इस प्रकार Px Qx/Pm ही Qm को निर्धारित करता है जो कि कुल मात्रा है जिसे कोई देश आयात कर सकता है । किसी देश की आयात क्षमता बढ़ सकती है बशर्ते कि अन्य बातें अपरिवर्तित रहें: (i) निर्यातों की कीमत (Px) बढ़ जाती है, अथवा (ii) आयातों की कीमत (Pm) गिर जाती है, अथवा (iii) निर्यातों की मात्रा (Qx) बढ़ जाती है । इस प्रकार जिन विकासशील देशों की आयात क्षमता कम है उनके लिए व्यापार की आय-शर्तों की संधारणा का व्यवहारिक मूल्य बहुत अधिक है ।

इसकी आलोचनाएं - लेकिन व्यापार की आय शर्तों का सूचक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ या हानि सही-सही मापने में असमर्थ रहता है । जब किसी देश की आयात क्षमता बढ़ती है तो इसका मतलब केवल यह होता है कि वह पहले से अधिक निर्यात भी कर रहा है । वास्तव में निर्यातों में किसी देश के वास्तविक संसाधन भी सम्मिलित रहते हैं जिन्हें लोगों का जीवन स्तर सुधारने के लिए घरेलू रूप से प्रयोग किया जा सकता है । और फिर, व्यापार की आय शर्तों का सूचक आयात करने की निर्यात आधारित क्षमता से सम्बन्ध रखता है, न कि किसी देश की आयात की कुल क्षमता से, जिसमें देश की विदेशों से विनिमय प्राप्तियां भी सम्मिलित होती है । उदाहरणार्थ,

यदि किसी देश के व्यापार की आय शर्तों का सूचक गिर गया है परन्तु इसकी विदेशी विनिमय प्राप्तियां बढ़ गई हैं तो वास्तव में इस देश की आयात क्षमता बढ़ जाती है, भले ही सूचक गिरावट को प्रदर्शित करे । यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ को मापने के लिए व्यापार की आय शर्तों के सिद्धान्त के मुकाबले व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों का संधारणा को प्राथमिकता दी जाती है ।

(iv) **व्यापार की एकल घटकीय शर्तें/एक घटकीय व्यापार शर्तें (Single factoral Terms of Trade)** व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों की संधारणा निर्यात उद्योगों में होने वाले उत्पादकता परिवर्तनों पर विचार नहीं करती । प्रोफेसर वाइनर ने व्यापार की एकल घटकीय शर्तों की संधारण प्रस्तुत की है । यह संधारणा घरेलू निर्यात क्षेत्र में परिवर्तनों को स्थान देती है । इसकी गणना करने के लिए व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों के सूचक को घरेलू निर्यात उद्योगों में उत्पादकता परिवर्तनों के सूचक से गुणा किया जाता है । इसे यो व्यक्त किया जा सकता है

एक घटकीय व्यापार शर्त

$$S = \frac{Px}{Pm} xZx \text{ or } S = NZx$$

S = एक घटकीय व्यापार की शर्तें (Single Factorial Terms of Trade)

Zx = निर्यातों की उत्पादकता का सुचंकाक (Index of Productivity of Exports)

N, Px और Pm का अर्थ पूर्ववत है ।

यह बताता है कि जब किसी देश के निर्यात उद्योगों की उत्पादकता सुधरती है तो उस देश के व्यापार की एकल घटकीय शर्तें भी सुधरती है । यदि किसी देश के निर्यात उद्योगों की उत्पादकता बढ़ती है तो उसके व्यापार की एकल घटकीय शर्तों में सुधार हो सकता है भले ही उसकी वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाएं । उदाहरणार्थ जब किसी देश के निर्यात उद्योगों की उत्पादकता बढ़ती है तो उसके परिणामस्वरूप हो सकता है कि उस देश की आयात कीमतों की सापेक्षता में उसकी निर्यात कीमतें गिर जाएं । वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें तो बिगड़ जाएंगी, परन्तु देश के व्यापार की एकल घटकीय शर्तों में सुधार हो जाएगा ।

इसकी परिसीमाए - इस सूचक की कुछ परिसीमाएं भी है । उत्पादकता सूचक निर्मित करने के लिए आवश्यक आंकड़े उपलब्ध करना कठिन है । और फिर, व्यापार की एकल घटकीय शर्त दूसरे देश में आयात उद्योगों की उत्पादन की सम्भावित घरेलू लागत पर ध्यान नहीं देती । इस कठिनाई को हल करने के लिए वाइनर ने व्यापार की द्विघटकीय शर्तों (Double Factoral Terms of Trade) का सिद्धान्त बनाया ।

व्यापार की द्विघटकीय शर्त (Double Factoral Terms of Trade)

व्यापार की द्विघटकीय शर्तें उन उत्पादकता परिवर्तनों पर ध्यान देती हैं जो घरेलू निर्यात क्षेत्र में और देश के आयातों का उत्पादन करने वाले विदेशी निर्यात क्षेत्र में (अर्थात इन दोनों क्षेत्रों में) होते हैं । व्यापार की द्विघटकीय शर्तों को मापने वाले सूचक को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है.

$$D = \frac{NZx}{Zm}$$

D = द्वि-घटकीय व्यापार की शर्तें (Double factorial Terms of Trade)

Zx = निर्यात उत्पादकता निर्देशांक

Zm = आयात उत्पादकता निर्देशांक

N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

यह सूचक किसी देश की विनिमय दर के उस परिवर्तन को मापने में सहायक होता है जो निर्यातों का उत्पादन करने वाले घरेलू साधनों की उत्पादक दक्षता तथा उस देश के लिए आयातों का उत्पादन करने वाले विदेशी साधनों की उत्पादक दक्षता में परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता है । किसी देश के व्यापार की द्विघटकीय शती के सूचक का मतलब है कि दूसरे देश में आयातों का उत्पादन करने वाले साधनों की सापेक्षता में निर्यातों का उत्पादन करने वाले साधनों की उत्पादक दक्षता बढ़ गई है ।

इसकी आलोचनाएं : व्यवहार में किसी देश के व्यापार की द्विघटकीय शर्तों के सूचक का हिसाब लगाना सम्भव नहीं है ।

1. **प्रोफेसर डेवन्ज** (Devons) ने इंगलैंड के 1948-53 के बीच व्यापार की एकल घटकीय शर्तों के सूचक में हुए परिवर्तनों का हिसाब लगा लिया था । परन्तु किसी भी देश के व्यापार की द्विघटकीय शर्तों का सूचक निर्मित नहीं किया जा सकता । इसका कारण यह है कि इसमें दूसरे देश के आयात उद्योगों में हुए उत्पादकता परिवर्तनों की घरेलू निर्यात उद्योगों के उत्पादकता परिवर्तनों के साथ माप और तुलना शामिल रहती है ।
2. और फिर, देश के आयातों के उत्पादन के लिए दूसरे देश में उत्पादक साधनों की आवश्यक मात्रा महत्व नहीं रखती, बल्कि महत्वपूर्ण बात तो यह है कि निर्यातों की दी हुई मात्रा के बदले वस्तुओं की कितनी मात्रा आयात की जा सकती है ।
3. अगली बात, यदि उत्पादन में पैमाने के प्रतिफल स्थिर हों और कोई परिवहन लागतें न हों, तो व्यापार की द्विघटकीय शती तथा वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों में कोई अन्तर नहीं है ।
4. **किण्डलबर्गर** का मत है "व्यापार की द्विघटकीय शर्तों की संधारणा की अपेक्षा एकल घटकीय शर्तों की संधारणा अधिक प्रासंगिक है । हमें इस बात से मतलब है कि हमारे साधन कितनी वस्तुएं अर्जित कर सकते है । हमें इस बात से कुछ लेना देना नहीं है कि हमारी साधन सेवाएं विदेशी साधनों की सेवाओं के रूप में क्या प्राप्त कर सकती है । और फिर, जो प्रश्न विदेश में उत्पादकता से सम्बन्ध रखता है वह आयातित वस्तुओं की गुणवत्ता का प्रश्न है ।

(v) व्यापार की वास्तविक लागत शर्तें (Real Cost Terms of Trade)

वाइनर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वास्तविक लाभ मापने के लिए एक व्यापार शर्तों का सूचक भी निर्मित किया है । उसने इसे व्यापार की वास्तविक लागत शर्तों का सूचक कहा है । निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त संसाधनों की प्रति इकाई अनुपयोगिता की मात्रा के सूचक (Reciprocal) को व्यापार की एकल घटकीय शर्तों से गुणा करके उसने यह सूचक निकाला है । इसे यों व्यक्त किया जा सकता है

R = NZx. Rx

R = वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें

N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Zx = निर्यातों की उत्पादकता का निर्देशांक

Rx = निर्यातों के उत्पादन में प्रति

इसकी आलोचनाएं: व्यापार की अनुकूल वास्तविक लागत शर्तें (R) बताती हैं कि निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में शामिल वास्तविक लागत के रूप में आयातों की प्राप्त मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है । परन्तु यह सूचक निर्यात के लिए उत्पादित वस्तुओं के रूप में शामिल उस वास्तविक लागत को मापने में असमर्थ रहता है जिसे घरेलू उपभोग में प्रयुक्त आयातों का भुगतान करने के लिए काम में लाया जा सकता है । इस समस्या को हल करने लिए वाइनर ने व्यापार की उपयोगिता शर्तों का सूचक विकसित किया ।

व्यापार की उपयोगी शर्तें (Utility Terms of Trade)

व्यापार की उपयोगिता शर्तों का सूचक "निर्यातों की एक इकाई के उत्पादन करने की अनुपयोगिता में होने वाले परिवर्तनों को मापता है और उन परिवर्तनों को मापता है जो आयातों द्वारा प्रदत्त सापेक्ष संतुष्टियों में और निर्यात उत्पादन के कारण परित्यक्त घरेलू वस्तुओं में होते हैं । "दूसरे शब्दों में यह आयातों की सापेक्ष उपयोगिता और निर्यातों के उत्पादन के लिए परित्यक्त घरेलू वस्तुओं की सापेक्ष उपयोगिता का सूचक है । व्यापार की उपयोगिता शर्तों के सूचक की गणना करने के लिए व्यापार की वास्तविक लागत शर्तों के सूचक को आयातों की सापेक्ष औसत उपयोगिता के सूचक तथा परित्यक्त घरेलू वस्तुओं के सूचक के साथ गुणा किया जाता है । यदि हम यह माल लें कि औसत उपयोगिता (U) है और निर्यात उत्पादन के निमित संसाधनों का प्रयोग करने के लिए जिन घरेलू वस्तुओं के उपभोग का परित्याग किया वे x हैं, तो

$$U = NZx\ Rx\ U$$

दूसरे रूप में, $$U = \frac{Px}{Pm} Zx\ R$$

समीकरण के प्रयुक्त चिन्हों का अर्थ पूर्ववत् ही है ।

क्योंकि व्यापार की वास्तविक शर्तों के सूचक और व्यापार की उपयोगिता शर्तों के सूचक में मुसीबत, परेशानी और त्याग के रूप में अनुपयोगिता की माप सम्मिलित रहती है, इसलिए ये संधारणाएं भ्रान्तिजनक है । वास्तव में, सुस्पष्ट रूप से अनुपयोगिता (अथवा उपयोगिता) का मापन सम्भव नहीं है ।

इसकी आलोचनाएं: अत: व्यापार की एकल घटकीय तथा द्विघटकीय शर्तों की संधारणा की भांति व्यापार की वास्तविक तथा उपयोगिता शर्तों की संधारणाएं भी व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखती । इनका केवल सैद्धान्तिक महत्व है । यही कारण है कि विकसित तथा विकासशील देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों को मापने के लिए वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों तथा व्यापार की आय शर्तों की संधारणाएं काम में लाई जाती है ।

व्यापार शर्तों की श्रेणियाँ : टॉजिग

प्रो. टॉजिग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों की धारणा को प्रस्तुत किया । यह निर्देशांक आयातों की कुल भौतिक मात्रा (Total physical quantity of imports) को निर्यातों की कुल

भौतिक मात्रा (Total Physical of Exports) के तुलनात्मक अनुपात के रूप में सामने रखता है ।

गणितीय निर्वचन हेतु, यदि

Px_1 = वर्तमान वर्ष के लिए निर्यात मूल्य

Px_0 = आधार वर्ष के निर्यात मूल्य

Pm_1 = वर्तमान वर्ष के आयात मूल्य

Pm_0 = आधार वर्ष के आयात मूल्य

Qx_1 = वर्तमान वर्ष के निर्यात मात्रा

Qm_1 = वर्तमान वर्ष में आयात मात्रा

Qx_0 = आधार वर्ष में निर्यात मात्रा

Qm_0 = आधार वर्ष में आयात मात्रा

सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्त को निम्न सम्बन्ध द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है -

$$= \frac{Qx_1 / Px_1}{Qm_1 / Pm_1} \Big/ \frac{Qm_0 / Pm_0}{Qx_0 / Px_0}$$

$$= \frac{Qx_1 / Qm_1}{Pm_1 / Px_1} \Big/ \frac{Qm_0 / Px_0}{Qx_0 / Pm_0}$$

मार्शल ने व्यापार की शर्तों मैं केवल आयात व निर्यात मूल्यों का विवेचन किया किन्तु टॉजिग ने मूल्यों के साथ निर्यात व आयात की मात्राओं को भी स्पष्ट किया । यदि किसी देश के आयातों की कुल भौतिक मात्रा में वृद्धि होती है तथा निर्यात समान रहते हैं तो व्यापार की शर्तें सुधरेगी तथा विपरीत स्थिति में हासिल होंगी । टॉजिग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों की धारणा में एकपक्षीय हस्तान्तरणों को विशुद्ध व्यापार की शर्तों के साथ संयोजित किया । परन्तु एकपक्षीय हस्तान्तरणों को सम्मिलित करने के उपरान्त भी यह विश्लेषण पूर्ण नहीं है । इसका कारण यह है कि एकपक्षीय हस्तान्तरण तब भी हो सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न हो रहा हो या एकपक्षीय हस्तान्तरणों की उपस्थिति उन घटकों द्वारा भी सम्मव हो सकती है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हटकर हों ।

व्यापार शर्तों की श्रेणियाँ : डोरेंस

डोरेंस ने व्यापार शर्तों की आय धारणा को प्रस्तावित किया । उसने आय पर आधारित व्यापार शर्तों (income of trade) को निर्यातों के मूल्य से आयातों के कीमत निर्देशांक का भाग देकर ज्ञात किया । आय पर आधारित व्यापार शर्तें वस्तुतः विशुद्ध विनिमय व्यापार की शर्तों में सुधार है जिसे आयात की क्षमता (capacity) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । आय पर आधारित व्यापार शर्तों में संकल्पना है कि किसी देश के निवासियों में आयात करने की क्षमता का निर्धारण मुख्यतः उनकी आय द्वारा होता है । स्पष्टीकरण हेतु माना कि साम्य अवस्था में भुगतान सन्तुलन को निम्न सम्बन्ध के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

$$Px.Qx = Pm.Qm$$

तब $$Qm = \frac{Px.Qx}{Pm}$$

उपर्युक्त समीकरण में Qm आयात की क्षमता है । चूँकि Qm,Px.Qx तथा Pm का फलन है, इसलिए Qm का मूल्य इनमें से किसी एक या सभी तीन चरों में होने वाले परिवर्तन से निर्धारित होगा । अतः आयात करने की क्षमता तब अधिक होगी जबकि (a) निर्यातों की कीमत बड़े, (b) निर्यातों की मात्रा बढ़े, या (c) आयातों की कीमत गिरे । परन्तु उपर्युक्त दशा अपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करती है । चूंकि व्यापार की शर्त तुलनात्मक आधार की आवश्यकता रखती है अतः हम आय पर आधारित व्यापार की शर्तों को निम्न प्रकार स्पष्ट करते है।-

$Px_1.Qx_1 = Qm_1$ (i)

$$Qm_1 = \frac{Px_1.Qx_1}{Pm_1}$$

इसी प्रकार $Px_0.Qx_0 = Pm_0.Qm_0$ (ii)

$$Qm_0 = \frac{Px_0.Qx_0}{Pm_0}$$

समीकरण (i) व (ii) से

$$Qm_1 : Qm_0 = \frac{Px_1.Qx_1}{Pm_1} : \frac{Px_0.Qx_0}{Pm_0}$$

$$= \frac{Qm_1}{Qm_0}$$

अतः आय व्यापार शर्त $= \frac{Px_1.Qx_1}{Pm_1} \Big/ \frac{Px_0.Ox_0}{Pm_0}$

$= Qm_1\ Qm_0$

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि समीकरण (ii) विशुद्ध व्यापार की शर्तों मे मात्र निर्यातों की मात्रा की गणना करता है । अतः इम्लाह (Imlah) ने इसे व्यापार को निर्यात लाभ कह कर सम्बोधित किया । पर जब हम भुगतान सन्तुलन की गतियों को भी ध्यान में रखना चाहे तब यदि विशुद्ध व सकल व्यापार की शर्तों के संयोग को प्रदर्शित किया जाय तो इससे व्यापार की शर्तों का अधिक स्पष्ट विवेचन सम्भव होगा ।

व्यापार की शर्त की श्रेणियाँ : प्रो. केसरी दूधा

प्रो. केसरी दूधा विशुद्ध और सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों के संयोग को बाजार व्यापार शर्त (market terms of trade) के रूप में परिभाषित करते है । उन्होंने इसे दो समय अवधियों में निर्यात की मात्रा एवं मूल्य तथा आयात की मात्रा व मूल्य के अनुपात के रूप में व्यक्त किया है । (It may be defined as the ratio of comparison between export volume and value to import volume and value in any two consecutive periods) सूत्र रूप में बाजार व्यापार शर्त को निम्न प्रकार अभिव्यक्त करते हैं-

$$Tt = \frac{Px_1.Qx_1}{Pm_1.Qm_1} : \frac{Px_0}{Pm_0} : \frac{Qx_0}{Qm_0}$$

इस प्रकार व्यापार की शर्तों का निर्धारण दो अवधियों में आयात व निर्यात के मूल्य व मात्राओं के आधार पर भी किया जा सकता है ।

3.7 सारांश

किसी भी देश का कोई भी स्वरूप हो, चाहे देश अमीर हो या गरीब, विकसित हो या अर्द्ध विकसित या विकासशील हो, उसके आर्थिक विकास में व्यापार की शर्तें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है क्योंकि व्यापार की शर्तें राष्ट्रों के आय स्तर ओर उसमें होने वाले परिवर्तनों पर गहरा और दूरगामी प्रभाव डालती है । इसके अलावा, आज की व्यावहारिक आर्थिक नीति की अनेक समस्याओं के समाधान में व्यापार की शर्तों का महत्वपूर्ण योगदान होता है । इसके माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभों को ज्ञात किया जाता है, निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि किसी भी देश को व्यापार से लाभ होता है क्योकि यह निर्यात की दी हुई मात्रा के बदले आयातों की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकता है । दूसरी ओर यदि किसी देश का निर्यात कीमतों की सापेक्षता में आयात कीमतें बढ़ती है, तो कहा जायेगा कि उसकी व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो गई हे, देश का व्यापार से लाभ कम हो जायेगा क्योंकि यह निर्यातों की दी हुई मात्रा के बदले आयातों की पहले से कम मात्रा प्राप्त कर सकेगा । किसी भी राष्ट्र के विभिन्न घटक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति एवं परिवेश, विकसित देशों का विकासशील देशों के प्रति दृष्टिकोण, विकासशील देशों के बीच आपसी तालमेल एवं संगठन की भावना, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक, वित्तीय एवं व्यापारिक संस्थाओं की नीति एवं दृष्टिकोण, देश का राजनैतिक नेतृत्व आदि बातों का भी व्यापार शर्तों पर प्रभाव पड़ता है । और व्यापारिक शर्तें, राष्ट्र के लिये अनुकूल एवम् प्रतिकूल वातावरण निर्मित करती है ।

आधुनिक वैश्वीकरण के युग में तो इसका महत्व और भी बढ़ गया है । व्यापार की शर्तों के द्वारा राष्ट्र के आर्थिक विकास के स्तर में भी बढ़ोतरी होती है । भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा निरन्तर बढ़ रही है । हमारे निर्यातों के मूल्य की तुलना में आयात के मूल्य अधिक होने से व्यापार घाटा भी निरन्तर बढ़ रहा है जिसके कारण देश की व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है जो देश के लिए हानिकारक है । सरकार निरन्तर व्यापार की शर्तों को अनुकूल बनाये रखने के लिये प्रयास कर रही है इसके लिये सरकार द्वारा अनेक कदम उठाये जा रहे हैं जैसे बढ़ते आयात को कम करना, निर्यातों में वृद्धि करना, आयात नियंत्रण व संरक्षणवाद करना, मूल्यों से अस्थिरता में स्थिरता लाना आदि । अत: अनुकूल व्यापार शर्तें देश के लिये लाभकारी होती है ।

3.8 शब्दावली

आयात (Import) : दूसरे देश से आवश्यक वस्तु मंगवाना, आयात कहलाता है ।

निर्यात (Export): विश्व के अन्य देशों को अपने देश से वस्तुयें भेजना, निर्यात कहलाता है ।

व्यापार की शर्तें: व्यापार की शर्त के अधीन उस दर का निर्धारण किया जाता है जिस पर एक देश द्वारा किया गया निर्यात, देश द्वारा किये जाने वाले आयातों से विनिमय करता है ।

विनिमय - साधारण शब्दों में एक देश की सीमाओं के भीतर एक ही मुद्रा चलन में होती है, किन्तु विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न मुद्रा चलन में होती है इसलिये उसे दूसरी मुद्रा में एक निश्चित दर में परिवर्तन करने को विनिमय कहते हैं ।

प्रशुल्क: प्रशुल्क वह कर है जो आयातों पर लगाया जाता है । प्रशुल्क और आयात शुल्क या सीमा शुल्क एक दूसरे के पर्याय शब्द है ।

कोटा : कोटा वस्तु के आयात या निर्यात पर लगाया गया भौतिक प्रतिबन्ध है ।

अवमूल्यन: अवमूल्यन से अभिप्राय किसी देश द्वारा अपनी करेंसी के बाह्य मूल्य को कम करना है अर्थात अवमूल्यन एक देश के समता मूल्य में किया जाने वाला अधोगामी समायोजन है ।

3.9 स्वपरख प्रश्न

1. व्यापार शर्तों का अर्थ समझाइये ।
2. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये:
   1. अनुकूल एवं प्रतिकूल शर्तें
   2. शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें
   3. प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव
   4. वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें
   5. आय व्यापार शर्तें
3. व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते है? व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाले तत्वों को समझाइये ।
4. व्यापार की शर्तों से आपका क्या अभिप्राय है? व्यापार की शर्तों के विभिन्न प्रकारों/कार्य प्रणाली को स्पष्ट
   कीजिए ।
5. व्यापार के लाभ किस प्रकार उत्पन्न होते है? यह किस रूप में व्यापार की शर्तों पर निर्भर करते हैं तथा उनके परिवर्तन द्वारा कैसे मापे जाते है ।
6. विभिन्न प्रकार की व्यापार शर्तों के नामों का उल्लेख करते हुए बताइए कि उनमें कौन सी संधारणा व्यापार से लाभों को निर्दिष्ट करने में सबसे अधिक सहायक है और क्यों?
7. सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों तथा वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का अथवा व्यापार की आय शर्तों तथा निवल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
8. उन साधनों का विवेचन कीजिए जो व्यापार की शर्तों को निर्धारित करते हैं ।

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - डी. एम एल. झिंगन

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - डॉ. मृगेश पाण्डे

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त - डी. एम डी. अग्रवाल

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त - डी. गोपाल सिंह, डी. ओपी गुप्ता

इकाई 4 : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धान्त
(Various Theories of International Trade)

इकाई की रूपरेखा -

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्तों का विकास

4.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषा

4.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

4.5 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख सिद्धान्त

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 स्व-परख प्रश्न

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों का अर्थ, आवश्यकता एवं विकास की जानकारी प्रदान करना ।
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित सिद्धान्तों जी जानकारी प्रदान करना ।
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तुलनात्मक लागतों के अन्तर को ज्ञात करना ।
- उत्पत्ति के साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता को समझाना ।
- दो देशों के मध्य विनिमय की जाने वाली वस्तुओं का सही अनुपात निर्धारण के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करना

4.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न होता है । दो देशों की व्यापार प्रणाली में भिन्नता, राष्ट्रीय नीतियाँ, नेतृत्व में भिन्नता, मुद्रा प्रणाली में भिन्नता, व्यापारिक नीतियों में भिन्नता, व्यापार नियन्त्रण की नीतियों में भिन्नता आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से अलग करते हैं । दो देशों में दूरी महत्त्वपूर्ण होती है, उनमें होने वाला व्यापार जलमार्ग या वायुमार्ग से ही हो सकता है जिसमें लागत तथा जोखिम दोनों विद्यमान होते हैं जबकि आन्तरिक व्यापार में परिवहन की समस्या नहीं होती है । सरकार देश में परिवहन साधनों का विकास कर व्यापार को आसान बनाती है । विभिन्न देशों की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के आधार पर व्यापार सम्बन्धी नीतियाँ बनाती है । ये नीतियाँ प्रत्येक देश द्वारा अपने हित को ध्यान में रखते हुए बनायी जाती है । प्रत्येक देश द्वारा उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन तथा निर्यात किया जाता है जिससे सम्बन्धित

कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है तथा उत्पादन लागत भी तुलनात्मक रूप से कम होती है ।

4.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्तों का विकास

सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यापारवादी विचारधारा का विकास पश्चिमी यूरोप में सन व 500 से लेकर 1750 तक हुआ । इस युग में आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ । राष्ट्रवाद के उद्देश्य को पूरा करने के लिऐ आर्थिक समृद्धि को आधार बनाया गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से ही किसी राष्ट्र को समृद्ध बनाया जा सकता है । वाणिज्य वादी अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए औद्योगिक विकास पर बल दिया तथा उन पर सरकारी नियन्त्रण को सही माना गया । इन अर्थशास्त्रियों ने अपने उद्देश्यों के सन्दर्भ में व्यापार सन्तुलन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार विदेशी व्यापार से एक राष्ट्र तभी लाभ प्राप्त कर सकता है जब उसका व्यापार सन्तुलन अनुकूल है तथा उसके निर्यातों का मूल्य आयातों से अधिक है । व्यापार सन्तुलन तथा भुगतान सन्तुलन का 'प्रयोग भी इस सिद्धान्त में किया गया । इस विचारधारा के आधार पर व्यापारी न केवल वस्तुओं का मूल्य लेते थे बल्कि माल परिवहन का भाड़ा, बीमा भुगतान, यात्रा व्यय, विदेशों में कूटनीतिक एवं सैनिक व्यय भी जोड़ कर भुगतान प्राप्त करते थे । वाणिज्यवादियों का संतुलन व्यापार सन्तुलन न होकर भुगतान संतुलन था ।

इसके पश्चात् **एडम स्मिथ** ने स्वतन्त्र व्यापार की विचारधारा का विकास किया उन्होंने एक व्यक्तिवादी आर्थिक प्रणाली का निर्माण किया जिसमें सरकारी नियन्त्रण को अनावश्यक बताया । उनके अनुसार स्वतन्त्र व्यापार आर्थिक विकास दे गे पहली शर्त है, स्वतन्त्र व्यापार के कारण ही एक देश उन वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है जो न्यूनतम् लागत पर तैयार की जाती है । श्रम विभाजन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ होता है । एडम स्मिथ ने निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । प्रो० जे० एस० मील के पारस्परिक मांग के सिद्ध का विकास किया और यह स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा है, आर्थिक, शक्तियाँ किसी बाजार विशेष में वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण करती हैं । ये शक्तियाँ ही विनिमय दर को प्रभावित कर मूल्यों को करती हैं । इसके पश्चात सेनु अलसन ने एक नये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की रचना की और यह बताया कि साधनों की कीमतों में समानता स्थापित होने के बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक रहता है । उनके अनुसार जब तक देश में आंशिक विशिष्टीकरण है अर्थात् तब तक कोई भी देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं की गतिशीलता साधनों की गतिशीलता को पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित करती रहती हैं ।

4.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषा

सिद्धान्त किसी भी क्रिया को संगठित एवं संचालित करने की ऐसी विधि है जो. उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सर्वथा आवश्यक होती ई : । सिद्धान्त वे आधारभूत तथ्य होते हैं जिन्हें उस क्रिया पर सार्वभौमिक रूप से लागू किया जाता है । इसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को संगठित एवं संचालित करने की ऐसी विधि है जो देशों के व्यापारिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक होती है । ये सिद्धान्त दो देशों को व्यापार करने के निर्देश

प्रदान करते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जटिलताओं को समझने एवं हल करने के लिए निश्चित सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है ।

रिकॉर्डो के अनुसार, "जब दो देश वस्तुओं का उत्पादन सापेक्षिक रूप से विभिन्न श्रम लागतों के आधार पर करते है तो प्रत्येक देश के लिए लाभदायक होगा कि वह उन वस्तुओं में विशिष्टीकरण करे जिनकी लागत सापेक्षित रूप से न्यूनतम है ।"

मिल के अनुसार, "वस्तुओं के बीच व्यापार होने का वास्तविक अनुपात एक देश की अन्य देश की वस्तु के लिए माँग की लोच अथवा पारस्परिक माँग पर निर्भर करता है ।"

4.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक । ऐसे तत्व तथा कारण होते हैं जो इसके लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं । दो देशों - के मध्य आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भिन्नताएँ व्यापारिक प्रणालियों में भिन्नता लाती हैं । किन्तु इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं । इन विचारों का वर्णन निम्नलिखित है-

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की विचारधारा : प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों जैसे **एडम स्मिथ. माल्थस. रिकार्डो, जे.एस. मिल** आदि का मानना है कि आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मौलिक अन्तर होता है । उन्होंने यह स्पष्ट किया कि एक देश के भीतर श्रम और पूँजी में पूर्ण गतिशीलता पायी जाती है किन्तु विभिन्न देशों में श्रम और पूँजी के मध्य यह गतिशीलता नहीं पायी जाती है । गतिशीलता का अभाव ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है । इसके अतिरिक्त भिन्न राष्ट्रीय नीतियाँ, भिन्न राजनैतिक इकाइयाँ, मुद्रा इकाई में भिन्नता तथा भिन्न व्यापारिक नीतियाँ, जैसे तटकर नीति, विनिमय नियन्त्रण, कोटा प्रणाली आदि ऐसे तत्व हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से अलग कर देते हैं । इस आधार पर उक्त अर्थशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि एक देश में वस्तुओं के विनिमय के लिए जो दशाएँ लागू होती हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाग नहीं होती हैं अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हेतु पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है । प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पक्ष में अनेक कारण दिये है जिनका विवेचन अग्रलिखित हैं :-

1. **बाजारों की पृथकता :** आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों के बाजारों में पृथकता पायी जाती है । एक देश के बाजारों में भाषा, रीति-रिवाज, आदत, माप-तौल और रूचि-फैशन आदि में वह अन्तर नहीं पाया जाता है जो दो देशों के बाजारों में पाया जाता है । इस कारण से विदेशी बाजार, देश के बाजार से अलग हो जाता है।
2. **समूहों की भिन्नता :** अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में होने वाला व्यापार विभिन्न लोगों के समूहों के बीच होता है जबकि आन्तरिक व्यापार समान लोगों के समूहों के बीच होता है । इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता होती है ।
3. **साधनों में गतिशीलता का अभाव :** प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मतानुसार एक देश के भीतर एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे उत्पादन क्षेत्र में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में श्रम एवं पूँजी में गतिशीलता पायी जाती है किन्तु दो देशों के मध्य श्रम एवं पूँजी में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है ।

4. **राजनैतिक इकाइयों की भिन्नता :** आन्तरिक व्यापार एक देश की सीमाओं के मध्य होता है जो एक सरकार के अधीन होता है । जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो देशों के बीच होता है जिनकी सरकारें अलग-अलग होती हैं । एक देश की सरकार अपने नागरिकों के हितों तथा कल्याण को प्रमुखता देती है । इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संघर्ष होता है ।
5. **भिन्न राष्ट्रीय नीतियाँ एवं हस्तक्षेप :** एक देश के आन्तरिक व्यापार में उद्योग, वाणिज्य और कर निर्धारण सम्बन्धी नीतियाँ समान रहती हैं । सरकार भी आन्तरिक व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करती है । जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापारिक नीतियों एवं कानूनों में अन्तर पाया जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सरकार, कर निवेश, अभ्यशं प्रणाली, विनिमय दरों का निर्धारण एवं नियन्त्रण सम्बन्धी कई प्रकार के हस्तक्षेप करती
6. **मुद्रा प्रणाली में भिन्नता :** आन्तरिक व्यापार में एक देश में एक ही मुद्रा प्रणाली होती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो देशों की मुद्रा प्रणाली में अन्तर पाया जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी विनिमय एवं विनिमय दर निर्धारण की आवश्यकता होती है । मौद्रिक नीति को संचालित एवं नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है जिसकी नीतियाँ अलग-अलग होती है । इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है ।
7. **परिवहन के साधनों की आवश्यकता :** आन्तरिक व्यापार में परिवहन के साधनों का विकास सरकार करती है अत: व्यापार में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है । जबकि विदेशी व्यापार जल मार्ग तथा वायु मार्ग से होता है और एक देश द्वारा दूसरे देश की सीमा का प्रयोग किया जाता है इसके लिए उस देश की पूर्वानुमति आवश्यक होती है ।
8. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ विशिष्ट समस्याऐं :** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तरलता की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की समस्याएँ, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की उत्पत्ति जैसे यूरोपीयन साझा व्यापार का उद्भव, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का आवगमन आदि विशिष्ट समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो आन्तरिक व्यापार में कभी भी उत्पन्न नहीं होती हैं अत: इसके लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है ।

उक्त सभी कारणों से प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त के औचित्य को प्रतिपादित किया ।

प्रो. ओहलिन का दृष्टिकोण : स्वीडन के अर्थशास्त्री प्रो० बर्टिल ओहलिन की मान्यता है कि अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के लिये पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है । प्रो0 ओहलिन ने बताया कि आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता होती है । उनके अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अर्न्तक्षेत्रीय व्यापार की केवल एक विशिष्ट दशा है । इस आधार पर स्पष्ट करते हैं कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही लागू नहीं होता है वरन् सभी प्रकार के व्यापारों पर लागू होता है चाहे वह एक देश के विभिन्न क्षेत्रों में हो या दो भिन्न राष्ट्रों में हो । ओहलिन का कहना है कि यदि मार्शल के मूल्य सिद्धान्त के समय तत्व को स्थान तत्व में परिवर्तित कर दिया जाये तो इस मूल्य सिद्धान्त को सरलता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू

किया जा सकता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थान तत्व महत्त्वपूर्ण है और मूल्य सिद्धान्त में इसे शामिल किया जाना चाहिये । आर्थिक जीवन में 'स्थान तत्व' के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं.

(1) उत्पत्ति के साधन सामान्य रूप से कुछ स्थानों तक सीमित रहते हैं ।

(2) वस्तुओं के स्वतन्त्र प्रवाह में परिवहन लागत एवं अन्य बाधक तत्वों से गतिरोध उत्पन्न होता है ।

ओहलिन का मत है कि उत्पत्ति के साधन विशेष स्थानों में सीमित न होकर जिलों में स्थित रहते हैं । जिला होने के लिए दो शर्तों का पूरा होना जरूरी है :-

(अ) जिलों में पर्याप्त विभिन्नता होनी चाहिए और

(ब) एक जिले में कम विभिन्नता होनी चाहिए ।

ओहलिन उक्त दो शर्तों को पूरा करने वाले जिले को एक क्षेत्र कहते हैं जिसका उनकी व्याख्या में महत्वपूर्ण स्थान है । इस आधार पर यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि उत्पत्ति के साधन एक क्षेत्र के अन्दर अधिक गतिशील होते हैं तथा विभिन्न क्षेत्रों में उनमें गतिशीलता का अभाव पाया जाता है । इस प्रकार क्षेत्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अन्तर नहीं होता है । अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के विरोध में ओहलिन ने निम्नलिखित तर्क दिये है:

1. **तुलनात्मक लागत का सम्बन्ध :** प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तुलनात्मक लागत का अन्तर है । किन्तु ओहलिन के मतानुसार तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही लागू नहीं होता है वरन् आन्तरिक व्यापार में भी लागू होता है जहाँ एक देश के दो क्षेत्रों अथवा दो व्यक्तियों के बीच व्यापार होता है । जब एक देश के दो क्षेत्रों के बीच व्यापार होता है तो दोनों क्षेत्र दो भिन्न वस्तुओं का उत्पादन इसलिए करते हैं क्योंकि उनकी तुलनात्मक लागत कम होती है । डेविड रिकार्डो का कहना है कि दो व्यक्ति जूता और टोपी दोनों वस्तुओं को बना सकते हैं किन्तु टोपी बनाने में अपने प्रतियोगी की तुलना में 20 प्रतिशत अधिक कुशल है किन्तु जूता बनाने में वह 40 प्रतिशत अधिक कुशल है तो दोनों व्यक्तियों के हित में यही होगा कि अधिक कुशल व्यक्ति जूतों का निर्माण एवं उत्पादन करे तथा कम कुशल व्यक्ति टोपियों का निर्माण करे ।

   ओहलिन के मतानुसार, "क्षेत्र एवं राष्ट्र एक दूसरे के साथ विशिष्टीकरण एवं व्यापार उन्हीं कारणों से करते हैं जिनके कारण व्यक्ति विशिष्टीकरण एवं व्यापार करते हैं । कुछ व्यक्ति अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण किसी कार्य के लिए दूसरों की तुलना में अधिक उपयुक्त होते है । एक व्यक्ति अच्छा बागवान हो सकता है । दूसरा अच्छा शिक्षक तथा तीसरा श्रेष्ठ डाक्टर हो सकता है । इस प्रकार विशिष्टीकरण का लाभ स्पष्ट है । यहाँ तक कि यदि प्रत्येक व्यक्ति योग्यता में समान होता तो भी विशिष्टीकरण लाभदायक होता ।"

2. **श्रम एवं पूँजी की गतिशीलता का सम्बन्ध :** ओहलिन का कहना है कि उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव केवल दो देशों के मध्य ही नहीं पाया जाता है वरन् एक देश के दो क्षेत्रों में भी गतिशीलता का अभाव पाया जाता है। एक देश के अन्दर पूँजी को भी एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे उत्पादन क्षेत्र तक आसानी से स्थानान्तरित नहीं

किया जा सकता है। **प्रो. जे.इ. केयरन्स** के अनुसार यह कहना सत्य नहीं है कि उत्पत्ति के साधन देश में पूर्ण गतिशील तथा विभिन्न देशों में पूर्ण अगतिशील होते हैं। उन्होंने अप्रतियोगी समूहों की व्याख्या की कि जिस प्रकार दो देशों में अप्रतियोगी समूह होते हैं उनमें कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं होती। है उसी प्रकार एक देश में भी ऐसे अप्रतियोगी समूह होते हैं जिनमें गतिशीलता का अभाव होता है। एक देश में भाषा, जाति, जलवायु, और सामाजिक रीतिरिवाजों में इतनी भिन्नता रहती है उसके कारण श्रमिकों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है। **प्रो. विलियमस** के अनुसार, "कभी-कभी देश की सीमाओं के बाहर बड़े पैमाने पर उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता पायी जाती है।" **एडम स्मिथ** ने भी उत्प्रवासन के महत्व की विवेचना की तथा **प्रो. जे. एस. मिल** ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि पूँजी देशों के मध्य अधिक गतिशील तथा सार्वभौमिक हो रही है। हमारे भारत के डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, चार्टैड अकाउन्टेन्ट और व्यापारी विदेशों में कार्य कर रहे हैं तथा विदेशी पूँजी भी भारत के उद्योगों तथा शेयर बाजार में विनियोजित हो रही है। इसी प्रकार भारतीय उद्योगपति दूसरे देशों के उद्योगों को खरीद रहे हैं तथा उनमें पूँजी विनियोजित कर रहे हैं।

3. **विभिन्न मुद्राओं के चलन का सम्बन्ध :** प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त का औचित्य इसलिए बताया क्योंकि दो देशों में मुद्रा प्रणाली का चलन अलग-अलग होता है। जब उन देशों में व्यापार होता है तो विनिमय दर की आवश्यकता होती है जबकि एक देश के व्यापार में एक ही मुद्रा चलन में होती है। ओहलिन ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने बताया कि विनिमय दर स्वतन्त्र न होकर देश की आन्तरिक क्रयशक्ति से प्रभावित होती है और एक ही राष्ट्र में दो भिन्न मुद्राएं भी चलन में पायी जाने के उदाहरण मौजूद है। आजादी से पूर्व हैदराबाद की चलन प्रणाली शेष भारत की चलन प्रणाली से भिन्न थी फिर भी इन दोनों मुद्राओं में विनिमय होता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं होती है।
4. **आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दोनों अदल-बदल ही है :** आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दोनों में वस्तु विनिमय का स्वरूप पाया जाता है, इसलिए दोनों में अन्तर करना उचित प्रतीत नहीं होता है किन्तु मुद्रा की उपस्थिति ने विनिमय को सरल एवं सुविधाजनक बना दिया है।

   ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के विरोध में जो उपर्युक्त तर्क दिये हैं उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो सिद्धान्त आन्तरिक व्यापार पर लागू होते हैं वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए भिन्न मूल्य सिद्धान्त का विरोध करते हुए ओहलिन कहते हैं जो मूल्य सिद्धान्त एक देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच व्यापार का विश्लेषण करता है वही सिद्धान्त विभिन्न देशों के बीच व्यापार की भी व्याख्या करता है।

   अत: मूल्य का सामान्य सन्तुलन का सिद्धान्त एक देश के व्यापार पर भी लागू होता है तथा दो देशों के मध्य व्यापार पर भी लागू होता है। राजनैतिक सीमाओं को भी पृथक

व्यापार सिद्धान्त का आधार नहीं माना जा सकता है क्योंकि समय-समय पर राजनैतिक सीमाएँ भी बदलती रहती हैं।

4.5 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख सिद्धान्त

प्रो. हेबरलर के अनुसार विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हेतु चार सिद्धान्त प्रचलित हैं जो इस बात की व्याख्या करते हैं कि दो देशों में निर्यात तथा आयात क्यों होते हैं तथा वे कौनसी स्थितियाँ हैं जिसके अनुसार एक देश से विशिष्ट वस्तु का आयात तथा निर्यात किया जाता है। ये चारों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारणों की व्याख्या करते हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

1. तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Comparative Cost Theory)
2. पारस्परिक मांग एवं पूर्ति का सिद्धान्त (Mutual Demand & Supply Theory)
3. आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory)
4. आशिक समय का सिद्धान्त (Partial Time Theory)

1. तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के प्रयोग पर आधारित है। इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने किया तथा इसका विकास **प्रो0 जे. एस. मिल, प्रो. केयरंस तथा प्रो. बेस्ट बेल** ने किया। 19वीं शताब्दी में दो अर्थशास्त्रियों **डेविड रिकार्डो** एवं **जे. एस. मिल** ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारणों की व्याख्या की। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित तीन विचारणीय बिन्दु हैं :

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता
2. दो देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करना
3. विनिमय दरों का निर्धारण

उक्त बिन्दुओं में से दूसरे बिन्दु की व्याख्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त करता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार दो देशों में उत्पत्ति के साधनों में भिन्नता का होना है। स्वतन्त्र व्यापार की दशा में प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा जिनके लिए उसके पास साधन उपलब्ध हैं क्योंकि उन वस्तुओं का उत्पादन सापेक्षिक रूप से अधिकतम लाभ अर्थात् न्यूनतम तुलनात्मक लागत के आधार पर किया जा सकता है। एक देश जिन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है उसे वह निर्यात करेगा। उन वस्तुओं का आयात करेगा जिन्हें वह तुलनात्मक रूप से कम लागत पर तैयार नहीं कर सकता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का परस्पर विनिमय उनमें लगे श्रम के आधार पर होता है। इन अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक लागत को श्रम के समय के रूप में व्यक्त किया अर्थात् किसी वस्तु का मूल्य उसकी श्रम लागत पर निर्भर रहता है। किसी उद्योग में वस्तु की कीमत उसमें लगे हुए श्रम मूल्य से अधिक रहती है तो अन्य उद्योगों से श्रम उस उद्योग की ओर प्रवाहित होने लगता है जिससे उद्योग में श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है तथा कीमत अन्त में श्रम मूल्य के बराबर हो जाती है। इस प्रकार देश में मजदूरी की प्रवृत्ति समान रहती है। किन्तु

रिकार्डो की मान्यता है कि दो विभिन्न देशों में मूल्य की प्रवृत्ति समान होने की नहीं होती है क्योंकि इन देशों में उत्पत्ति के साधनों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गतिशीलता नहीं पायी जाती है। रिकार्डो के अनुसार इन देशों में व्यापार तुलनात्मक लागत के आधार पर होता है। जब दो देश वस्तुओं का उत्पादन श्रम लागत के आधार पर करते हैं तो प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है जिनकी लागत सापेक्षिक रूप से न्यूनतम है। प्रो. रिकार्डो ने श्रम लागत सिद्धान्त को निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित किया 'है :

(1) केवल श्रम ही उत्पत्ति का साधन है।

(2) समस्त श्रम एक ही प्रकार का है।

(3) देश में श्रम पूर्णरूप से गतिशील है।

(4) श्रमिकों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

रिकार्डो ने इन मान्यताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि देश के सभी क्षेत्रों में श्रम का वितरण इस प्रकार होता है कि प्रत्येक स्थान पर उसकी सीमान्त उत्पादकता मजदूरी के बराबर रहती है। जबकि श्रम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गतिशील नहीं होता है अत: उक्त नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू नहीं होता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या-

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में भिन्न-भिन्न लाभ होता है। इन लाभों को उस देश की जलवायु, अनुकूल भूमि, कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, तकनीकी प्रगति, अधिक कार्यकुशल श्रम शक्ति आदि तत्व मिलकर निर्धारित करते हैं।

जेकब वाइनर के अनुसार, 'यदि स्वतन्त्र व्यापार होता है तो प्रत्येक देश दीर्घकाल में उन वस्तुओं के उत्पादन और निर्यात में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है जिनके उत्पादन में उसे वास्तविक लागतों के सन्दर्भ में तुलनात्मक लाभ होता है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनके उत्पादन में उसे वास्तविक लागतों के सन्दर्भ में तुलनात्मक रूप से कम लाभ प्राप्त होता है इस प्रकार का विशिष्टीकरण आपस में व्यापार करने वाले देशों के लिए लाभदायक रहता है।

मार्शल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या की है उनके अनुसार, "यदि ऐसी वस्तुओं को जिनका उत्पादन देश में किया जा सकता है, विदेशों से स्वतन्त्र आयात किया जाता है तो यह इस बात का सूचक है कि इन वस्तुओं को देश में उत्पादन करने की जो लागत आती उसकी अपेक्षा इन वस्तुओं को विदेशों से अन्य वस्तुओं बदले मंगाने में कम लागत लगती है।"

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागतों में भिन्नता की धारणा पर आधारित है। लागतों में निम्न तीन प्रकार का अन्तर किया जा सकता है-

1. लागतों में निरपेक्ष अथवा पूर्ण अन्तर
2. लागतों में समान अन्तर
3. लागतों में तुलनात्मक अन्तर

उपर्युक्त लागतों में प्रथम एवं तृतीय के अर्न्तगत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है तथा द्वितीय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है अर्थात् लागतों में समान अन्तर होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है।

1. **लागतों में निरपेक्ष अन्तर :** लागतों में निरपेक्ष अन्तर वह स्थिति है जिसमें एक देश दो वस्तुओं में से एक वस्तु को दूसरे देश की तुलना में निरपेक्ष रूप से कम लागत पर उत्पादित कर सकता है। रिकार्डो की यह मान्यता है केवल दो देशों के बीच दो वस्तुओं का व्यापार होता है। यहाँ भारत और श्रीलंका दो देशों का काल्पनिक उदाहरण लेंगे तथा गेहूँ व चावल दो वस्तुओं को लेंगे। दोनों देशों में श्रमिक दस घण्टे कार्य करता है तथा गेहूँ एवं चावल की निम्न इकाइयों का उत्पादन करता है जिसे तालिका 1 में दिखाया गया है :

तालिका - 1

देश	उत्पादन (इकाइयों में)	
	गेहूँ	चावल
भारत	**10**	**5**
श्रीलंका	**5**	**10**

उपरोक्त तालिका 1 से स्पष्ट होता है कि 10 घण्टे के श्रम से भारत में गेहूँ और चावल की क्रमश और 5 इकाइयाँ पैदा की जा सकती है। इतने ही श्रम से श्रीलंका में गेहूँ तथा चावल की क्रमशः 5 और 10 इकाइयाँ पैदा की जा सकती हैं। भारत में गेहूँ और चावल की लागत का अनुपात 10 : 5 या 2 : 1 है जबकि श्रीलंका में गेहूँ तथा चावल का अनुपात 5 : 10 या 1 : 2 है। इस लागत के आधार पर प्रत्येक देश में दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। भारत में एक इकाई चावल को गेहूँ की दो इकाईयों के बदले में प्राप्त किया जा सकता है तथा श्रीलंका में गेहूँ की एक इकाई को चावल की दो इकाइयों के बदले में प्राप्त किया जा सकता है। भारत को गेहूँ के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा श्रीलंका को चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है। यदि भारत केवल गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा गेहूँ के बदले में श्रीलंका से चावल खरीदे एवं श्री लंका चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करें तथा बदले में भारत से गेहूँ खरीदे तो दोनों देशों को लाभ होगा। यह मान लिया जाता है कि परिवहन लागतें विद्यमान नहीं होती हैं। भारत से गेहूँ की दो इकाईयों का निर्यात करके चावल की चार इकाईयों प्राप्त की जा सकती है। जबकि भारत में गेहूँ की दो इकाईयों के बदले में चावल की एक इकाई प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार श्रीलंका चावल की दो इकाईयों के निर्यात करके गेहूँ की चार इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है। जबकि भारत में गेहूँ की दो इकाईयों के बदले में चावल की एक इकाई प्राप्त होती है। यदि दोनों देशों के बीच व्यापार होगा तो दोनों देशों को लाभ होगा।

विशिष्टीकरण के बिना– दोनों देशों का कुल उत्पादन इस प्रकार होगा

भारत 10इकाई गेहूँ + 5 इकाई चावल

श्रीलंका 5 इकाई गेहूँ + 10 इकाई चावल

कुल उत्पादन 15 इकाई गेहूँ 15 इकाई चावल

विशिष्टीकरण के बाद भारत केवल गेहूँ का तथा श्रीलंका केवल चावल का उत्पादन करे तो कुल उत्पादन इस प्रकार होगा।

भारत 20 इकाई गेहूँ

श्रीलंका 20 इकाई चावल

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण से गेहूँ तथा चावल दोनों के उत्पादन में 5-5 इकाई वृद्धि हो गयी है।

2. **लागतों में समान अन्तर :** जब दो देशों में वस्तु के उत्पादन की परिस्थितियाँ समान होती है तथा उनका लागत व्यय भी समान रहता है तो उसे लागतों में समान अन्तर कहा जाता है। समान लागत होने पर दो देशों के बीच व्यापार नहीं होगा क्योंकि विशिष्टीकरण से दोनों देशों को कोई लाभ नहीं होगा। दो देशों में लागतों में समान अन्तर को नीचे दिये गये उदाहरण से प्रस्तुत किया गया है। दोनों देशों में प्रत्येक श्रमिक दस घण्टे कार्य करता है एवं गेहूँ और चावल की निम्न इकाइयाँ उत्पादित करता है :

तालिका - 2

देश	उत्पादन (इकाइयों में)	
	गेहूँ	चावल
भारत	10	20
श्रीलंका	20	40

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में गेहूँ व चावल की लागत का अनुपात 1 : 2 है तथा श्री लंका में भी गेहूँ एवं चावल की लागत का अनुपात 1. 2 है। इसके आधार पर भारत में गेहूँ की 1 इकाई के बदले चावल की दो इकाइयाँ प्राप्त की जा सकती है। श्रीलंका में भी गेहूँ व चावल का लागत अनुपात 1 : 2 है। ऐसी स्थिति में दोनों देशों में व्यापार नहीं होगा।

3. **लागतों में तुलनात्मक अन्तर :** जब एक देश को दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त होती है यद्यपि यह श्रेष्ठता एक वस्तु के उत्पादन में अधिक तथा दूसरी वस्तु में कम रहती है तो इसे लागतों में तुलनात्मक अन्तर कहते हैं! रिकार्डो का मानना है कि लागतों में तुलनात्मक अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पर्याप्त कारण है। एक देश उन वस्तुओं का 'निर्यात करेगा जिनमें उसे तुलनात्मक रूप से अधिक लाभ है तथा उन वस्तुओं का आयात करेगा जिनमें उसे कम लाभ है। एक देश दूसरे देश की तुलना में हर वस्तु के उत्पादन में पूर्ण रूप से या अधिक कुशल हो सकता है दूसरा देश प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण रूप से अकुशल हो सकता है किन्तु दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक कुशलता भिन्न-भिन्न है, तो भी दोनों देशों में व्यापार होगा। उदाहरण के लिए भारत ओर श्रीलंका में प्रत्येक श्रमिक 10 घण्टे कार्य करता है तथा गेहूँ और चावल की निम्न इकाइयों का उत्पादन करता है।

तालिका - 3

10 घण्टे श्रम का उत्पादन

देश	उत्पादन (इकाइयों में)	
	गेहूँ	चावल
भारत	10	10
श्रीलंका	4	8

तालिका 3 से स्पष्ट है कि भारत को श्रीलंका की तुलना में गेहूँ और चावल दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है। किन्तु चावल की तुलना में गेहूँ के उत्पादन में अधिक लाभ है क्योंकि यहां गेहूँ के उत्पादन में श्री लंका की तुलना में उसकी श्रेष्ठता ढाई गुना है। चावल के उत्पादन में यह श्रेष्ठता सवा गुना है। श्रीलंका को दोनों वस्तुओं के उत्पादन में हानि है किन्तु उसकी लागत की तुलनात्मक हानि गेहूँ की तुलना में चावल में कम है। व्यापार न होने की स्थिति में दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात निम्न होगा :-

भारत में	1 इकाई गेहूँ	1 इकाई चावल
श्रीलंका	1 इकाई गेहूँ	2 इकाई चावल

परन्तु यदि दोनों देशों में व्यापार होता है तो उससे दोनों देश को लाभ होता है। भारत केवल गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा श्री लंका केवल चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करें तो दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। भारत 1 इकाई गेहूँ के बदले में श्रीलंका से 2 इकाई चावल प्राप्त कर सकता है। जबकि श्रीलंका 1 इकाई चावल के बदले में भारत से 1 इकाई गेहूँ प्राप्त कर सकता है। अपने देश में श्रीलंका 1 इकाई चावल के बदले में केवल आधा इकाई गेहूँ प्राप्त कर सकता है। यदि दोनों देशों के मध्य व्यापार होगा तो दोनों को लाभ प्राप्त होगा। यह दोनों देशों के हित में है कि भारत केवल गेहूँ का उत्पादन करे तथा श्रीलंका केवल चावल का उत्पादन करे। उक्त विशिष्टीकरण से कुल उत्पादन में वृद्धि को नीचे दर्शाया गया है -

भारत	10इकाई गेहूँ +	10 इकाई चावल
श्रीलंका	4 इकाई गेहूँ +	8 इकाई चावल
	14इकाई गेहूँ	18इकाई चावल

यदि भारत केवल गेहूँ तथा श्रीलंका केवल चावल का उत्पादन करें तो

भारत-	20 इकाई गेहूँ
श्रीलंका-	16 इकाई चावल

इस विशिष्टीकरण से गेहूँ की 6 इकाइयों का अधिक उत्पादन हुआ तथा चावल के उत्पादन में 4 इकाइयों की कमी हुई किन्तु इस हानि की तुलना में गेहूँ का उत्पादन 6 इकाई अधिक हुआ है।

अंत में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार केवल न्यूनतम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन करना ही नहीं है वरन् उन वस्तुओं का उत्पादन करना है जिन्हें कोई देश अधिकतम सापेक्षिक लाभ अर्थात् न्यूनतम तुलनात्मक लागत पर तैयार कर सकता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताऐं -

प्रो. रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित मान्यताओं के आधार पर की हैं :

1. व्यापार करने वाले केवल दो देश होते हैं जिनमें दो वस्तुओं का विनिमय होता है।
2. दोनों देशों में केवल दो वस्तुओं का ही उत्पादन किया जाता है।
3. श्रम उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है तथा अन्य साधनों को श्रम में समाहित मान लिया जाता है।
4. दोनों देशों में वस्तु विनिमय होता है।
5. वस्तु का विनिमय उत्पादन में लगे श्रम के मूल्य के आधार पर किया जाता है।

6. इस सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त है।
7. दोनों देशों में स्थिर लागत अनुपात के अन्तर्गत उत्पादन होता है।
8. देश में उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण गतिशीलता पायी जाती है।
9. दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है।
10. परिवहन लागतों का अभाव पाया जाता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय सिद्धान्त रहा है। प्रथम विश्वयुद्ध तक इसकी कोई आलोचना नहीं की गई किन्तु इसके बाद इस सिद्धान्त में कुछ सुधार किये गये और पूरक सिद्धान्तों का विकास किया गया। प्रो० हेबरलर, प्रो. ओहलिन ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। ये आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. **मूल्य के श्रम सिद्धान्त की मान्यता दोषपूर्ण है :** इस सिद्धान्त में श्रम को ही लागत का प्रमुख आधार माना गया है अर्थात् वस्तुओं का विनिमय श्रम लागत अनुपात में ही किया जाता है किन्तु श्रम उत्पादन का अकेला साधन नहीं है। श्रम के साथ अन्य उत्पादन के साधनों का भी उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान होता है :
2. **श्रमिकों में समरूपता सम्भव नहीं :** मूल्य के श्रम सिद्धान्त की एक निहित मान्यता यह है कि सब श्रमिक एक समान होते हैं किन्तु यह मान्यता गलत है क्योंकि सभी श्रमिकों में एकरूपता नहीं होती है अत: श्रम के आधार पर लागत की तुलना नहीं की जा सकती।
3. **उत्पादन समता नियम की मान्यता अव्यवहारिक है :** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ढाँचे के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उत्पादन समता नियम की मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती है। यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि एक देश केवल उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में उसे विशिष्टीकरण हासिल है जबकि यह व्यवहारिक रूप से नहीं पाया जाता है।
4. **परिवहन व्यय की अवहेलना :** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में परिवहन लागत पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिवहन लागतें लागत का महत्वपूर्ण भाग होती हैं।
5. **दो से अधिक देशों पर यह सिद्धान्त लागू नहीं :** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निष्कर्ष उसी दशा में लागू होते हैं जब इन्हें केवल दो वस्तुओं तथा दो देशों पर लागू किया जाये। इस सिद्धान्त को दो से अधिक देशों तथा दो से अधिक वस्तुओं पर लागू नहीं किया जा सकता है।
6. **साधनों की गतिशीलता की मान्यता अव्यवहारिक :** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक आलोचना यह भी है कि यह एक देश में उत्पादन के साधनों को पूर्ण गतिशील मानता है और दो देशों के बीच इन साधनों को पूर्ण अगतिशील मानता है। जबकि प्रो. ओहलिन ने उक्त विचार का खण्डन किया है और बताया कि एक देश में भी उत्पादन के साधनों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है।
7. **माँग की दशाओं की अवहेलना :** तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त एक पक्षीय है यह केवल पूर्ति पक्ष पर विचार करता है। वस्तु माँग पक्ष पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। यह सिद्धान्त

केवल यह बताता है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश किस वस्तु को बेचेगा तथा दूसरा देश किस वस्तु को खरीदेगा। यह सिद्धान्त पूर्ति पक्ष पर आधारित होने के कारण अपूर्ण है। इस सिद्धान्त में यह मान्यता ली गई है माँग कीमत को प्रभावित नहीं करती है जबकि यह गलत है माँग पूर्णरूप से कीमत को प्रभावित करती है।

8. **लोचपूर्ण बाजार एवं स्थिर कीमतों की तथ्यहीन कल्पना :** तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त लोचपूर्ण बाजार एवं स्थिर कीमतों को मान कर चलता है। एक देश तुलनात्मक लाभों की कल्पना उसी समय कर सकता है जबकि वह देश वस्तु के उत्पादन एवं चयन के लिये स्वतन्त्र हो, वह अपना निर्यात बढ़ा सकता हो या आयात प्रतिस्थापन कर सकता हो। किन्तु यदि निर्यातों की माँग में लोच का अभाव हो तो तुलनात्मक लाभों की गणना करना मुश्किल हो जाता है। वस्तु की कीमतों में होने वाले परिवर्तन भी तुलनात्मक लाभों को प्रभावित करते हैं।
9. **सुरक्षात्मक वस्तुओं के लिए तुलनात्मक लागत महत्वहीन :** देश की सुरक्षा एवं सैनिक महत्व की वस्तुओं को देश में ही निर्माण किया जाता है चाहे वे वस्तुएं विदेशों में सस्ते दामों पर क्यों न उपलब्ध हों। देश की सुरक्षा, एवं राजनैतिक कारणों से एक देश के लिए आवश्यक है कि वह इन वस्तुओं का निर्माण स्वयं करें। इन वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भरता देश के लिए खतरनाक साबित हो सकती हैं।
10. **पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव नहीं :** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पूर्ण विशिष्टीकरण पर आधारित है जबकि प्रो. ग्राहम का मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले दो देश विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में यह सिद्धान्त अपनी उपयोगिता खो देता है यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले दो देशों में एक देश बड़ा है और दूसरा देश छोटा है तो छोटा देश अपनी वस्तुओं का विशिष्टीकरण कर सकता है और अपनी वस्तुओं का पूर्ण अतिरेक दूसरे बड़े देश को निर्यात कर सकता है किन्तु बड़ा देश किसी भी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण नहीं कर पाता है क्योंकि यदि वह एक वस्तु के उत्पादन का विशिष्टीकरण करता है तो उत्पादन अधिक हो जाता है और छोटा देश उसे आयात नहीं कर सकता और वह अन्य वस्तु की पूर्ति के लिए दूसरे देश पर भी निर्भर नहीं रह सकता।
11. **स्वतन्त्र व्यापार में बाधाएँ :** तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त उन्हीं दशाओं में लागू होता है जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र रूप से हो रहा हो किन्तु वास्तव में अनेक देश व्यापार संरक्षण की नीति अपनाते हैं।
12. **यह सिद्धान्त अर्द्ध विकसित देशों पर लागू नहीं होता :** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अर्द्ध विकसित देशों पर लागू नहीं होता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक विकसित एवं एक पिछड़े राष्ट्र के मध्य होता है तो पिछड़े देश को इससे कोई लाभ नहीं होगा।
13. **श्रम की कार्यक्षमता की भिन्नता :** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं करता है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में अन्य देश की तुलना में एक देश के श्रमिक अधिक कुशल क्यों होते हैं।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा कटु आलोचना की गई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह सिद्धान्त अनुपयोगी है। इस सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की

प्रकृति को समझाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और यह बताया है कि किस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न है।

पारस्परिक माँग का सिद्धान्त :

प्रो. जे. एस. मिल के द्वारा पारस्परिक माँग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया उन्होंने रिकार्डों के सिद्धान्त की कमजोरियों को दूर करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मूल्यों के निर्धारण की प्रक्रिया को समझाया। इस सन्दर्भ में उनके अनुसार दो देशों में वस्तु विनिमय की व्यापार शर्तों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय माँग के समीकरण द्वारा होता है जिसे पारस्परिक माँग का सिद्धान्त भी कहते हैं। यहाँ वस्तु विनिमय की व्यापार शर्तों का अर्थ उस वास्तविक अनुपात से होता है जिस पर वस्तुओं का व्यापार किया जाता है यह विनिमय का अनुपात लागत एवं पूर्ति की दशाओं के साथ-साथ माँग की दशाओं से भी प्रभावित होता है। प्रो. मिल ने इन माँग दशाओं की व्याख्या की है।

मिल के अनुसार, "वस्तुओं के बीच व्यापार होने का वास्तविक अनुपात एक देश की अन्य वस्तु के लिए माँग की लोच अथवा पारस्परिक माँग पर निर्भर रहता है।" यदि किसी देश के निर्यातों का मूल्य ठीक उसके आयातों के मूल्य के बराबर है तो विनिमय अनुपात स्थिर होगा।

पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की व्याख्या : प्रो० मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय बाजार वस्तु की माँग दशाओं की विस्तृत व्याख्या की है। प्रो. मिल ने दो देशों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। हम यहाँ दो देशों भारत तथा जर्मनी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उदाहरण ले सकते हैं। भारत में एक दिन के श्रम से गेहूँ की 10 तथा कपड़े की 3 इकाइयों का उत्पादन किया जा सकता है। जर्मनी में इस श्रम से गेहूँ की 10 इकाइयों तथा कपड़े की 8 इकाइयों का उत्पादन किया जा सकता है रिकार्डों के अनुसार, जर्मनी की तुलना में भारत गेहूँ के उत्पादन में अधिक कुशल है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों देशों की तुलनात्मक लागत में अन्तर है, व्यापार दोनों देशों के लिये लाभदायक है। वास्तव में दोनों देशों के विनिमय बिन्दु को ज्ञात करना आवश्यक है और यह विनिमय बिन्दु देश के विनिमय अनुपात के बाहर नहीं होगा। यह बिन्दु दो सीमाओं के बीच होगा 1. एक देश में दोनों वस्तुओं की उत्पादन लागत का अनुपात 2. अन्य देश में इनकी उत्पादन लागत का अनुपात। अर्थात् भारत अपने देश में 10 गेहूँ को इकाइयों के बदले कपड़े की 3 इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है तो वह 10 गेहूँ की इकाइयों के बदले कपड़े की 3 से कम इकाइयाँ लेने को तैयार नहीं होगा इसी प्रकार जर्मनी भी कपड़े की 8 इकाइयों के बदले गेहूँ की 10 से कम इकाइयाँ लेने को तैयार नहीं होगा। इस प्रकार प्रो. मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय माँग के समीकरण का प्रतिपादन किया। प्रो. मिल के अनुसार "एक देश के उत्पादन का विनिमय दूसरे देश के उत्पादन से ऐसे मूल्यों पर होता है जहाँ उसके सम्पूर्ण निर्यात ठीक उसके सम्पूर्ण आयातों का भुगतान कर देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का यह सिद्धान्त मात्र मूल्य के सामान्य नियम का विस्तार है जिसे हम माँग और पूर्ति का समीकरण कहते हैं।

प्रो. मिल के अनुसार प्रत्येक सम्भावित कीमत अनुपात पर माँग एवं पूर्ति की तालिका तैयार की जा सकती है अर्थात् भारत गेहूँ की कितनी इकाईयों का निर्यात करना चाहता है तथा जर्मनी गेहूँ की कितनी इकाइयों का आयात करना चाहता है एवं जर्मनी कपड़े की कितनी इकाइयों का निर्यात तथा भारत कपड़े की कितनी इकाइयों का आयात करना चाहता है। इन विभिन्न कीमतों में एक कीमत अनुपात ऐसा भी होगा जिस पर आयात तथा निर्यात दोनों सन्तुलित हो जाते हैं। यदि

व्यापार का सन्तुलन गेहूँ की 10 इकाइयाँ - कपड़े की 5 इकाइयाँ मानकर चलाते हैं तो इससे भारत गेहूँ के विशिष्टीकरण तथा जर्मनी कपड़े के विशिष्टीकरण से लाभान्वित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापार शर्तों का लाभों के निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान होता है। अपने लाभों में वृद्धि करने हेतु व्यापार की शर्तों को दूसरे देश के लागत अनुपात की ओर ढकेलना चाहता है भारत के अनुसार गेहूँ एवं कपड़े का अनुपात 10 : 8 के आस-पास हो जबकि जर्मनी चाहेगा कपड़े एवं गेहूँ का अनुपात 3 :10 के आस-पास हो। वास्तव में किसी देश को होने वाला लाभ उस वस्तु की माँग तथा वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करता है। मिल ने माँग की लोच के स्थान पर माँग की विस्तारशीलता का प्रयोग किया है। एक काल्पनिक उदाहरण से मिल के माँग समीकरण को नीचे तालिका 4 के द्वारा समझाया गया है-

तालिका 4

भारत एवं जर्मनी की माँग एवं पूर्ति की अनुसूचियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय	भारत की माँग एंव पूर्ति की तालिका		जर्मनी की माँग एंव पूर्ति की तालिका(इकाईयों में)		
अनुपात	गेहूँ की माँग	कपड़े की पूर्ति	कपड़े की माँग	गेहूँ की पूर्ति	
कपड़ा .5	गेंहू1	800	-	1800	1300
1.4	“1	900	1200	1500	1200
1.3	“1	1000	1300	1300	1000
कपड़ा 1.2 गेहूँ	1	1200	1350	1000	950
1	“1	1400	1450	850	800
1.0	“1	1500	1500	800	-

उपर्युक्त तालिका में जैसे-जैसे हम नीचे की ओर आते हैं गेहूँ की तुलना में कपड़ा महंगा होता जाता है। जर्मनी द्वारा कपड़े की मांग कम होती जाती है। जबकि भारत अधिक कपड़े की पूर्ति के लिए तैयार है। इसके विपरीत जब हम तालिका में नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं तो जर्मनी अधिक गेहूँ की पूर्ति को तैयार है किन्तु भारत में गेहूँ की माँग निरन्तर घटती जाती है।

प्रो. हेबरलर ने यह स्पष्ट किया है कि विनिमय अनुपात माँग एवं पूर्ति की तालिका पर निर्भर करता है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर प्रो० मिल के सिद्धान्त की तीन विशेषताएँ हैं :-

1. उन सीमाओं का निर्धारण, जिनके अन्तर्गत वस्तु विनिमय की शर्तें निर्धारित होती हैं देश के लागत अनुपात द्वारा तुलनात्मक लागत द्वारा तय होता है।
2. उक्त सीमाओं के अन्तर्गत वास्तविक विनिमय का अनुपात इस पर निर्भर करता है कि उस देश में वस्तु की माँग कितनी है एवं
3. व्यापार की शर्तों में सन्तुलन उस समय स्थापित होता है जब एक देश द्वारा माँगी जाने वाली वस्तुओं का मूल्य अन्य देश द्वारा माँगी जाने वाली वस्तुओं के मूल्य के बराबर होता है।

प्रो. मिल के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्रो. मिल ने पारस्परिक माँग सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रिकार्डो के सिद्धान्त की कमी को दूर किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर व्यापार की शर्तों को निर्धारित करने में माँग की भूमिका पर जोर दिया। प्रो. मिल के सिद्धान्त में कुछ कमियाँ रहीं जिनके आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है-

1. **पूर्ति सम्बन्धी दशाओं की अवहेलना :** प्रो. मार्शल ने प्रो. मिल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की आलोचना की है। प्रो. मार्शल का मत है कि इस सिद्धान्त में केवल माँग पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया तथा पूर्ति सम्बन्धी दशाओं की अवहेलना की है। केवल माँग दशाएँ ही व्यापार शर्तों को निर्धारित नहीं करती है वरन् पूर्ति का भी इनके निर्धारण में महत्वपूर्ण भाग होता है। एक देश में प्रभावपूर्ण माँग, वस्तु की माँग लोच तथा जनसंख्या की इच्छाओं की लोच से प्रभावित होती है।
2. **व्यापार से बड़े देश भी समान लाभ प्राप्त कर सकते हैं :** प्रो. मार्शल ने प्रो. मिल की इस धारणा की भी आलोचना की है कि व्यापार से बड़े देशों को छोटे देशों की तुलना में अधिक लाभ होता है क्योंकि बड़े देशों में वस्तुओं की माँग अधिक होती है जिससे व्यापार की शर्तें उनके अनुकूल नहीं हो पाती हैं। किन्तु यह विचार सही नहीं है। एक बड़ा व धनी राष्ट्र व्यापार शर्तों को अपने अनुकूल बना सकता है और निम्नलिखित उपाय कर सकता है :

(अ) नयी वस्तुओं का प्रचलन कर बाजार का विस्तार कर सकता है।

(ब) सुदृढ़ व्यापारिक सम्बन्धों का लाभ उठा सकता है।

(स) निर्यात वृद्धि हेतु नये बाजारों की खोज कर सकता है।

(द) छोटे देशों की तुलना में माँग के अनुसार पूर्ति का समायोजन कर सकता है।

3. **माँग की प्रभावहीनता :** प्रो. ग्राहम ने भी प्रो. मिल के इस विचार की आलोचना की है कि 3.33 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय अनुपात को निर्धारित करने में माँग की दशाओं का कोई प्रभाव नहीं होता है। जबकि यह आलोचना सही नहीं है।

3. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त :**

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रो. हेक्स्चर तथा प्रो. ओहलिन द्वारा की गयी। इसे साधन अनुपातों का सिद्धान्त भी कहा जाता है। आधुनिक सिद्धान्त में ओहलिन यह मानते हैं कि व्यापार तुलनात्मक लागत अन्तर पर निर्भर करता है। यह अन्तर उत्पत्ति के सापेक्षिक साधनों में अन्तर का पर्याप्त आधार होता है। इसी के साथ उन्होंने स्पष्ट किया कि एक ही देश में जिस प्रकार श्रम एवं पूंजी के साधनों में गतिशीलता पायी जाती है उसी प्रकार विभिन्न देशों में भी इन साधनों में गतिशीलता पायी जाती है। यह गतिशीलता कुछ सीमित रूप में हो सकती है। राष्ट्रीय सीमाएँ, प्रशुल्क बाधाएँ. भाषा एवं रीतिरिवाजों में भिन्नता अस्थायी बाधाएँ हैं, जो समय के साथ समाप्त हो जाती है। मूल्य का सामान्य सिद्धान्त मे सन्तुलन बिन्दु पर माँग एवं पूर्ति बराबर होते हैं। वस्तु का मूल्य उसकी औसत लागत के बराबर होता है। उत्पत्ति के साधनों को मिलने वाला पुरस्कार वस्तु की लागत को निर्धारित करता है। उपभोक्ताओं की आय निर्धारण से माँग का स्वरूप निर्धारित होता है। प्रो० ओहलिन ने यह भी स्पष्ट किया कि सामान्य मूल्य के सिद्धान्त में क्षेत्र तत्व को भी शामिल कर लिया जाये तो उसे विभिन्न क्षेत्रों तथा विभिन्न देशों के बहुत से बाजारों में मूल्य निर्धारण करने के लिए प्रयोग में लिया जा सकता है।

प्रो. हेक्सचर-ओहलिन ने आधुनिक सिद्धान्त में बताया -

1. उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में सापेक्षिक अन्तर होता है।
2. विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में उत्पत्ति के साधनों की आवश्यकता में भी सापेक्षिक भिन्नता पायी जाती है। दोनों देशों में साधनों की सीमितता में सापेक्षिक अन्तर पाया जाता है अर्थात् कुछ साधन प्रचुर मात्रा में होते हैं तथा दूसरे देश में वही साधन अल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

एक देश उन्हीं वस्तुओं का विशिष्टीकरण और निर्यात करता है जिनके उत्पादन में सापेक्षिक रूप से उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो उस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं और सस्ते होते हैं।

हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त की मान्यताएँ : हेक्चर-ओहलिन का सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है-

(i) व्यापार के लिए दोहरे मॉडल को लिया गया है जिसमें दो देश, दो और उत्पत्ति के दो साधन हैं।

(ii) दोनों देशों में न तो व्यापार बाधाएँ है और न ही परिवहन लागत विद्यमान है।

(iii) दोनों देशों में वस्तुओं तथा उत्पत्ति के साधनों के बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पायी जाती है।

(iv) एक देश में उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से गतिशील होते है किन्तु एक देश से दूसरे देश में जाने वाले साधनों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है।

(v) दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों में एकरूपता पायी जाती है।

(vi) दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन फलन भिन्न है किन्तु दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिऐ उत्पादन फलन समान है।

(vii) प्रत्येक देश में उत्पादन उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत होता है।

(viii) दोनों देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है

(ix) प्रत्येक देश में साधनों की मात्रा, माँग की दशाएँ तथा उत्पादन की भौतिक दशाएँ स्थिर हैं।

हेक्सचर, ओहलिन सिद्धान्त की व्याख्या--

हेक्सचर ओहलिन ने अपने सिद्धान्त मैं सापेक्षिक साधन प्रचुरता का प्रयोग किया है। प्रो. ओहलिन ने इस सिद्धान्त को कीमत की कसौटी के आधार पर विकसित किया है। कीमत कसौटी के आधार पर एक देश को, जिसमें पूँजी सापेक्षिक रूप से सस्ती होती है तथा श्रम सापेक्षिक रूप से महंगा होता है पूँजी प्रचुरता वाला देश माना जाता है। चाहे इस देश में श्रम की तुलना में पूँजी की कुल इकाइयों का अनुपात दूसरे देश की तुलना में अधिक हो अथवा न हो।

यदि एक देश को A तथा दूसरे देश को B माना जाये, P का अर्थ साधन कीमत, C को पूँजी तथा L को श्रम माने तो कीमत की कसौटी को निम्न सूत्र में त्यक्त किया जा सकता है-

$$\left(\frac{PC}{PL}\right) = A \qquad < \qquad \left(\frac{PC}{PL}\right) = B$$

हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त में प्रतिष्ठित सिद्धान्त को गलत सिद्ध नहीं किया गया है वरन् आधुनिक सिद्धान्त को उसके पूरक सिद्धान्त के रूप में माना गया है। आधुनिक सिद्धान्त में भी तुलनात्मक लागत को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना गया है। हेक्सचर- ओहलिन ने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय एवं अर्न्तक्षेत्रीय व्यापार में केवल मात्रा सम्बन्धी अन्तर पाया जाता है। उन्होंने बताया विभिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों में भिन्नता होती है तथा विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न साधनों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक वस्तु का उत्पाद फलन भिन्न-भिन्न होता है। किसी उत्पाद फलन में पूँजी का अनुपात, श्रम के अनुपात की तुलना में अधिक होता है जबकि किसी अन्य उत्पाद फलन में श्रम का अनुपात, पूँजी की तुलना में अधिक होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक क्षेत्र उन वस्तुओं के उत्पादन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है जिसमें उन साधनों का अधिक अनुपात में प्रयोग किया जाता है जो वहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। साधनों में भिन्नता के कारण विभिन्न क्षेत्रो की उत्पादन क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है। प्रो० ओहलिन ने उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मान लो A तथा B दो देश हैं। A देश में पूँजी प्रचुर तथा श्रम अल्प मात्रा में उपलब्ध है। अर्थात A देश में पूँजी सस्ती होगी तथा श्रम महंगा होगा अत: A देश में मशीनों का निर्माण सस्ता होगा क्योंकि मशीन उद्योग में अधिक पूँजी आवश्यक होती है जबकि गेहूँ का उत्पादन महंगा होगा क्योंकि गेहूँ उत्पादन में अधिक श्रम की आवश्यकता होगी। B देश में श्रम अधिक मात्रा में उपलब्ध है और सस्ता है, पूँजी कम मात्रा में उपलब्ध है और यहाँ मशीन निर्माण महंगा होगा। अत: A देश मशीनों के उत्पादन का विशिष्टीकरण करेगा तथा मशीनों का निर्यात करेगा। अल्प रूप से उपलब्ध वस्तु गेहूँ का आयात करेगा। यही बात B देश पर भी लागू होगी। B देश गेहूँ का उत्पाद जो कि श्रम प्रचुरता पर निर्भर करता है, अधिक मात्रा में उत्पादन करेगा। B देश गेहूँ में विशिष्टीकरण कर उसे अन्य देशों को निर्यात करेगा तथा मशीनों का विदेशों से आयात करेगा।

इस सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक देश सस्ते साधनों द्वारा प्रतिपादित किये गये माल का निर्यात करेगा तथा जो साधन देश में महंगे होंगे उनसे तैयार होने वाली वस्तुओं का आयात करेगा।

साधन कीमत समानता : प्रो. ओहलिन ने साधन कीमत समानता सिद्धान्त में साधन अनुपात की व्याख्या की है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि दो देशों में व्यापार का कारण वस्तुओं की कीमतों में अन्तर का पाया जाना है। जब तक यह अन्तर समाप्त नहीं होता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलता रहता है। ज्यों-ज्यों व्यापार में वृद्धि होती जाती है कीमतों का अन्तर समाप्त होने लगता है। स्वतन्त्र व्यापार का सन्तुलन उस बिन्दु पर होता है जहाँ तुलनात्मक लागतों में अन्तर समाप्त हो जाता है तथा दोनों देशों में वस्तु की सापेक्षिक कीमतें समान हो जाती हैं।

वस्तुओं का निर्यात तथा साधनों की गतिशीलता : उक्त विवेचन से ओहलिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि जब साधनों में भौतिक रूप से गतिशीलता का प्रभाव होता है तो इन साधनों द्वारा निर्मित वस्तुओं का विनिमय होने लगता है। जब एक देश पूँजी प्रधान वस्तुओं का निर्यात करता है तो उसका अर्थ है कि वह सस्ती पूँजी का निर्यात कर रहा है एंव अल्प एवं महंगे साधनों का आयात कर रहा है। इस प्रकार वस्तुओं में होने वाला व्यापार साधनों की गतिशीलता को प्रतिस्थापित करता है। निर्यात के बढ़ने से देश में प्रचुर साधनों की माँग बढ़ जायेगी और इन

साधनो की कीमतों में वृद्धि हो जायेगी इसके विपरीत आयात के कारण अल्प साधनों माँग व कीमतों में कमी हो जायेगी।

प्रो. हेक्सचर - ओहलिन सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

उपरोक्त विवेचन में आधुनिक सिद्धान्त की श्रेष्ठताओं को स्पष्ट किया गया है फिर भी कई अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है जो इस प्रकार हैं :-

(i) **अवास्तविक मान्यताएँ :** ओहलिन का सिद्धान्त ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जो आवश्यकता से अधिक सरल हैं। पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मकता का अभाव, पूर्ण रोजगार, समान उत्पाद फलन आदि व्यवहारिक मान्यताएँ नहीं है।

(ii) **पूर्ण सन्तुलन की व्याख्या का प्रभाव :** प्रो. हेबरलर का कहना है कि ओहलिन का सिद्धान्त वास्तविकता के निकट है फिर भी वह सामान्य सन्तुलन प्रणाली को विकसित करने में असफल रहा है।

(iii) **माँग की तुलना में पूर्ति का अधिक प्रभाव :** प्रो. ओहलिन ने अपने सिद्धान्त में पूर्ति को माँग की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

(iv) **वस्तु कीमत अनुपात लागत अनुपातों का प्रतिबिम्ब नहीं :** यदि उपभोक्ताओं के अधिमान और वस्तुओं की माँग पर विचार किया जाये तो वस्तुओं की कीमत का अनुपात, उसकी लागत के अनुपात के समान नहीं होता है। माँग एवं रूचि में होने वाले परिवर्तन के कारण कीमतों में अधिक परिवर्तन हो सकता है।

(v) सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता के कई अन्य कारण जैसे गुणात्मक भिन्नता, भिन्न उत्पादन तकनीक, उपभोक्ताओं की माँग में भिन्नता भी हो सकते है।

(vi) वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण साधनों की लागतों द्वारा नहीं होता है। कीमतों का निर्धारण कच्चे माल के मूल्य, उपयोगिता, श्रम का मूल्य आदि के आधार पर होता है।

4. आंशिक समानीकरण का सिद्धान्त.

इस सिद्धान्त को साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता है। प्रो. ओहलिन के विचारों के अनुसार साधनों की कीमतों में समानता स्थापित होने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक नहीं रहता है लेकिन सेमुअलसन ने अपने इस सिद्धान्त की व्याख्या में बताया है कि कीमतों में समानता स्थापित होने के बाद भी व्यापार सम्भव है। उनके अनुसार जब तक देशों में आंशिक विशिष्टीकरण है अर्थात् प्रत्येक देश दोनों वस्तुओं की कुछ न कुछ मात्रा का उत्पादन करता रहेगा, स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से साधनों की सापेक्ष और निरपेक्ष कीमतों में समानता स्थापित होगी। जब तक दो देशों में प्रारम्भिक स्तर पर बहुत अधिक असमानता न हो, वस्तुओं की गतिशीलता साधनों की गतिशीलता को पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित करती रहेगी।

प्रो. सेमुअलसन के सिद्धान्त की मान्यताएँ : प्रो. सेमुअलसन के अनुसार साधन, कीमत समानीकरण के सिद्धान्त की मान्यताएँ निम्नलिखित हैं :-

(i) केवल दो देशों A और B अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करते हैं।

(ii) केवल दो ही वस्तुओं X और Y का उत्पादन एवं व्यापार करते हैं।

(iii) प्रत्येक वस्तु का उत्पादन साधनों श्रम एवं पूँजी के आधार पर होता है। उत्पादन फलन का सम्बन्ध उत्पत्ति समता नियम से होता है।

(iv) उत्पादन में सीमान्त उत्पादकता हास नियम लागू होता है।

(v) दोनों देशों में पूर्ण प्रतियोगिता है और इनमें साधनों की गतिशीलता नहीं है।

(vi) दोनों देशों में स्वतन्त्र व्यापार होता है जिससे परिवहन लागतों का अभाव है।

(vii) प्रत्येक देश में आंशिक विशिष्टीकरण होता है।

(viii) प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधनों की मात्राएँ अपरिवर्तित रहती हैं।

प्रो. सेमुअलसन के सिद्धान्त की व्याख्या : प्रो. सेमुअलसन ने इस सिद्धान्त की व्याख्या तीन अवस्थाओं में की है जो इस प्रकार है :-

प्रथम अवस्था - प्रो. सेमुअलसन ने प्रथम अवस्था में बताया है दी हुई उत्पाद फलन की मान्यता के अन्तर्गत दोनों वस्तुओं का उत्पादन सम्भावना वक्र उद्गम स्थान के नतोदर होता है। जो एक वस्तु की तुलना में दूसरी वस्तु की बढ़ती सीमान्त अवसर लागत को प्रदर्शित करता है। नीचे दिये गये रेखाचित्र से इसे स्पष्ट किया गया है.

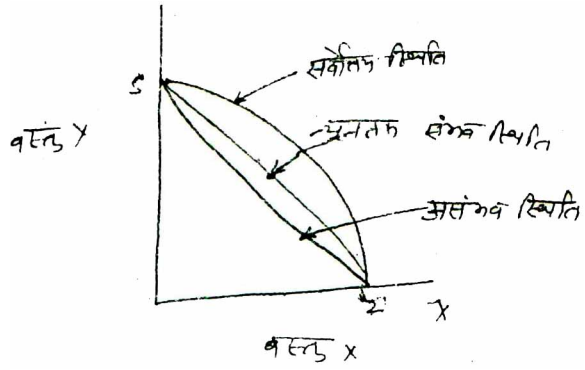

उक्त चित्र में SZ उत्पादन सम्भावना वक्र X और Y वस्तु के उत्पादन की सम्भावनाएँ प्रकट कर रहा है। यदि यह माना जाये कि कि देश Z बिन्दु पर है जहाँ पर वह X वस्तु की अधिकतम मात्रा उत्पन्न कर रहा है। यदि वह श्रम एवं पूँजी के आधे साधनों को Y वस्तु के उत्पादन में लगा देता है तो X वस्तु का उत्पादन आधा हो जायेगा किन्तु Y वस्तु की उत्पादन संभावना तीन प्रकार की हो सकती है। वह X की त्याग की गई मात्रा के बराबर या उससे कम या उससे अधिक Y की मात्रा प्राप्त कर सकता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि X वस्तु के उत्पादन में से जो लागतों का निश्चित प्रतिशत घटाया जाता है तथा Y वस्तु का उत्पादन का निश्चित प्रतिशत घटाया जाता है तो Y वस्तु का उत्पादन उसके बराबर तो होना ही चाहिए अर्थात् उत्पादन सम्भावना रेखा मूल बिन्दु के उन्नतोदर न होकर एक सीधी रेखा होनी चाहिए।

द्वितीय अवस्था - दूसरी अवस्था में प्रत्येक देश में सापेक्षिक साधन कीमतों एवं सापेक्षिक वस्तु कीमतों में एक ही दिशा में बढ़ने की प्रवृति पायी जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता समस्त उत्पादनों में उसकी कीमत के बराबर होती है। यदि किसी वस्तु की मांग में वृद्धि होने से उसका उत्पादन बढ़ता है तो उस वस्तु के उत्पादन में जिस साधन का सर्वाधिक प्रयोग होता है उसकी सीमान्त उत्पादकता और कीमतों में वृद्धि होती है। दूसरे साधनों की सीमान्त उत्पादकता एवं कीमतों में कमी होती है। साधनों की कीमतों के अनुपात में परिवर्तन होने से दोनों उद्योगों के साधन अनुपात में भी परिवर्तन होता है तथा वस्तु, कीमत व अनुपात में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन होता है।

तृतीय अवस्था - तीसरी अवस्था में यदि दोनों देशों में स्वतन्त्र एवं बिना परिवहन लागत के व्यापार होता है तो दोनों देशों में वस्तु की कीमतों में समानता स्थापित हो जाती है। अत: व्यापार होने के बाद साधन कीमतों में भी समानता स्थापित हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि-

(i) जब तक दोनों देशों में साधन अनुपातों में साधारण भिन्नता है,

(ii) जब तक वस्तुओं के उत्पादन में साधन गहनता में अन्तर है,

(iii) जब तक दोनों देशों में दो ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और

(iv) जब तक वस्तुओं की संख्या साधनों की संख्या से अधिक है, साधन कीमतों में समानता स्थापित हो जायेगी।

4.6 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार की एक विशेष दशा होती है। सभी देशों में उत्पत्ति साधनों में भिन्नता होती है तथा वस्तुओं की कीमतों में अन्तर होता है। इसी के साथ उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता में भी अन्तर पाया जाता है। दो देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है कि दोनों देशों की वस्तुओं की कीमतों में सापेक्षिक अन्तर होता है। जब तक यह अन्तर बना रहता है, व्यापार होता रहता है। लेकिन जैसे-जैसे है वस्तुओं के सापेक्षिक कीमतों में समानता स्थापित होने लगती है। वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में समानता उस समय होती है जब साधनों की सापेक्षिक कीमतों में समानता स्थापित होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही वस्तुओं व साधनों की कीमतों में समानता लाने में सहायक सिद्ध होता है। कोई भी देश पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर नहीं होता है। उसे अन्य देशों से वस्तुओं का आयात व निर्यात करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धान्तों पर निर्भर होना पड़ता है। ये सिद्धान्त वर्तमान युग में भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लाग होते हैं।

4.7 शब्दावली

1. **तुलनात्मक लागत :** दो देशों में एक वस्तु की उत्पादन लागत की तुलना को ही तुलनात्मक लागत कहा जाता है।
2. **साधनों की गतिशीलता :** साधनों की गतिशीलता के कारण ही साधन एक स्थान से दूसरे स्थान या एक देश दूसरे देश में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं।
3. **सन्तुलन बिन्दु :** जिस बिन्दु पर वस्तु की माँग एवं पूर्ति दोनों बराबर हो जाते हैं उसे सन्तुलन बिन्दु कहते है
4. **प्रशुल्क बाधाएँ :** ये बाधाएँ एक देश द्वारा दूसरे देश से आयात होने वाली वस्तुएं पर करों के रूप में लगायी जाती हैं, इससे वस्तुएं महंगी हो जाती हैं।

4.8 स्वपरख प्रश्न

1. क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हेतु पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है? समझाइये।
2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय अर्थव्यवस्था - दत्त एवं सुन्दरम्
2. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - वी.सी. सिन्हा

इकाई - 5 : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार - विधियाँ एवं महत्व (International Trade - Methods & Importance)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य

5.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ एवं विकास

5.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अथवा आधार

5.5 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता, महत्व तथा लाभ

5.6 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख सिद्धान्त

5.6.1 तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

5.6.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त

5.6.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त

5.7 सारांश

5.8 शब्दावली

5.9 स्वपरख प्रश्न

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 उदेश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त समझ सकेंगे कि -

- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने के क्या कारण है?
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या-क्या सिद्धान्त है?
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्या महत्व है?

5.1 प्रस्तावना

उत्पादक अथवा निर्माता द्वारा उपभोक्ता तक माल के पहुँचाने की क्रिया व्यापार कहलाती है। व्यापार वस्तुतः क्रय-विक्रय की क्रियाएँ हैं जिसे विनिमय भी कहा जा सकता है। आर्थिक विकास की प्रत्येक स्थिति में व्यापार पाया जाता है परन्तु विकास की अवस्था के साथ-साथ उसकी मात्रा व उसके क्षेत्र में विस्तार होता चला जाता है। वस्तु-विनिमय से लेकर साख-विनिमय तक व्यापार की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। प्राचीन काल में व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा स्थानीय स्तर पर होता था। वर्तमान समय में, विकास की मंजिलों के साथ-साथ, व्यापार देश की सीमाओं के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर भी होने लग गया है।

5.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा उन वस्तुओं का विनिमय संभव होता है जो किसी स्थान विशेष पर प्रयोग होने वाले साधनों के द्वारा उत्पन्न होती है तथा जो साधन अगतिशील होते हैं उनके प्रयोग के द्वारा उत्पन्न वस्तु विनिमय के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में काम में ली जाती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य दो विभिन्न राष्ट्रों की दो भिन्न मौद्रिक प्रणालियों का अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। मुद्रा के विनिमय अनुपात के अन्तर के कारण यह लाभ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भौगोलिक दूरियों को कम करने तथा बाजारों की प्रथकता के लाभों को प्राप्त करने का भी उचित माध्यम है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भुगतान शेष की समस्या का भी समाधान करता है।

श्रम एवं पूंजी में गुणात्मक परिवर्तन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से ही संभव है तथा इसके द्वारा उच्च जीवन स्तर को भी प्राप्त किया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एकाधिकारात्मक प्रवृत्ति पर रोक लगाता है। प्राकृतिक साधनों के अनुकूलतम प्रयोग को संभव बनाता है तथा अधिक से अधिक देशों के बीच सहयोग को बढ़ावा प्रदान करता है।

5.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ एंव विकास

जब व्यापार दो भिन्न राष्ट्रों के मध्य किया जाये तो इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' कहते हैं। इसमें माल एक देश से दूसरे देश को भेजा जाता है। माल प्रेषक तथा प्राप्तकर्ता भिन्न-भिन्न देशों से सम्बन्धित व्यक्ति होते है। प्रायः दोनों देशों में भिन्न-भिन्न मुद्राएँ चलन में होती हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सबसे महत्वपूर्ण बात पृथक राजनैतिक अस्तित्व की है। इसमें 'राष्ट्र' क्या का सर्वाधिक महत्व है। यह राष्ट्र शब्द आर्थिक कारणों की अपेक्षा राजनैतिक की ओर ज्यादा झुका हुआ होता है। इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार' दो देशों के मध्य होने वाले व्यापार को कहते हैं। जैसे - भारत से ऑस्ट्रेलिया को चाय भेजी जाये तो यह अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार कहलायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तीन स्थितियाँ होती हैं- (i) आयात व्यापार, (ii) निर्यात व्यापार, तथा (iii) पुनः निर्यात व्यापार ।

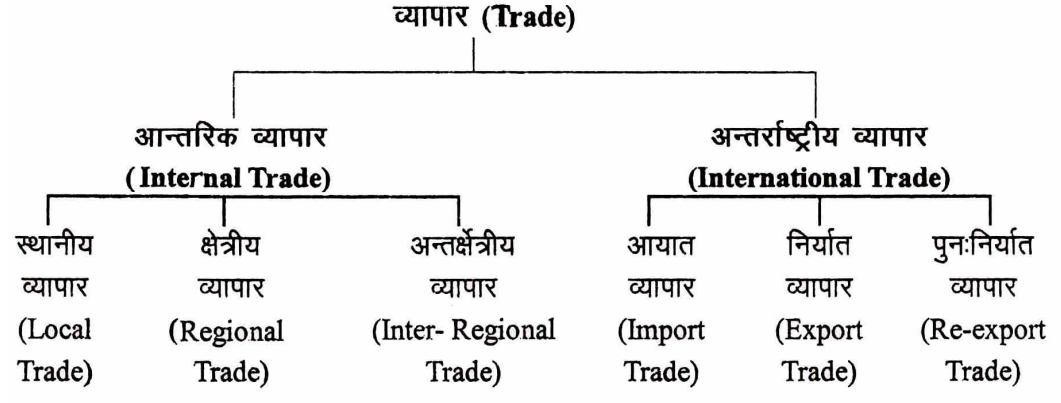

(i) **आयात-व्यापार** (Import Trade) - जब किसी देश द्वारा माल किसी दूसरे देश को भेजा जाता है अर्थात विक्रय किया जाता है तो यह क्रेता देश के लिए आयात-व्यापार कहलाता है। क्रेता देश आयातक तथा विक्रयकर्ता देश निर्यातक कहलाता है।

(ii) **निर्यात-व्यापार** (Export Trade) - जब किसी देश द्वारा माल किसी दूसरे देश को भेजा जाता है अर्थात विक्रय किया जाता है तो वह विक्रेता देश के लिए निर्यात-व्यापार कहलाता है। विक्रेता देश निर्यातक तथा क्रेता देश आयातक कहलाता है।

(iii) **पुनःनिर्यात-व्यापार** (Re-export Trade) - यह आयात व निर्यात का मिश्रण स्वरूप व्यापार होता है। जब कोई देश किसी अन्य देश से माल का आयात कर उसी माल को किसी तीसरे देश को निर्यात कर दे, तो यह 'पुन: 'निर्यात व्यापार' कहलाता है। यह व्यापार वस्तुतः तीन देशों के मध्य हो सकता है, जिसमें आयात करके पुन: निर्यात करने वाले देश की भूमिका वस्तुतः मध्यस्थ जैसी रहती है।

5.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अथवा आधार

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तुतः परिस्थितियों की देन है। इसके आधार निम्नलिखित हैं-

(1) **भौगोलिक कारण (Geographical Reason) -** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम है। भौगोलिक परिस्थतियों में देश की स्थिति, प्राकृतिक सम्पदा, जलवायु तथा भूमि का स्वरूप आदि बातें आती हैं। यदि कोई देश किसी प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित है तो उस राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वत: ही प्रोत्साहित होगा। व्यापारिक मार्गों के केन्द्रवर्ती भाग में किसी देश के स्थित होने से दूसरे देशों के लोगों से सम्पर्क व मेलजोल बढ़ता है तथा व्यापारिक आदान-प्रदान होना स्वाभाविक हो जाता है। इसी तरह प्राकृतिक सम्पदा का पाया जाना भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है। विभिन्न प्रकार के खनिजों की मांग विश्वव्यापी होती है। जिस किसी राष्ट्र के पास खनिज अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी विस्तृत होता है। जलवायु तथा भूमि का स्वरूप व उपजाऊपन भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार हैं। कृषि पदार्थो की उपलब्धता भूमि व जलवायु पर निर्भर है। जिन राष्ट्रों में कृषि उत्पादन कम होता है उन्हें कृषिगत वस्तुओं का आयात करना पड़ता है। इसी तरह जहां पर ठण्डी जलवायु होती है उन्हें गर्म वस्त्र आयात करने पड़ते हैं तथा जहां गर्म जलवायु होती है उन्हें हल्के वस्त्र मंगाने पड़ते हैं। इस प्रकार प्रमुख रूप से भौगोलिक कारणों से ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार बनता है। विपरीत भौगोलिक परिस्थितियों वाले राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार खूब पनपता है।

(2) **आर्थिक कारण** (Economic Reason) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए जहाँ भौगोलिक कारण जिम्मेदार हैं वहीं आर्थिक कारण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उत्पादन के साधनों की भूमिका भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने में प्रमुख है। श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता वस्तुओं की गतिशीलता की अपेक्षा कम होती है। अत: जिस देश में श्रम व पूंजी उपलब्ध होते हैं, वहाँ वस्तुओं का उत्पादन होता है तथा जिनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रोत्साहित होता है। इसी तरह यह भी सम्भव है कि किसी वस्तु का उत्पादन विशेष प्रकार की तकनीक व कौशल से ही सम्भव होता हो और यह तकनीक व

कौशल किसी विशेष राष्ट्र में ही उपलब्ध हो तो वस्तु का निर्माण उसी राष्ट्र में होगा और उत्पादित वस्तु के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करेगा। इस सन्दर्भ में तो यहां तक कहा जा सकता है कि श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का विस्तार ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्मदाता है। किसी वस्तु के उत्पादन में पूर्णत: एकाधिकार की सी प्रवृति पैदा कर ली जाती हैं तथा वस्तु का नाम, उस स्थान व देश के साथ जुड़ जाता है। ऐसी वस्तु की अन्तर्राष्ट्रीय मांग पैदा होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विकसित होता है। इन सब के अलावा शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त के रूप में उत्पादन लागतों का तुलनात्मक प्रभाव है। विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन व उत्पादन के साधनों की प्रचुरता के कारण तुलनात्मक दृष्टि से किसी वस्तु का उत्पादन किसी विशेष राष्ट्र में न्यूनतम लागत में सम्भव हो जाता है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि तुलनात्मक रूप से कम लागत वाली वस्तुओं का उत्पादन ही प्रत्येक देश में अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार किया जायेगा तथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आदान-प्रदान या आयात-निर्यात किया जायेगा। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक आधार है।

(3) **राजनैतिक कारण (Political Reason)** - भौगोलिक व आर्थिक कारणों के साथ-साथ आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पीछे राजनैतिक कारण भी काम करने लग गये हैं। दूसरे देश के साथ सुदृढ़ राजनैतिक सम्बन्ध कायम करने के लिए शुद्ध राजनैतिक सिद्धान्तों पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है। ऐसा देखने में आता है कि स्वयं के देश में किसी वस्तु का अभाव होने पर भी सम्बन्धों को सुदृढ बनाने के लिए उस वस्तु का निर्यात किया जाता है। भारत में स्थानीय मांग को पूरा न करने के बावजूद भी बंगलादेश व नेपाल को सीमेंट भेजी जाती है। इसी तरह अमेरिका द्वारा भारत को अणु ईंधन की पूर्ति आर्थिक कारणों की अपेक्षा राजनीतिक कारणों से ज्यादा की जाती है। आयातक देश की मुद्रा में भुगतान स्वीकार करने से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी राजनैतिक कारणों से ही प्रेरित होता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार भोगोलिक, आर्थिक व राजनैतिक तीनों ही प्रकार के हो सकते है

5.5 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता, महत्व तथा लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं-

(1) **वृहद बाजारों की उपलब्धि** (Availability of Big Markets) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किसी वस्तु को विदेशी मांग व पूर्ति का परिचायक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाजार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। विस्तृत व वृहद् बाजार से तात्पर्य वस्तु की अधिक मांग से है। मांग अधिक होने से वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। इसी तरह किसी देश में यदि किसी वस्तु की पूर्ति अधिक हो तो वृहद् बाजार होने के कारण उसका अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय हो सकता है। इससे दोनों ही परिस्थितियों में लाभ है।

(2) **उत्पादन के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग** (Maximum Utilisation of Factors of Production) - जब वृहद बाजार के साधनों का अधिकतम उपयोग होगा तो ऐसी अवस्था में उत्पादन के साधन उदासीन नहीं रह सकेंगे। उनके सामने अधिक उत्पादन की

प्रेरणा रहेगी। इसके साथ-साथ साधनों का उपयोग सर्वोत्तम क्षेत्र में होने के कारण साधनों को उनका हिस्सा भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकेगा तथा आर्थिक सक्रांति का वातावरण तैयार हो सकेगा।

(3) **प्राकृतिक साधनों का अधिकतम विदोहन** (Fuller Exploitation of Natural Resources) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश के प्राकृतिक साधनों के अधिकतम व अनुकूलतम विदोहन को प्रोत्साहन मिलता है। विक्रय के लिए जब बाजार उपलब्ध हो तो स्वत: ही देश के प्राकृतिक साधनों का विदोहन सम्भव होगा। खनिजों का खनन अधिक मात्रा में होगा, वनों के उत्पादों को अधिक मात्रा में प्राप्त करने के प्रयत्न किये जायेंगे, शक्ति के साधनों का विकास किया जायेगा तथा इस तरह अधिकतम विदोहन आर्थिक विकास का पर्याय होगा।

(4) **श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण** (Division of Labour and Specialisation) - अधिक मात्रा में उत्पादन स्वत: ही श्रम- विभाजन को प्रोत्साहित करता है। श्रम- विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक में विशेषज्ञ के गुणों का समावेश होता है। चूंकि विशेष कार्य करने के लिए विशिष्ट कौशल की आवश्यकता पड़ती है अत: श्रमिक विशिष्टीकरण द्वारा उस कौशल को अर्जित करेगा जिससे उत्पादन श्रेयस्कर होगा तथा प्रतिफल समुन्नत होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तु के विक्रय के लिए उच्च कोटि की वस्तु का निर्माण किया जायेगा जो विशिष्टीकरण व श्रम विभाजन द्वारा ही सम्भव है। श्रम विभाजन से श्रमिक की योग्यता व कुशलता में वृद्धि होती है, फलस्वरूप उत्पादन लागत भी कम पड़ती है।

(5) **पैमाने के लाभ** (Merits of Scale) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वस्तु की मांग का क्षेत्र बढ़ता है, फलस्वरूप अधिक उत्पादन करने की आवश्यकता पड़ती है। उद्योगपति बड़े उद्योग स्थापित करेंगे जिससे पैमाने के लाभ प्राप्त होंगे। बड़े उद्योगों में अत्यधिक उत्पादन होने से तुलनात्मक लागत कम पड़ती है तथा बड़े पैमाने पर कार्य करने से विभिन्न प्रकार की बचतें भी प्राप्त होती है।

(6) **विवेकीकरण को प्रोत्साहन** (Incentive for Retionalisation) - चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उद्योगपतियों को अपने उत्पादों के विक्रय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है अत: उच्च कोटि की वस्तु का निर्माण अत्यावश्यक हो जाता है। पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक व स्वचालित मशीनों के प्रयोग की आवश्यकता महसूस होने लगती है। प्रतिस्पर्द्धा में रूकने के लिए विवेकीकरण का सहारा लिया जा सकता है।

(7) **न्यूनतम लागत व मूल्य एकरूपता** (Minimum Cost and Price Uniformity) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा जहां श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण, विवेकीकरण, व पैमाने के लाभ की प्रेरणा मिलती है वहीं उत्पादक 'लागत विश्लेषक' (Cost Conscious) भी बन जाता है। हर क्षण उसका यह प्रयत्न रहता है कि किस तरह उसके उद्योग में लागत कम से कम हो। जिन उद्योगों को उत्पादन लागत अधिक होती है, वे उद्योग बन्द होने की स्थिति में पहुंच जाते हैं। अत: लागत कम करने के प्रयत्नों से उपभोक्ताओं को

न्यूनतम मूल्य पर वस्तुएं मिलने लगती हैं तथा दूसरे देशों से माल आयात होने के डर से अंतर्राष्ट्रीय कीमत स्तरों में भी एकरूपता की प्रवृति परिलक्षित होने लगती है।

(8) **उपभोक्ताओं के जीवन स्तर में वृद्धि** (High standard of Living) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बारे में पी.टी. एल्सवर्थ (P.T. Ellsworth) ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिक लोगों को जीवित रखने, विभिन्न रसों का आनन्द लेने और अपने जीवन स्तर को ऊँचा बनाये रखने की सुविधाएं देता है" वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा उपभोक्ता की प्रभुसत्ता में विस्तार होता है। अपनी इच्छा की वस्तु उसे उपलब्ध हो सकती है तथा प्रतियोगी परिस्थिति के कारण सस्ती भी हो सकती है। इस तरह उपभोक्ताओं के जीवन स्तर में वृद्धि होती है।

(9) **आर्थिक संकट से मुक्ति** (Relief from Economic Crisis) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने यह सम्भव बना दिया है कि अब दुनियां के किसी भी कोने में आर्थिक संकट का प्रभाव कष्टदायक नहीं हो सकता है। यदि कहीं अकाल व सूखे के कारण खाद्यान्नों का अभाव होता है तो उसकी पूर्ति तुरन्त ही अन्य देशों द्वारा की जा सकती है। इसी तरह भूकम्प, महामारी आदि परिस्थितियों में भी किसी तरह का अभाव महसूस नहीं होने दिया जाता है। यह कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ने विश्व को आर्थिक संकटों रो मुक्ति दिला दी है।

(10) **औद्योगिक अर्थव्यवस्था का निर्माण** (Creation of an Industrial Economy) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश के औद्योगिक विकस को गति मिलती है। कच्चे माल व खनिजों के निर्यात करने वाले देशों को यह प्रेरणा मिलती है कि वे स्वयं ही कच्चे माल से पक्के व तैयार माल का उत्पादन अपने ही देश में करें। कृषिजन्य उत्पादों में भी यह प्रेरणा रहती है। कपास के स्थान पर वस्त्र निर्यात करने का प्रयत्न किया जाता है फलस्वरूप देश में उद्योगों का पनपना शुरू हो जाता है एवं इस तरह देश में औद्योगिक अर्थव्यवस्था का निर्माण होता है।

(11) **नूतन उत्पादन विधियों की खोज व प्रयोग** (Innovation and uses of New Methods of Production) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता चूंकि अत्यधिक रहती है, अत: उत्पादकों को अपना माल सर्वोच्च किस्म का व सस्ता तैयार करने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसके लिए उत्पादन की नई-नई विधियों एवं तकनीकों की खोज की जाती है तथा उसका प्रयोग किया जाता है। आज विभिन्न औद्योगिक इकाइयों में 'शोध एवं विकास' (Research and Development- R&D) विभाग स्थापित किया जा रहा है, जिसमें प्रभावशाली रूप से अनुसंधान का कार्य किया जा रहा है।

(12) **विदेशी विनिमय की उपलब्धि** (Availability of Foreign Exchange) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी विनिमय का हस्तांतरण होता है। जिन देशों का भुगतान शेष पक्ष में रहता है अर्थात् निर्यात ज्यादा होते हैं तो ऐसे देशों के पास विदेशी विनिमय के अथाह भण्डार हो जाते हैं। विदेशी के भण्डार देश की आर्थिक प्रगति के प्रतीक होते हैं। जिन देशों के पास विदेशी मुद्राएं होती हैं, उन्हें भविष्य में भी अन्य

राष्ट्रों से काफी सुविधाजनक शर्तों पर माल मिल जाता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से उपलब्ध विदेशी विनिमय देश के लिए काफी लाभदायक रहता है।

(13) **एकाधिकार प्रवृत्तियों पर अंकुश** (Restriction on Monopoly Activities) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होने से देश में उत्पादक एकाधिकार की कोशिश में रहते हैं। एक से अधिक उत्पादक होने के बावजूद भी वे विभिन्न प्रकार के संघ व संयोग बनाकर प्रायः एकाधिकारी प्रवृतियों को पैदा कर लेते हैं, जिसमें उन्हें अधिक मूल्य वसूल करने की सुविधा मिल जाती है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा होने से माल आयात किया जा सकेगा तथा इस प्रकार देश में एकाधिकार प्रवृत्तियों को बल नहीं मिल सकेगा।

(14) **प्रतियोगी बाजार के लाभ** (Benefits of Competitive Market) - अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बाजार की स्थिति प्रतियोगी बाजार की होती है। इसके कारण की विभिन्न देशों के निर्यातक तथा उत्पादक अपने-अपने माल को विश्व बाजारों में बेचने के इच्छुक व प्रयत्नशील रहते हैं। इसके अलावा प्रत्येक देश की सरकार भी निर्यात संवर्धन की दिशा में प्रयत्नशील रहती है। इससे बाजार में वस्तु की पूर्ति करने वाले पक्षकारों की संख्या अत्यधिक रहती है, जिससे प्रतियोगी परिस्थिति बनी रहती है तथा क्रेता को न्यूनतम मूल्यों पर वस्तु उपलब्ध हो जाती है।

(15) **रोजगार के अतिरिक्त अवसर** (Opportunity for Additional Employment) - अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से विकास के साथ-साथ रोजगार के अतिरिक्त अवसर भी स्वतः ही प्रकट होने लगते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से औद्योगिक उत्पादन बढ़ता है, नये कल कारखाने स्थापित होते हैं तथा व्यापार से संबंधित सेवाओं आदि की गतिविधियों में वृद्धि होती है। इन सभी विकास कार्यो में रोजगार के नये-नये अवसर प्राप्त होते हैं। रोजगार के अवसरों में वृद्धि का काफी अच्छा व दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

(16) **सहायक सेवा संस्थाओं का विकास** (Development of Ancilliary Service Institutions) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के साथ-साथ उससे सम्बन्धित अन्य सेवा संस्थानों का विकसित होना भी अवश्यम्भावी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बैंकों का कार्य बढ़ता है। देशी व विदेशी नई-नई बैंकों की शाखाएं खुलती हैं, बैंकिंग व्यवसाय विकसित होता है। इसी तरह से यातायात के साधनों का भी विकास होता है। अधिक निर्यात भी स्थिति में जहाजी कम्पनियों की संख्या में वृद्धि होती है। बीमा व्यापार की भी वृद्धि होती है। गोदाम ग्रहों हो की संख्या बढ़ती है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से सहायक सेवा संस्थानों का अत्यधिक विकास होता है।

(17) **आर्थिक विकास को प्रोत्साहन** (Economic Growth) - प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डब्ल्यू.डब्ल्यू. रोस्टोव ने तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का किसी देश के आर्थिक विकास से सीधा संबंध स्थापित किया है। जिन देशों के आयात अधिक हैं वे देश विकास की निम्न श्रेणी में आते हैं। निर्यात में भी जब औद्योगिक उत्पादनों की मात्रा में वृद्धि होती है तो वह राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर कहलाता है। वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से उद्योगों का विकास होता है, सेवा संस्थानों का विकास होता है, रोजगार

वृद्धि होती है, प्राकृतिक साधनों का विदोहन होता है, आदि बातों से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है जो आर्थिक विकास का द्योतक है।

(18) **अंतर्राष्ट्रीय सहयोग** (international Co-operation) - अंतर्राष्ट्रीय सहयोग आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक सभी क्षेत्रों में हो सकता है। दो देश जब आपस में व्यापार करते हैं तो व्यापार के साथ-साथ पूंजी का प्रवाह भी सम्भव हो सकता है। एक देश द्वारा दूसरी देश में उद्योग-धंधें स्थापित करने के लिए पूंजी विनियोजन भी किया जाता है तथा ऋण आदि भी उपलब्ध कराया जाता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होती है।

(19) **अंतर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व** (International Brotherhood) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दो भिन्न देशों के नागरिक परस्पर नजदीक आते हैं, भिन्न विचारधाराओं के व्यक्तियों को परस्पर समझने का अवसर मिलता है। भिन्न धर्म व सम्प्रदाय के लोगों का मिलन होता है। समुद्र पार अनजान दूरियों की यात्राएं होती हैं, नये लोगों के लिए रहने के अवसर बढ़ते है। इस सब बातों से मानव एक-दूसरे के नजदीक आता है तथा उनमें परस्पर भ्रातृत्व भावना का विकास होता है। इसे अलावा यह एक समाजशास्त्रीय अध्ययन भी है जिसका तात्पर्य है कि आर्थिक संयबंधों में एकजुट व्यक्तियों के पारस्परिक व पारिवारिक संबंध भी मधुर होते हैं।

(20) **अंतर्राष्ट्रीय शांति** (International Peace) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शांति का प्रतीक है। जिन देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से पारस्परिक आर्थिक सहयोग होता है उनमें पारस्परिक राजनैतिक सहयोग भी निश्चित रूप से पाया जाता है। आर्थिक साहचर्य वाले देशों के मध्य यदि किन्हीं बिन्दुओं पर विचारों की भिन्नता पैदा होती है, तो भी वे मिल बैठ कर पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान से उस समस्या का हल निकाल लेते हैं। पारस्परिक युद्ध की नौबत वहां नहीं आ सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों की पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ती है, फलस्वरूप विश्वशांति का मार्ग सुदृढ़ होता है।

(21) **"वसुधैवकुटुम्बकम्" का आदर्श** (The Ideal of "Vasudhev kutumbkam" (World Family) - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पीछे एक बहुत बड़ा 'वसुधैव कुटुम्बकम् का शाश्वत आदर्श निहित है जिसका अर्थ है सम्पूर्ण विश्व एक कुटुम्ब के सादृश्य हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत एक राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति दूसरे राष्ट्र द्वारा की जाती है, एक-दूसरे के आर्थिक विकास में सहयोग दिया जाता है, विश्व शांतिमय वातावरण का निर्माण सम्भव होता है आदि सभी बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदर्श का एक प्रभावशाली प्रमाण है।

5.6 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख सिद्धान्त

5.6.1 तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है, इसकी आवश्यकता क्या है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार क्या है? इस

स्वाभाविक एवं सरल प्रश्न का उत्तर हमें प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित 'तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से मिलता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के आविष्कार के लिए कर्नल रॉबर्ट टारेन का नाम भी लिया जाता है, परन्तु सही अर्थों में यह सिद्धान्त रिकार्डों द्वारा प्रतिपादित किया गया था। इसके विकास का श्रेय जॉन स्तुअर्ट मिल, कैरनेस तथा बैस्टेबल को है। इस सिद्धान्त की आधुनिक व्याख्या करने वालों में अमेरिकी अर्थशास्त्री टॉसिग तथा जर्मन अर्थशास्त्री हैबरलर के नाम उल्लेखनीय है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आधारशिला विभिन्न देशों में उत्पादन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर रखी गयी है। भौगोलिक श्रम-विभाजन विशिष्टीकरण को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप उत्पादक उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनमें उसे विशिष्टीकरण प्राप्त होता है। प्राकृतिक सुविधाओं के अनुसार विभिन्न देशों में विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन-लागत में अन्तर होता है। उत्पादन-लागतों के इन्हीं अन्तरों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उदय होता है। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से सभी देश उन वस्तुओं का उत्पादन कर निर्यात करते हैं जिनकी उत्पादन-लागत अन्य देशों की अपेक्षा कम होती है, तथा उन वस्तुओं का आयात करते हैं जिनके उत्पादन में अन्य देशों की अपेक्षा इस देश में उत्पादन-लागत अधिक होती है। दूसरे शब्दों में, सापेक्षिक लागत-अन्तरों के कारण लागत लाभ वाली वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तथा लागत-हानि वाली वस्तुएं आयात की जाती हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों को लाभ होता है।

लागतों में अन्तर

अलग-अलग देशों में विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन-लागतों में अन्तरों की जानकारी के लिए रिकार्डों ने दो देशों और दो वस्तुओं को चुना था और 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त के आधार पर लागत-मूल्य को 'श्रम-समय' में मापा था। लागत में अन्तर तीन प्रकार के हो सकते हैं - 1. लागतों में पूर्ण या निरपेक्ष अन्तर, 2. लागतों में सापेक्ष या तुलनात्मक अन्तर तथा 3. लागतों में समान अन्तर।

1. **लागतों में पूर्ण या निरपेक्ष अन्तर -** कुछ देशों को प्राकृतिक सुविधाएं (भूमि की बनावट, खनिज-सम्पत्ति, जलवायु आदि) अधिक मात्रा में उपलब्ध होने के कारण वे कुछ वस्तुओं का उत्पादन कम लागत पर कर सकते हैं। अन्य देश इन वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करने के बजाय उस देश में आयात करना लाभपूर्ण समझते है। लागतों में इस प्रकार के अन्तर को निरपेक्ष अन्तर कहते हैं। इसे एक काल्पनिक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, भारत और अमेरिका से श्रम की एक इकाई दो विभिन्न पहलुओं - कपास तथा जूट का उत्पादन (इकाइयों में) इस प्रकार करती है:

प्रति इकाई उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयों में)

देश	**कपास**	**जूट**
भारत	2	1
अमेरिका	1	2

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत में अमेरिका की अपेक्षा कपास की उत्पादन-लागत अधिक है और अमेरिका में भारत की अपेक्षा जूट की उत्पादन-लागत अधिक है। ऐसी स्थिति में यदि

अमेरिका केवल कपास का ही उत्पादन करे और भारत केवल जूट का और दोनों अपने अतिरिक्त उत्पादन को एक-दूसरे को बेच दें तो दोनों देशों को लाभ होगा। इसके विपरीत, यदि भारत दोनों वस्तुओं का उत्पादन करता है तो 1 इकाई जूट त्यागकर केवल 1/2 इकाई कपास प्राप्त करता है, और इसी प्रकार अमेरिका 1 इकाई कपास त्यागकर केवल 1/2 इकाई जूट का उत्पादन कर पाता है। इन परिस्थितियों में यदि भारत जूट का निर्यात तथा कपास का आयात और अमेरिका कपास का निर्यात तथा जूट का आयात करे, और भारत अमेरिका को कपास की 1 इकाई के बदले 1/2 इकाई से कुछ अधिक जूट दे तथा अमेरिका भारत को 1 इकाई के बदले व 1/2 इकाई से अधिक कपास दे, तो दोनों को लाभ होगा। इस प्रकार विभिन्न देशों में लागतों में निरपेक्ष अन्तर होने की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है तथा दोनों देशों को पारस्परिक लाभ होता है। एडम स्मिथ ने निरपेक्ष लागत-अन्तर को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना था।

2. **लागतों में सापेक्ष या तुलनात्मक अन्तर -** लागत में तुलनात्मक अन्तर से अभिप्राय यह है कि कोई भी देश कई वस्तुएं कम लागत पर उत्पादन करने की स्थिति में हो सकता है, परन्तु फिर भी वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक कुशलता अन्य देशों से भिन्न होने पर इस देश को एक विशेष वस्तु के उत्पादन में सापेक्षिक लाभ अधिक होता है। उदाहरणार्थ, एक देश के लिए विदेशों से ऐसी वस्तुओं का आयात करना भी लाभदायक हो सकता है जिन्हें वह स्वयं विदेशों की तुलना में कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है; क्योंकि यह देश अन्य वस्तुओं का उत्पादन करके जिनमें इसे अधिक कुशलता अथवा विशेषता प्राप्त है, और अधिक लाभ कमा सकता है।

बैस्वेल ने लागत में तुलनात्मक अन्तर को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है "एक डॉक्टर बगीचे के काम में अपने माली से निपुण हो सकता है, परन्तु डॉक्टरी के काम में वह बगीचे के काम से अधिक निपुण है। यदि वह अपना सारा समय डॉक्टरी में, जिसमें वह अधिक निपुण है, नहीं देगा तो उसे हानि होगी। पूरे समय माली के काम के बदले डॉक्टरों का काम करने में ही उसे अधिक लाभ होगा। इसी प्रकार, यदि एक देश दूसरे देश की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अधिक सस्ती बना सकता हो तो भी उसके लिए सबसे लाभदायक यह होगा कि वह केवल उसी वस्तु के उत्पादन में लगा रहे जिसके उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा उसे तुलनात्मक लाभ अधिक हो। दूसरी ओर, कम निपुणता वाले देश के लिए भी यही लाभदायक होगा कि वह केवल उसी वस्तु के उत्पादन में अपना समय लगाये जिसमें उसे तुलनात्मक हानि सबसे कम हो।"

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत में अन्तर की स्थिति को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाया था:

प्रति इकाई उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयों में)

देश	**शराब**	**कपड़ा**
पुर्तगाल	80	90
इंगलैण्ड	120	100

उक्त उदाहरण में पुर्तगाल उत्पादन की दोनों शाखाओं में इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक कुशल है, परन्तु यह कुशलता अथवा श्रेष्ठता कपड़े की अपेक्षा शराब में अधिक है। दूसरे शब्दों में, शराब के उत्पादन में पुर्तगाल को तुलनात्मक लाभ प्राप्त है क्योंकि इसमें उसका लागत अन्तर (120-80)

कपड़े में उसके लागत-अन्तर (100-90) की अपेक्षा अधिक है। ऐसी स्थिति में पुर्तगाल के लिए अपने सभी साधनों द्वारा शराब का तथा इंगलैण्ड के लिए अपने सभी साधनों द्वारा कपड़े का उत्पादन करना दोनों देशों के लिए अधिक लाभप्रद होगा। पुर्तगाल द्वारा शराब का इंगलैण्ड के कपड़े से विनिमय करके उसे 80 श्रम-इकाइयों की लागत से कपड़े की वह मात्रा प्राप्त हो सकेगी जिसकी उत्पादन-लागत पुर्तगाल में 80 श्रम-इकाइयों से अधिक है। इसी प्रकार, इंगलैण्ड कपड़ा देकर 100 श्रम-इकाइयों की लागत से शराब की वह मात्रा प्राप्त कर सकेगा जिसको उत्पादन-लागत इंगलैण्ड में 100 श्रम-इकाइयों से अधिक है। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार उत्पादन-लागत में तुलनात्मक अन्तर ही होता है। रिकार्डो द्वारा दी गयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी व्याख्या तुलनात्मक लागत-अन्तरों पर आधारित है।

3. **समान अन्तर -** यदि एक देश में उत्पादन-लागत अन्य देशों की अपेक्षा कम होती है परन्तु लागत में अन्तर का अनुपात एक समान होता है तो इसे उत्पादन-लागत में समान अन्तर कहते हैं। यह निम्नलिखित काल्पनिक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है

प्रति इकाई उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयों में)

देश	**जूट**	**कपास**
भारत	50	100
बंगलादेश	40	80

उक्त उदाहरण के आधार पर बंगला देश में जूट तथा कपास दोनों वस्तुओं की उत्पादन-लागत भारत में इन वस्तुओं की उत्पादन-लागत से कम है। परन्तु दोनों देशों में लागत-अन्तर का अनुपात एक-समान है। दोनों देशों में जूट की उत्पादन-लागत कपास की लागत से आधी है। दोनों देशों में लागत-अनुपात 1 इकाई जूट - 1/2 इकाई कपास है। ऐसी स्थिति में इन वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी को लाभ नहीं होगा। भारत 1 इकाई जूट के बदले 1/2 इकाई से अधिक कपास चाहता है और बंगलादेश 1/2 इकाई से अधिक दे नहीं सकता, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो देशों में वस्तुओं की उत्पादन-लागत में अन्तर होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन तथा व्यापार सम्भव होता है। यदि लागत सम्बन्धी अन्तर न हो तो कोई व्यापार सम्भव नहीं होगा।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ

जैकब वाइनर के अनुसार, "प्रत्येक देश अनिवार्य रूप से उन वस्तुओं का उत्पादन नहीं करता जिन्हें वह दूसरे देश से सस्ता उत्पन्न करता है, अपितु वह उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह अधिकतम सापेक्षिक लाभ अर्थात् न्यूनतम तुलनात्मक लागत पर उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनके उत्पादन में या तो उसकी सर्वाधिक श्रेष्ठता अथवा न्यूनतम निकृष्टता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है।" इस प्रकार यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतंत्र हो तो प्रत्येक देश उस वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा जिसमें उसके श्रम की सापेक्षिक कुशलता सबसे अधिक है या सापेक्षिक अकुशलता सबसे कम है, और उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें उसके श्रम की सापेक्षिक अकुशलता सबसे अधिक है या सापेक्षिक कुशलता सबसे कम है।

रिकार्डो तथा जे.एस मिल आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त निम्नलिखित अव्यक्त तथा स्पष्ट मान्यताओं पर आधारित है :

1 यह सिद्धान्त 'मूल्य-निर्धारण के श्रम सिद्धान्त' पर आधारित है और यह मानकर चलता है कि वस्तु उत्पादन-लागत श्रम-समय के अनुपात में निश्चित होती है।

2 समस्त श्रम एक-समान होता है।

3 उत्पादन-लागत स्थिर मानी गयी है अर्थात् यह सिद्धान्त उत्पादन के स्थिर प्राप्ति नियम पर आधारित है।

4 रिकार्डो ने दो देशों और दो ही वस्तुओं पर विचार किया है।

5 देश के भीतर उत्पत्ति के साधन पूर्णत: गतिशील हैं, परन्तु दो देशों के बीच गतिहीन हैं।

6 वस्तु की माँग के प्रभाव का कोई वर्णन नहीं किया गया है; अर्थात् मांग स्थिर मानी गयी है।

7 यह माना गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतंत्र तथा प्रतियोगी है।

8 दोनों देशों में स्वर्णमान प्रचलित है तथा मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त को सत्य स्वीकार किया गया है।

9 यातायात-व्यय पर कोई विचार नहीं किया गया है।

10 दोनों देश स्थैतिक समय की ओर बढ़ रहे हैं, व्यापार-चक्रों का हस्तक्षेप स्वीकार न करके दीर्घकालीन समायोजन को ध्यान में रखा गया है।

11 समान आर्थिक स्थिति वाले दो देशों के बीच तथा समान आर्थिक मूल्य वाली वस्तुओं में व्यापार हो रहा है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचनाएँ

काफी समय तक, जैसा एल्सवर्थ ने बताया है, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त इतना ही निरपेक्ष, सत्य और निर्विवाद माना जाता था जितना की उत्पत्ति हास नियम अथवा श्रम-विभाजन। परन्तु सिद्धान्त की मान्यताएं तो प्रारम्भ से ही आलोचना का विषय रही हैं और अनेक लेखकों द्वारा इनकी आलोचनाएं होती रही हैं। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं अग्रलिखित हैं :

1. **उत्पादन-लागत श्रम-समय पर आधारित -** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मूल्य के श्रम-सिद्धान्त पर आधारित है। रिकार्डो ने लागत-मूल्य की माप 'श्रम-समय' से की थी। इस सिद्धान्त में मौद्रिक लागतों अथवा मूल्य-सम्बन्धी अन्तर के बजाय श्रम-लागतों पर अधिक बल दिया गया है। कैरनेस तथा अन्य अनेक अर्थशास्त्रियों ने यह सिद्ध किया है कि वस्तु का मूल्य 'श्रम-समय' के अनुपात में नहीं होता। एक ही देश में श्रमिकों के अप्रतियोगी समूह पाये जाते हे, अर्थात् अनेक कारणों से श्रमिक एक कार्य को छोड़कर दूसरे में नहीं जा सकते। परिणामस्वरूप विभिन्न कार्यों में मजदूरी अलग-अलग होती है। अतएव वस्तु का मूल्य 'श्रम-समय' पर आधारित नहीं होता बल्कि दी गयी मजदूरी पर आधारित होता है। मजदूरी के अतिरिक्त उत्पादन-लागत तथा मूल्य पर पूंजी के उपयोग, ब्याज की दर, उत्पादन का संगठन तथा कार्य क्षमता, श्रम की कुशलता आदि का प्रभाव पड़ता है। वास्तविकता यह है कि श्रम-लागत दृष्टिकोण उत्पत्ति के साधनों के

परिवर्तनशील संयोगों के तथ्यों से मेल नहीं रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सिर्फ मौद्रिक लागत ही तुलना का सर्वोत्तम आधार बन सकती है।

2. **स्थिर लागतों पर आधारित -** यह सिद्धान्त लागत तथा उत्पत्ति के स्थिर नियम पर आधारित है जो व्यावहारिक जीवन में केवल एक अपवाद है। वास्तविक जीवन में उत्पादन उत्पत्ति हास नियम अथवा लागत वृद्धि नियम या उत्पत्ति वृद्धि नियम अथवा लागत हास नियम के अन्तर्गत होता है, जबकि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में वास्तविकता की पूर्ण उपेक्षा की गयी है।
3. **श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता -** इस सिद्धान्त की यह मान्यता पूर्ण रूप से अवास्तविक है कि श्रम तथा पूंजी देश के भीतर तो पूर्णतया गतिशील होते हैं परन्तु दो देशों के बीच पूर्णतया गतिहीन होते हैं। वास्तविक जीवन में उत्पत्ति के साधन न तो देश के भीतर पूर्णतया गतिशील होते हैं और न ही दो देशों के बीच पूर्णतया गतिहीन। दोनों दशाओं में केवल मात्रा का ही अन्तर होता है, बल्कि कभी-कभी तो आन्तरिक गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का ही परिणाम होती है, क्योंकि उत्पादन के विशिष्ट रूप को अपनाने वाला देश अन्य वैकल्पिक रूपों को अपनाने में असमर्थ रहता है।
4. **मांग की लोच का प्रभाव -** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह तो बताता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो देशों के बीच वस्तुओं की उत्पादन-लागतों के अन्तर के कारण होता है; परन्तु इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ दो देशों के बीच किस अनुपात में और कैसे विभाजित होता है। इस संबंध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि जिस देश में विदेशी माल की मांग की लोच अधिक होती है, व्यापार की शर्त उसके अनुकूल होती हैं; तथा उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसके विपरीत, विदेशी माल की मांग की लोच कम होने पर अपेक्षाकृत कम लाभ प्राप्त होता है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मांग के प्रभाव की उपेक्षा करता है।
5. **यातायात-व्यय -** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर यातायात व्यय के प्रभाव पर कोई विचार नहीं करता। ऐसी वस्तुएं जिन पर यातायात-व्यय अधिक होता है, जैसे लकड़ी, कोयला इत्यादि, उनकी उत्पादन लागत कम होने पर उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत सीमित होता है। एक वस्तु का विदेशी व्यापार तब तक नही होता जब तक दो देशों के बीच इसकी उत्पादन-लागत का अन्तर एक देश से दूसरे देश को यातायात करने के व्यय से अधिक न हो।
6. **अपूर्ण विशिष्टीकरण -** फ्रैंक ग्राहम के विचार में यदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की समस्त मान्यताओं को सही मान भी लिया जाय तो भी विश्व में पूर्णरूपेण प्रादेशिक विशिष्टीकरण अथवा श्रम-विभाजन सम्भव नहीं होगा। देशों में भौगोलिक तथा आर्थिक असमानताएं होने के कारण अनेक कठिनाइयां सामने आती हैं। एक छोटा देश विशिष्टीकरण के द्वारा अपनी आवश्यकताएं पूरी कर सकता है, परन्तु एक बड़ा देश नहीं। मान लीजिए, भारत को जूट तथा बर्मा को चावल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त हुए हैं और दोनों ही लाभपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करते हैं। परन्तु चावल का उत्पादन बढ़ा लेने पर बर्मा न तो भारत की आवश्यकता पूरी कर

सकता है और न ही बर्मा भारत से जूट को बहुत अधिक मात्रा में खरीद सकता है। इन परिस्थितियों में भारत जैसे बड़े देश को चावल का भी उत्पादन करना पड़ेगा और जूट का भी, और इस प्रकार अकेले जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार जब तक व्यापार की वस्तुएं बराबर के मूल्य की न हों, जैसे कपड़ा व दियासलाई, तो कम मूल्य वाली वस्तु में विशिष्टीकरण करने वाला देश अपूर्ण विशिष्टीकरण ही कर सकेगा। इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण ग्राहम ने लिखा है कि 'यदि दो समान कुल उपभोग-मूल्य की वस्तुओं में लगभग समान आर्थिक महत्व के दो देशों के बीच व्यापार होने की कल्पना करके पलड़े बराबर रखे जाएं, तब ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का निष्कर्ष सही हो -सकता. है।"

7. **त्रुटिपूर्ण तथा अवास्तविक -** ओहलिन ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अवास्तविक, जटिल, खतरनाक तथा अनावश्यक कहकर इसकी आलोचना की है। वास्तव में यह सिद्धान्त अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है तथा त्रुटिपूर्ण है। यह सिद्धान्त जटिल इसलिए है कि यह विभिन्न देशों में पूर्ण लागत-भिन्नताओं पर प्रत्यक्ष रूप से विचार नहीं करता। यह अवास्तविक इसलिए है क्योंकि उत्पादन-लागत की माप केवल 'श्रम-समय' के आधार पर करता है तथा अन्य लागत-तत्वों को छोड़ देता है। यह सिद्धान्त स्थैतिक तथा दृढ़ है जबकि आर्थिक स्थिति प्रावैगिक तथा परिवर्तनशील है। यह सिद्धान्त दो देशों और दो वस्तुओं के संदर्भ में ही विचार करता है, जबकि वास्तविक जगत में अनेक वस्तुएं एवं अनेक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साथ-साथ संलग्न होते हैं। ओहलिन ने इस सिद्धान्त को खतरनाक भी कहा है, क्योंकि दो देशों के बीच दो वस्तुओं के व्यापार की व्याख्या द्वारा यह जिस निष्कर्ष पर पहुंचता है, उसे निसंकोच बिना किसी संशोधन के वास्तविक स्थिति पर लागू कर देता है, जबकि वास्तव में व्यापार अनेक देशों के बीच अनेक वस्तुओं का होता है।
8. **व्यापार-प्रतिबन्ध -** यह सिद्धान्त स्वतन्त्र तथा प्रतियोगी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कल्पना पर आधारित है। परन्तु वास्तविक जीवन में प्रत्येक देश अन्य देशों पर अत्यधिक निर्भरता से बचने का प्रयत्न करता है और देशी उत्पादन के प्रोत्साहन के लिए विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबंध लगाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता, आयात-निर्यात कर, व्यापार-प्रतिबन्ध, राज्य द्वारा व्यापार, आर्थिक नियोजन इत्यादि परिस्थितियों ने इस सिद्धान्त का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया है। जैकब वाइनर के शब्दों में, "विश्व में अनेक परिवर्तन हुए हैं, तथा आज विश्व की अर्थ-व्यवस्था नियोजित है, राज्य व्यापार करता है, कृत्रिम राष्ट्रीय कीमत-स्तर पाया जाता है,प्रतिष्ठित सिद्धान्त वर्तमान परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और सम्भवत: इन परिस्थितियों के लिए कोई अन्य सामान्य सिद्धान्त है भी नहीं और हो भी नहीं सकता।
9. **अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अनुपयुक्त -** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल पूंजीवादी विकसित देशों के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। इसे अर्द्ध-विकसित देशों पर लागू करने मे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न होती है। यह सिद्धान्त स्थैतिक स्वभाव का है और सभी देशों मैं पूर्ण रोजगार और उत्पत्ति-साधनों में पूर्ण गतिशीलता की कल्पना

करता है। यह सिद्धान्त अल्पदृष्टीय भी है और विश्व आय के वितरण की उपेक्षा करता है। अर्द्ध-विकसित देशों को कृषि-उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। परन्तु कृषि-उत्पादन में वृद्धि कम बढ़ती हुई लागत पर प्राप्त की जा सकती है। इसलिए ऐसे देशों में इस सिद्धान्त के निर्देशानुसार विशिष्टीकरण करना लाभदायक नहीं हो सकता।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में सुधार

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा संशोधन तथा सुधार किया गया है। सिद्धान्त की मूल भावना को तो सभी ने स्वीकार किया है, परन्तु इसकी मान्यताओं से संबन्धित समय-समय पर अनेक संशोधन किये गये हैं। जे.एस. मिल ने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय का अनुपात केवल लागत अथवा पूर्ति की दशाओं पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् मांग की दशाओं का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

कैरनेस ने अप्रतियोगी समुदायों के विचार का प्रतिपादन किया जिसके आधार पर उन्होंने बताया कि किसी एक देश के भीतर श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता पूर्ण नहीं होती और न ही दो देशों के बीच श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता का अभाव होता है। बैस्टेबल ने दो देशों तथा दो वस्तुओं की अवास्तविक मान्यता को समाप्त करके अपने विश्लेषण में अनेक देशों तथा अनेक वस्तुओं की व्याख्या करके सिद्धान्त की भारी कमी को दूर किया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इस सिद्धान्त में अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो. फ्रेंक विलियम टॉसिग तथा जर्मन अर्थशास्त्री प्रो. गाटफाइड वांन हैबरलर ने महत्वपूर्ण सुधार किये है। इस प्रकार तुलनात्म्क लागत के प्रतिष्ठित सिद्धान्त में निम्नलिखित मुख्य सुधार हुए हैं

1. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मांग व पूर्ति की दशाएं -** रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि दोनों के बीच व्यापार की दो वस्तुओं की वास्तविक विनिमय-दर क्या होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा का निर्धारण कैसे होगा। जे.एस. मिल ने इस सिद्धान्त में आवश्यक संशोधन करके इस कमी को दूर किया। मिल ने यह स्पष्ट किया कि एक देश की वस्तुओं की वास्तविक विनिमय-दर तुलनात्मक लागत-अनुपात की सीमा के भीतर दूसरे देश की वस्तु की मांग के परिमाण तथा लोच पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, दो देशों के बीच वस्तुओं की विनिमय-दर उनकी परम्परानुवर्ती मांग की मात्रा एवं लोच पर निर्भर करती है। मिल के इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय मांग का समीकरण अथवा परस्परानुवर्ती मांग का सिद्धान्त कहते हैं।

   मार्शल ने मिल के मांग संबंधी विश्लेषण को मांग-पूर्ति विश्लेषण से जोड़ने का प्रयास किया जिसके लिए मांग एवं पूर्ति वक्रों का सहारा लिया गया है। देश की विभिन्न प्रकार की निर्यात वस्तुओं को एक सामान्य इकाई के रूप में माप करने के उद्देश्य से मार्शल ने "प्रतिनिधि गांठों" की धारणा को अपनाया है प्रत्येक गांठ श्रम एवं पूंजी की एक निश्चित निविष्ठ को व्यक्त करती हैं।

   मार्शल तथा एजवर्थ ने पारस्परिक मांग के विश्लेषण को स्पष्ट करने के लिए 'प्रस्ताव वक्र' का प्रयोग किया है। हैबरलर का मत है कि साधारण मांग व पूर्ति वक्रों के समान ही प्रस्ताव वक्रों पर भी प्रत्येक बिन्दु एक सम्भावित साम्य का बिन्दु होता है परन्तु इनमें से किसी भी वक्र पर कोई भी गति इस मान्यता के अधीन होती है कि सम्बद्ध देश

की अर्थ-व्यवस्था ने अपने आन्तरिक व्यापार को नयी साम्य परिस्थितियों के अनुसार समायोजित कर लिया है। प्रस्ताव वक्र तथा साधारण मांग-पूर्ति वक्रों में एक निश्चित संबंध के बावजूद इनमें

मुख्य अन्तर यह है कि प्रस्ताव वक्र के नियमक वस्तु की प्रति इकाई कीमत को नहीं मापते वरन् वस्तु के विक्रय से प्राप्त कुल आय को व्यक्त करते हैं। इन वक्रों का प्रयोग विनिमय अनुपात अथवा व्यापार की शर्तों से प्राप्त लाभ की मात्रा जानने के लिए किया जाता है।

2. **उत्पादन-लागत की मौद्रिक माप -** चूंकि उत्पादन-लागत में श्रम-समय के अतिरिक्त अन्य बातें भी सम्मिलित रहती हैं, इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को नहीं मानते। आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में तुलनात्मक सिद्धान्त की विवेचना मौद्रिक लागत के आधार पर की जाती है न तो सब देशों में श्रम की इकाइयां समान होती हैं और न ही उनकी कुशलता अथवा मूल्य समान होता है, इसलिए तुलनात्मक लागतों को मुद्रा के रूप में ही व्यक्त करना उचित है। प्रो. टांग ने सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रम-लागत के स्थान पर मौद्रिक मूल्यों के निरपेक्ष अन्तरों का उपयोग किया। मौद्रिक आधार पर वर्तमान अर्थशास्त्री सीमान्त लागत को मूल्य-सिद्धान्त का आधार मानते हैं, अतएव तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को भी सीमान्त लागत के रूप में ही व्यक्त- किया जाता है। कोई देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनकी सीमान्त उत्पादन लागत कम होती है, तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनकी सीमान्त उत्पादन लागत अपेक्षाकृत अधिक होती है।

   मुद्रा-मूल्य के अन्तर को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मान लेने पर रिकार्डो के सिद्धान्त की आधारशिला हिल जाती है। प्रो. टॉसिंग ने रिकार्डो के बचाव में यह तर्क दिया है कि मजदूरी के अन्तर प्रत्येक देश में पाये जाते हैं, इसलिए इनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार ही होता है। परन्तु टॉसिंग का बचाव आधुनिक अर्थशास्त्रियों को संतुष्ट नहीं कर सका है। टॉसिंग की मौद्रिक लागत संबंधी व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ अथवा हानि का अनुमान लगाने में भी असमर्थ है। प्रो. हैबरलर ने अपने अवसर-लागत विश्लेषण के द्वारा इसे सम्भव बनाने का प्रयास किया है।

3. **क्रमागत उत्पत्ति हास एवं वृद्धि नियमों को सम्मिलित करना -** प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की यह मान्यता कि समस्त उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति नियम के आधार पर होता है, बहुत अधिक आलोचना का विषय रही है। वास्तव में उत्पादन में उत्पत्ति हास नियम तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम भी लागू होते हैं, अतएव सिद्धान्त की व्याख्या में इनको सम्मिलित करना आवश्यक है। बैस्टेबल तथा टॉसिग ने इन दोनों नियमों की सम्भावनाओं की व्याख्या कर इस सिद्धान्त की बहुत बड़ी कमी को दूर किया है। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के तीनों नियमों की क्रियाशीलता पर विचार करते हैं, और यह उचित भी हे।

हैबरलर द्वारा प्रस्तुत अवसर लागत सिद्धान्त की भी यह विशेषता है कि यह 9परिवर्ती साधन अनुपातों पर लागू होता है। अवसर लागत सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि लागतों में तुलनात्मक अन्तर होने का एक कारण उत्पादन में बढ़ती हुई या घटती हुई लागतों का लागू होना है।

यदि किसी वस्तु के उत्पादन में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, तो कम लागत पर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। इसके परिणामस्वरूप लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की सीमा अधिक विस्तृत होती जाती है। इसके विपरीत उत्पत्ति हास नियम लागू होने की स्थिति में लाभदायक अंतर्राष्ट्रीय विनिमय की सीमा संकुचित होती है।

4. **यातायात-व्यय पर प्रभाव -** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में यातायात-व्यय अथवा परिवहन-लागत की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। आधुनिक अर्थशास्त्री वस्तुओं के मूल्य के विश्लेषण में परिवहन-लागत को भी महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। हैबरलर के अनुसार, " किसी वस्तु का निर्यात अथवा आयात उस समय तक नहीं किया जायेगा जब तक उसके दो देशों में उत्पादन व्यय का अन्तर उसके एक देश से दूसरे देश के यातायात व्यय से अधिक नहीं है। किसी देश की निर्यात करने की क्षमता केवल उसकी तुलनात्मक उत्पादन-लागत पर निर्भर नहीं होती अपितु यह परिवहन-लागत पर भी निर्भर करती है।
5. **अनेक देश तथा अनेक वस्तुएं -** प्राचीन अर्थशास्त्री तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या दो दशों के बीच दो वस्तुओं के आधार पर कर सकते थे, किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस मान्यता को अनावश्यक समझते हैं। वास्तविक जीवन में कई देश आपस में कई वस्तुओं का व्यापार करते हैं। हैबरलर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो से अधिक वस्तुओं की मान्यता को स्वीकार किया है। ग्राहम, टॉसिग, वान मेटिग तथा कुछ अन्य लेखकों ने अंकगणित का उपयोग करके सिद्धान्त में ऐसे सुधार किये जिससे उसे दो से अधिक देशों के साथ लागू किया जा सके।
6. **मजदूरी का प्रभाव -** तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार कम मजदूरी वाले देश में ऊंची मजदूरी वाले देश की अपेक्षा उत्पादन-लागत कम होती है। अत: कम मजदूरी वाला देश अधिक मजदूरी वाले देश को वस्तुओं का निर्यात करता है। आधुनिक अर्थशास्त्री इस विचार से सहमत नही है ऊंची मजदूरी वाले देशों में मजदूरी की उत्पादन-क्षमता अधिक होती है, अतएव उनमें उत्पादन-लागत भी अपेक्षाकृत कम होती है। इसीलिए कहा जाता है कि ऊंची मजदूरी नीची मजदूरी है तथा नीची मजदूरी ऊंची मजदूरी है। ऊंची मजदूरी, व्यावहारिक जीवन में, देश के निर्यात व्यापार में बाधक नहीं होती। विकसित देशों में अर्द्ध-विकसित देशों की अपेक्षा मजदूरी-दर ऊंची है, परन्तु उनकी निर्यात की मात्रा भी बहुत अधिक है। इस प्रकार व्यापार की मात्रा के निर्धारण में मजदूरी दर नहीं बल्कि मजदूरों को कार्यक्षमता अधिक महत्वपूर्ण है।

5.6.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त

प्रो. हैबरलर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विश्लेषण श्रम लागत के स्थान पर अवसर लागत के आधार पर किया है। अवसर लागत से अभिप्राय एक वस्तु की दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापित करने

की लागत से है और इसे 'त्यागे हुए विकल्प के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरणतः, उत्पत्ति कें विभिन्न साधनों का एक संयोग या तो 2x या 4x का उत्पादन कर सकता है तो 1y का उत्पादन करने की अवसर लागत 1/ 2x होगी। इन दो वस्तुओं के बीच विनिमय अनुपात प्रतिस्थापन वक्र के द्वारा व्यक्त किया जा सकता हैं।

यदि स्थिर लागतों के अन्तर्गत उत्पादन की स्थिति की कल्पन की जाय तो दो वस्तुओं A व B का प्रतिस्थापन अनुपात समान ही रहेगा, अर्थात A के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए B का समान मात्रा में ही त्याग करना पड़ेगा। समान लागत की स्थिति में प्रतिस्थापन दर बराबर एक ही रहेगी। मान लीजिए, A वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने के लिए B वस्तु की 2 इकाइयां कम करनी पड़ती है तो A और B के मध्य प्रतिस्थापन दर 1:2 होगी। इन वस्तुओं की कीमत अथवा विनिमय अनुपात भी यही होगा। यदि इन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत किया जाता है तो प्रतिस्थापन वक्र मूल्य बिन्दु के नतोदर होगा। ऐसी स्थिति में A की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने के लिए B की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा का त्याग करना पड़ेगा। A की B के रूप में अवसर लागत बढ़ती जायेगी। यदि दोनों वस्तुओं का उत्पादन घटती लागतों के अधीन होता है तो प्रतिस्थापित वक्र मूल बिन्दु से उन्नतोदर होगा। जैसे-जैसे B के स्थान पर A का उत्पादन प्रतिस्थापित किया जायेगा, A की अवसर लागत B के रूप में घटती जायेगी। इसी प्रकार A के स्थान पर B का अतिरिक्त उत्पादन करने पर B की अवसर लागत A के रूप में घटती जायेगी।

स्थिर लागत के अन्तर्गत दो देशों में दो वस्तुओं का विनिमय अनुपात अवसर लागत द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक लागत तथा कीमत स्थिर रहती है। ऐसी स्थिति में दो देशों के बीच विशिष्टीकरण और व्यापार का आधार अवसर लागत का अन्तर होगा।

एक देश उस वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करेगा जिसमें उसकी अवसर लागत कम है। दूसरा देश भी कम अवसर लागत वाली वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करेगा। जो देश जिस वस्तु के उत्पादन में अपने समस्त साधन लगायेगा उस देश द्वारा उसी वस्तु का निर्यात किया जायेगा।

बढ़ती हुई लागतों की दशा में एक ही समय में दोनों देशों में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन होगा। इस प्रकार पूर्ण विशिष्टीकरण न होकर केवल आंशिक विशिष्टीकरण होगा। परन्तु प्रत्येक देश उस वस्तु का उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक करेगा जिसमें उसकी अवसर लागत कम होगी। यही उसकी निर्यात वस्तु होगी।

यदि देश में घटती हुई लागत के अन्तर उत्पादन हो रहा है तो यह देश किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण कर सकता है अथवा दोनों वस्तुओं का उत्पादन कर अपूर्ण विशिष्टीकरण कर सकता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कीमत द्वारा निर्धारित होगा कि वह किस स्थिति को चुनता है। यदि आरम्भ में A वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है तो इसी वस्तु का उत्पादन बढ़ाया जायेगा। उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन लागत में कमी होगी तथा लाभ में वृद्धि होगी।

अवसर लागत सिद्धान्त की समीक्षा

रिकार्डो के श्रम लागत दृष्टिकोण की तुलना में अवसर लागत दृष्टिकोण निश्चित ही एक सुधार है। इसके कुछ महत्वपूर्ण गुण निम्नलिखित हैं :

1. उत्पादन की दशाओं की व्याख्या के लिए अवसर लागत का आधार श्रम लागत की तुलना में अधिक तार्किक व व्यावहारिक है।
2. यह एक सामान्य सिद्धान्त है जो कि आन्तरिक विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की परिस्थितियों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है।
3. यह परिवर्तनशील लागतों की व्याख्या करता है और स्पष्ट करता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त उत्पत्ति के किसी भी नियम के अन्तर्गत लागू हो सकता है।
4. यह प्रावैगिक धारणा अपनाता है, क्योंकि साधनों की उत्पादकता पर ध्यान दिया जाता है जो कि परिवर्तनशील है। साधनों की कार्यकुशलता में वृद्धि होने पर उत्पादन सम्भावना वक्र दायीं ओर खिसक जाता है
5. यह सिद्धान्त ओहलिन के सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि वह उत्पत्ति के साधनों के बीच प्रतिस्थापन की समस्या पर विचार करता है।

लागत सिद्धान्त में अनेक दोष भी बताये जाते हैं। जैकब वाइनर इसके प्रमुख आलोचक हैं। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :

1. अवसर लागत सिद्धान्त श्रम - लागत की धारणा से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों से अपना बचाव कर लेता है, परन्तु मांग पक्ष में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करता है। इसकी व्याख्या उत्पादन उदासीनता वक्रों की सहायता से की जाती है जो कि अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित होते हैं, जैसे उत्पत्ति के साधनों की स्थिर पूर्ति, आन्तरिक व बाह्य बचतें न होना, वस्तुओं तथा साधनों के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होना, इत्यादि। व्यावहारिक जीवन में ये मान्यताएं लागू नहीं होती है।
2. अवसर लागत की व्याख्या कल्याणकारी नीतियों का मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। यह केवल विश्लेषण एवं व्याख्या के लिए उपयुक्त है जबकि श्रम लागत कल्याण संबंधी नीतियों के लिए उपयुक्त है।
3. यह सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि तुलनात्मक लागत के स्थान पर तुलनात्मक अवसर लागत का प्रयोग किया गया है। हमें इस बात का उत्तर नहीं मिलता है कि तुलनात्मक अवसर लागत के अन्तर कैसे ज्ञात हों।

वास्तविकता यह है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर एक सुधार होते हुए भी अवसर लागत दृष्टिकोण अनेक बातों में अपूर्ण है और इसकी अपनी कुछ सीमाएं हैं।

5.6.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त स्वीडिश अर्थशास्त्री बरटिल ओहलिन की देन है, जिन्होंने इसकी व्याख्या सन् 1933 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में की थी। ओहलिन स्वयं वालरस, परेटो तथा कैसल द्वारा प्रतिपादित मूल्य के सिद्धान्त से प्रभावित थे। चूंकि ओहलिन के विचार 1919 में हेक्सचर द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों से मिलते-जुलते हैं, इसलिए आधुनिक सिद्धान्त को हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त भी कहा जाता है।

यह बताया जा चुका है कि ओहलिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा मानते हैं। इसलिए उसके विचार में अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के निर्धारक कारक भी वही हैं, जो आन्तरिक व्यापार में मूल्यों को निर्धारित करते हैं। इसलिए दोनों को साम्य मूल्य सिद्धान्त द्वारा समझाया जा सकता है।

ओहलिन ने वस्तु की उत्पादन-लागत के विश्लेषण के लिए 'श्रम-समय' को आधार मानना उपयुक्त नहीं समझा तथा मुद्रा-लागत पर विचार किया। विभिन्न देशों की वस्तुओं के मुद्रा-मूल्य में अन्तर होना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख कारण होता है, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि विभिन्न देशों में वस्तुओं के मूल्य में अन्तर क्यों होते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए ओहलिन ने सामान्य साम्य मूल्य सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू किया है।

साम्य सिद्धान्त, संक्षेप में यह है की वस्तु का मूल्य मांग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। किसी वस्तु की मांग दो बातों पर निर्भर करती है -उपभोक्ताओं की इच्छा, तथा उपभोक्ताओं की आय। व्यक्तिगत आय उत्पत्ति के साधनों की स्वामित्व संबंधी दशाओं पर निर्भर करती है। वस्तु की मांग पर वस्तु के स्वयं के मूल्य का तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य का प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर, वस्तु की पूर्ति वस्तु की उत्पादन-लागत तथा मूल्य से प्रभावित होती है। उत्पादन-लागत साधनों के उपयोग तथा उनको दी जाने वाली कीमत पर निर्भर करती है! यदि उत्पादन के लिए मांग अधिक है तो उत्पादक साधनों की मांग भी अधिक होगी। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की मांग तथा पूर्ति, उत्पादक साधनों की मांग तथा पूर्ति, वस्तुओं की कीमत, उत्पादक साधनों की कीमत, उपभोक्ताओं की आमदनी, साधनों का उपयोग इत्यादि एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, अर्थात् सभी एक-दूसरे से निर्धारित होते हैं। इस आधार पर ओहलिन ने लिखा है कि वस्तु की कीमतों में अन्तर दो देशों में उत्पादक साधनों की पूर्ति की भिन्नता के फलस्वरूप होता है। एक विनिमय-दर के स्थापित हो जाने पर सापेक्षिक मूल्य में अन्तर निरपेक्ष मूल्य के अन्तरों में परिवर्तित हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौन-सा क्षेत्र या देश कौन-सी वस्तुओं का विशिष्टीकरण करेगा। विनिमय-दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं का व्यापार मूल्य परस्परानुवर्ती मांग द्वारा निर्धारित होता है।

आधुनिक सिद्धान्त की तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से तुलना

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन का सिद्धान्त एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं, परन्तु जर्मन अर्थशास्त्री हैबरलर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि दोनों सिद्धान्तों में काफी सादृश्य है। वास्तविकता यह है कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की तुलना में अधिक जटिल है, क्योंकि यह जटिल मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है तथा यह जो तथ्य स्पष्ट करना चाहता है वे भी जटिल है, परन्तु जटिल होते हुए भी यह सिद्धान्त पूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। ओहलिन का सिद्धान्त जटिल है, परन्तु वास्तविक परिस्थितियों के लिए यथार्थपूर्ण है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त सरल है, परन्तु अपूर्ण है, तथा अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। जहां तक ओहलिन के सिद्धान्त को अर्द्ध-विकसित देशों पर लागू करने का प्रश्न है, यह सिद्धान्त भी उतना ही अव्यावहारिक है जितना कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त। वास्तविकता यह है कि पूंजीवादी देशों के अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त उन्हीं के हितों के लिए अनुकूल हैं और गरीब देशों की स्थिति से संबंधित नहीं है।

अवसर-लागत सिद्धान्त के द्वारा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन के सिद्धान्त में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। यह सिद्धान्त तुलनात्मक लागत को जिस ढंग से पुन: प्रस्तुत करता है, उससे यह देखा जा सकता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन के सिद्धान्त में काफी समानता है। हैबरलर ने भी विभिन्न साधन-सम्पत्तियों की भूमिका पर बल दिया है, किन्तु सुगमता के लिए यह मान लिया है कि देश मे उपलब्ध साधनों की पूर्ति स्थिर रहती है यद्यपि उनका प्रयोग कई एंगों से किया जा सकता है। हैबरलर के अनुसार प्रत्येक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनका उत्पादन वह अन्य देशों की तुलना में कम अवसर-लागत पर कर सकता है और उन वस्तुओं का आयात करता है जिनके उत्पादन की अवसर-लागत अधिक है। कम अवसर-लागत वाली वस्तुएं वे हैं जिनके उत्पादन के लिए देश मे उपलब्ध प्रचुर साधनों की अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ती है अधिक अवसर-लागत वाली वस्तुएं वे हैं जिनके उत्पादन के लिए दुर्लभता वाले साधनों की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अवसर-लागत विश्लेषण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन के सामान्य विश्लेषण सिद्धान्त के बीच एक सम्पर्क कड़ी है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ओहलिन का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से श्रेष्ठ अथवा सुधरा हुआ नहीं है।

आधुनिक सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त में व्यापार से सम्बन्धित तीन मुख्य समस्याओं-व्यापार का कारण, व्यापार की शर्तों का निर्धारण तथा व्यापार में साम्य की अवस्था का स्वतंत्र रूप से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत मांग, पूर्ति, मूल्य, लागत व विनिमय-दरों का एक साथ सम्बन्ध स्थापित करके एक सामान्य सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है। यह सिद्धान्त रिकार्डो के तुलनात्म्क लागत-सिद्धान्त से अधिक व्यापक तथा श्रेष्ठ समझा जाता है, परन्तु इसमें भी अनेक त्रुटियां हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

1. **अवास्तविक मान्यताएं -** इस सिद्धान्त की अनेक मान्यताएं हैं; जैसे - वस्तु बाजार व साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पत्ति के साधनों की पूर्ण गतिशीलता, उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मक भिन्नता का अभाव, पूर्ण रोजगार, स्वतंत्र व्यापार, समान उत्पादन-फलन इत्यादि। ये सभी मान्यताएं अवास्तविक तथा अव्यावहारिक है।
2. **उत्पत्ति के साधनों की असमानता -** ओहलिन ने उत्पत्ति के साधनों को विभिन्न देशों में समरूप माना है, परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है।
3. **वस्तु-कीमत अनुपात लागत अनुपातों से भिन्न होना -** यदि उपभोक्ताओं की मांग और रूचियों में परिवर्तन होता है तो कीमत अनुपातों में लागत अनुपातों से अधिक परिवर्तन हो सकता हैं इस स्थिति में ओहलिन का सिद्धान्त लागू नहीं होगा। प्रो. विजनहोल्ड्स के अनुसार वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण साधनों की लागतों द्वारा नहीं होता, वरन् इनमें विपरीत सम्बन्ध है।
4. **व्यावहारिक जीवन में अपवाद -** मांग की दशाएं पूर्ति की तुलना में अधिक शक्तिशाली होने पर सम्भव है कि एक पूंजी-प्रचुर देश श्रम-प्रधान वस्तुओं का निर्यात करने लगे। यह ओहलिन सिद्धान्त की मान्यता के प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति 'ल्योनटीफ विरोधाभास' कहलाती है, क्योंकि इसकी व्याख्या प्रो. ल्योनटीफ द्वारा की गयी है। प्रो. मिन्हास का

मत है कि दो देशों के बीच एक ही साधन-प्रधान (जैसे श्रम-प्रधान) वस्तुओं में व्यापार सम्भव है, जबकि ओहलिन के अनुसार यह सम्भव नहीं है।

5. **पूर्ण सन्तुलन की व्याख्या करने में असफल -** हैबरलर के अनुसार, "यद्यपि ओहलिन का सिद्धान्त कम अमूर्त है तथा वास्तविकता के निकट है फिर भी यह एक व्यापक सामान्य सन्तुलन प्रणाली को विकसित करने में असफल रहा है। अधिक से अधिक यह एक 'आंशिक सन्तुलन व्याख्या' है।
6. **अधिक जटिल -** ओहलिन का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की तुलना में अधिक जटिल है। इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्त जटिल मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है तथा जिन तथ्यों को यह सिद्धान्त स्पष्ट करना चाहता है वे भी जटिल हैं।

वास्तविकता यह है कि ओहलिन के सिद्धान्त की व्याख्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से भिन्न होने पर भी दोनों में कोई मौलिक भिन्नता नहीं है। दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। ओहलिन का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत में अन्तर के कारण को साधनों की उपलब्धि में भिन्नता के आधार पर अधिक व्यापक रूप में स्पष्ट करता है।

5.7 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त मुख्यतया अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार सिद्धान्त को ही प्रदर्शित करता है। विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध उत्पादन-साधनों में विभिन्नता पायी जाती है और इसी से विशिष्टीकरण तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण दोनों क्षेत्रों में सापेक्षिक साधन-कीमतों में अन्तर होना है। वस्तुओं की कीमतों में अन्तर उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक दुर्बलताओं के अन्तर होने से पैदा होता है। विनिमय की उपस्थिति में सापेक्षिक कीमत-भिन्नताएं निरपेक्ष कीमत-भिन्नताओं में बदल जाती है, इसी आधार पर प्रत्येक क्षेत्र अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है। विनिमय-दर और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार-वस्तु का मूल्य परस्परानुवर्ती मांग द्वारा निर्धारित होता है, तथा साम्य की स्थिति में प्रत्येक देश द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत दूसरे देश में वही होगी जो निर्यातकर्ता देश में है।
आज की अर्थव्यवस्था में कोई भी राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बिना विकास नहीं कर सकता। प्रत्येक राष्ट्र अनेकों कारणों से दूसरे राष्ट्रों से जुड़े हुए हैं। इसी कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आज ऐसी आवश्यकता बन गई है जिसे कोई देश नकार नहीं सकता है।

5.8 शब्दावली

तुलनात्मक लागत - दो अलग-अलग देशों में अलग-अलग परिस्थितियों में समान वस्तु के उत्पादन पर लगने वाली भिन्न भिन्न लागत।
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार - दो देशों के मध्य वस्तुओं का व्यापार।
साधनों की अगतिशीलता - भूमि परिवर्तनशील नहीं होती। जलवायु हर स्थान की अलग होती है।

5.9 स्वपरख प्रश्न

1 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख कारण स्पष्ट कीजिए।
2 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के उद्देश्य बताइये।
3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को विस्तार से समझाइये।

4 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रमुख विधियां समझाइये।

5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

6 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त विस्तार से समझाइये।

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मुद्रा बैंकिंग एवम् अंतर्राष्ट्रीय व्यापार - टी.टी. सेठी।
2. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवम् वित्त - जे.के. टंडन, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
3. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - एम.सी. वैश्य, सुदामा सिंह।
4. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - वी.सी सिन्हा।

इकाई - 6 : अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-मुद्रा जोखिम
(International Finance - Monetara Risks)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं विकास

6.3 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के स्त्रोत

6.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जोखिम

6.5 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता एवं महत्व

6.6 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की समस्याएं एवं सुझाव

6.7 सारांश

6.8 शब्दावली

6.9 स्व-परख प्रश्न

6.10 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

आज समस्त विश्व को एक दूसरे देशों की अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ा जा चुका है। तथा वैश्वीकरण के इस दौर में प्रत्येक देश एक-दूसरे पर निर्भर हैं। जिसके फलस्वरूप उन्हे आपसी में व्यापार एवं वित्त की क्रियाओं का आदान प्रदान करना आवश्यक हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त उन सभी वित्तीय साधनों व सुविधाओं के कुल भाग को कहते हैं जो विभिन्न देशों के मुद्रा अधिकारियों को भुगतान सन्तुलन की पूर्ति हेतु अथवा विदेशी दायित्व को निपटाने के लिए उपलब्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में देश के भुगतान सन्तुलन के अर्न्तगत आवश्यक विदेशी देनदारी चुकाने की मुद्रा की मात्रा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के अर्न्तगत आती है।

एक देश का जब दूसरे देशों से व्यापार होता है तो व्यापार संवर्द्धन के लिए, आपसी सहयोग को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त जैसी सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है। इस के अर्न्तगत विभिन्न देशों की मुद्रा में प्रायः उतार-चढ़ाव आते रहते है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जोखिमों का स्तर भी उँचा होता है तथा मौद्रिक उच्चावचनों एवं मध्यस्थों की भी अहम भूमिका होती है।

अत: इस इकाई के अध्ययन के पश्चात निम्न बिन्दुओं को जान सकेंगे।

- अन्तर्राष्ट्रीय वित्त।
- अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की संरचना।
- अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा और जोखिम।

6.1 प्रस्तावना

एक समय था जब संसार के देशों का पारस्परिक व्यापार बहुत सीमित था। आस-पास के साधारण व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान लाने ओर ले जाने का व्यवसाय करते थे जिससे

विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों की आवश्यकता की पूर्ति होती थी। धीरे-धीरे सड़कों का विकास हुआ ओर आवगमन की सुविधाओं में वृद्धि हुई। औधोगिक क्रान्ति के फलस्वरूप रेलगाड़ी, मोटर, जलयान तथा वायुयान से व्यक्तियों तथा वस्तुओं का आवागमन तीव्र गति से होने लगा। इस प्रकार विभिन्न देशों के आपसी व्यापार में प्रगति हुई फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के भुगतान की समस्या उत्पन्न हुई। अर्थात इन तमाम विकास कार्यो के हो जाने के कारण वैश्विक अर्थव्यस्थाएँ आपस में जुड़ी तथा व्यापारिक क्रियाओं का आदान प्रदान स्थानीय के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने लगा जिससे एक देश अपनी आवश्यकता व व्यापार निरन्तर बढ़ाता गया। आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारी मात्रा में बड़ी वस्तुओं, सेवाओं का आदान प्रदान होने लगा है जिसमें भारी मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता महसूस होने लगी है। आज सभी देशों को किसी न किसी रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती है जिससे वह अपने आधारभूत विकास कार्य को पूरा कर सके। इस अध्याय में आगे जानेंगे कि कैसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त अपना कार्य करता है।

आज मानव की आवश्यकताएँ, विशिष्टीकरण की प्रवृति एवं परिवहन संचार साधनों का तीव्र विकास, देश का व्यापार भौगोलिक एवं राजनैतिक सीमाओं में सीमित न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति का हो गया है। व्यापार और सहयोग में वृद्धि की है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त आज बहुत विस्तृत रूप से जाना जाता है। जब अनेक देश आपस में व्यापार करते है माल खरीदते हैं और बेचते हैं तभी भुगतान ऋण, विनियोग तथा ब्याज आदि क्रियाएँ आदि सम्पन्न होती है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जितनी तेजी से परिवर्तन होता है उसी अनुपात में वित्त की आवश्यकता बढ़ जाती है और उसी गति से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता होती है।

6.2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं विकास

संसार की 80 प्रतिशत जनसंख्या ऐसे देशों में निवास करती है जो आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। इन देशों में पर्याप्त मात्रा में सस्ता वित्त सुलभ होना चाहिए। यह वित्त मित्र देशों की सरकारों, बैंकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संसथाओं से प्राप्त किया जाता है। इस वित्त का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए किया जाता है। वास्तव में इस वित्त की सहायता से विदेशों से कच्चा माल, मशीनें, पक्का माल आयात किया जाता है। इससे भुगतान में तात्कालिक सुविधा हो जाती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की सहायता से संसार के निर्धन एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों को विकास करने का अवसर मिल जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का अर्थ एवं परिभाषा

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त शब्द दो शब्दों के युग्म अन्तर्राष्ट्रीय + वित्त से बना है। वित्त प्रत्येक आर्थिक क्रिया का जीवन रक्त है। इसके बिना कोई क्रिया संपन्न नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यवसाय में वित्त एक प्रशासनिक क्षेत्र की क्रिया है। जिसमें व्यवसाय अथवा आर्थिक क्रिया के संचालन हेतु नकद व साख की व्यवस्था करनी पड़ती है। जिससे इष्टतम उद्देश्य की पूर्ति एवं लार्भाजन हो सके।

"राष्ट्रों के बीच होने वाले अन्य आर्थिक क्रियाओं से संबंधित वित्त व्यवहारों को सम्पन्न होने वाले वित्तीय संस्थाओं का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कहलाता है।"

यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों, विदेशी विनिमय व पूंजी आवागमन के सिद्धांतों, प्रणालियों तथा व्यवहारों का अध्ययन है इसमें अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं के कार्य-कलापों का विश्लेषण भी है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त वह कला और विज्ञान है जिसमें सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की क्रियाओं तथा समस्याओं का विवेचन किया जाता है।

यह परिभाषा देखने में सरल एवं संक्षिप्त है किंतु इसके सभी तत्वों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने से निम्न विशेषता प्रकट होती है

(अ) **कला और विज्ञान -** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एक कला है क्योंकि एक देश से दूसरे देश में रकम भेजना, उसकी सुरक्षा का ध्यान रखना आदि ऐसी क्रियाएँ है जिन्हें ठीक ढंग से पूरा करने के लिए विशेष योग्यता कोशल तथा परीक्षण की विशेष आवश्यकता होती है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संबंधित कार्य सम्पन्न करने के लिए प्रायः सभी देशों में बड़े-बड़े बैंकों ने अलग-अलग विभागों की स्थापना कर दी है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त विज्ञान भी है क्योंकि विदेशी भुगतान, पूंजी विनियोग, अनुदान अथवा ब्याज तथा लाभांश का वितरण आदि कार्य एक निश्चित विधान या प्रणाली के अन्तर्गत होते हैं। यह प्रणाली अनुभव तथा प्रयोगों पर आधारित है और इसका सम्पूर्ण ढाँचा वैज्ञानिक एवं नियमबद्ध है।

(ब) **लेन देन कि क्रियाओं का विवेचन-** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के अन्तर्गत माल का भुगतान, माल के अतिरिक्त अन्य भुगतान जैसे ब्याज, लाभांश, सेवाओं का मूल्य, पेंशन आदि सम्मिलित है। इसके अलावा क्षेत्रीय संस्थाओं का, बैंकों तथा निजी संस्थाओं द्वारा उधार दी जाने वाली रकमें सम्मिलित है। विनियोग अथवा निवेश जिसमें संसार के विभिन्न देशों के बैंकों, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अनुदान तथा सरकारों द्वारा दी जाने वाली रकमें सम्मिलित की जाती है।

(स) **समस्याओं का अध्ययन एवं समाधान-** अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की अनेक समस्याऐं बहुत जटिल है। इनमें कुछ समस्याऐं सरकारी नीति के कारण उत्पन्न होती है। अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय ऋण अथवा सहायता राजनैतिक दृष्टिकोण से प्रभावित होती है।

6.3 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के स्त्रोत

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के प्रमुख स्त्रोत निम्नलिखित हैं -

1. **अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाऐं-** विश्व के विभिन्न देशों के सहयोग के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की स्थापना हुई।

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष- यह पाँच वर्ष तक के लिए आर्थिक सहायता देता है जिसका प्रयोग आकस्मिक कठिनाई या संकट से मुक्ता होने के लिए किया जा सकता है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दीर्घकाल- व 15 से 20 वर्ष के लिए ऋण प्रदान करता है।

(स) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम दीर्घकाल के लिए ऋण देता है तथा निजी उद्योग में पूंजी भी लगाता है।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ- दीर्घकाल 40 से 50 वर्ष तक के ऋण देता है। यह ऋण सामाजिक हित के कार्य जैसे जलापूर्ति, शिक्षा विकास, चिकित्सा सुविधा आदि के लिए होता है। इन ऋणों पर व्याज नहीं लगाया जाता है।

2. **क्षेत्रीय वित्तीय संस्थाएँ-** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक पिछड़े हुए देशों ने मिल कर वित्तीय संस्थाएँ स्थापित कर ली है। यह संस्थाएँ अपने सदस्य देशों के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्थाएं करती है। इन संस्थाओं में एशियाई विकास बैंक, अन्तर अमेरिकी विकास बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक प्रमुख हैं।
3. **आयात-निर्यात बैंक-** जापान तथा अमेरिका में खरीदे गये माल का भुगतान करने के लिए ग्राहकों को सीधे ऋण दे देते है। उदाहरण के लिए जापान का आयात निर्यात बैंक खरीदे गये माल का भुगतान करने के लिए विदेशी ग्राहकों को उधार देता है तथा ग्राहकों को जापान के व्यापारियों द्वारा उधार माल बेचने को भी प्रोत्साहन देता है। अन्य देशों में इस प्रकार के बैंक नहीं है। अत: इनका कार्य क्षेत्र सीमित ही है।

6.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जोखिम

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार आज विभिन्न तरह की जोखिमों का सामना कर रहा है। जिसे सामूहिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जोखिम कह सकते हैं। विश्व के प्रमुख वित्तीय संस्थान इन जोखिमों से निपटने हेतु अनेक सिद्धांत और विधियाँ अपना रहे हैं।

वित्तीय जोखिम वह जोखिम है जो आम तौर पर वित्त पैसे से सम्बंधित है, जिसके अर्न्तगत वित्तीय निवेश से जुड़े जोखिम, पूंजी जोखिम एवं तरलता जोखिम शामिल हैं तथा ऋण जोखिम, ब्याज जोखिम तथा साख जोखिम के संबंधित वित्तीय व्यवहार आते हैं। आज विश्व के विभिन्न उद्योग वित्त जोखिम की समस्याओं से पीड़ित है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त बाजार में आम तौर पर निम्नलिखित जोखिम व्याप्त होते हैं।

1. राजनैतिक जोखिम
2. वित्तीय जोखिम
3. आर्थिक जोखिम
4. बाजार जोखिम
5. कानूनी जोखिम
6. विनीमय दर जोखिम
7. प्रणालीगत जोखिम

इस प्रकार के सभी जोखिम अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्बन्धित निर्णयों को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तथा बैंक ऋण आदि अन्तर्राष्ट्रीय जोखिम प्रबन्ध में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इसके अर्न्तगत निम्नलिखित क्षेत्र हैं जो जोखिम को प्रबन्ध करने में फायदेमंद होती है तथा सकारात्मक भूमिका निभा सकती है। इसके निम्न प्रकार हैं -

1. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश
2. बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ
3. रेटिंग ऐजेंसी
4. निवेशक (म्यूचुअल फंड)
5. बीमा कम्पिनियॉ
6. बैंक, बैंक ऋण

7. पोर्टफोलियो निवेश

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजार में 1980 के दशक और 1990 के दशक में अहम बदलाव अनुभव किये हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय लेन-देन और अधिक जटिल हो गये हैं और तेजी से इसके परिणामों के रूप में आज वित्तीय बाजार अनिश्चितताओं का सामना कर रहे है। वर्तमान परिदृश्य में वित्तीय सेवा उद्योग बन गया है। अत्यधिक तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हुई है। तथा वित्तीय जोखिम में निवेश हो रहा है। इसके पीछे कुछ महत्वपूर्ण कारण है -

1. वित्तीय बाजार का वैश्वीकरण
2. वित्तीय बाजार की अनिश्चित्ता एवं अस्थिरता
3. नये-नये निवेशों की जटिल संरचना
4. ऋण योग्य निधियों की वैश्विक आपूर्ति में वृद्धि

इसलिए यह आवश्यक है कि वित्तीय जोखिम का सही मूल्यांकन, मापन तथा कुशल प्रबंध होना चाहिए जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजार में अस्थिरता और जोखिम को कम करने में सहायता मिलेगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय और घरेलू वित्तीय बाजार को बनाऐ रखने के लिए बैंकों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रभावी जोखिम प्रबंध आवश्यक हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त बाजारों पर सही और विश्वसनीय सूचना की आपूर्ति भरोसे मंद निर्णय लेने तथा नवीन बाजारी प्रतिस्पर्द्धाओं में कारगर सिद्ध होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में निवेश के अहम निर्णय लेने में वह भावी अनिश्चितताओं से निपटने में सहायक होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के महत्व जैसे कि आप जानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के बिना मौद्रिक आवश्यकताएँ व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता है।

आज सम्पूर्ण विश्व समुदायों के कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व बढ़ जाता है। क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र किसी न किसी समस्या से जूझ रहा है। और इसका एक अभिन्न अंग राष्ट्रीय वित्त है। क्योंकि इसके बिना कोई देश अपने संसाधनों को नहीं बढ़ा सकता। इस तरह से हम कह सकते हैं कि वित्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मशीनरी का जरूरी हिस्सा बन गया है। आजकल सभी अन्तर्राष्ट्रीय लाभों में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त अनिवार्य एवं विश्व प्रगति में महत्वपूर्ण अंग बन गया है। आज वैश्वीकरण के दौर में सभी अर्थ व्यवस्थाएँ एक दूसरे के लिए उदार हो चुकी है तथा सुविधाओं के परिणाम स्वरूप विभिन्न देशों में वस्तुओं एवं सेवाओं का आयात निर्यात बढ़ा है। जिससे विभिन्न देशों ने अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को दूसरे देशों से प्राप्त किया है। आज विश्व समुदायों के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कड़ी चुनौती है। प्रत्येक देश अपने घरेलू उत्पादन को बढ़ाने के लिए आयात-निर्यात पर ध्यान दे रहा है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के विभिन्न महत्वों को सम्पूर्ण विश्व ने स्वीकार किया है।

6.5 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता एवं महत्व

1. **देश के विदेशी व्यापार का ज्ञान-** देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वित्त की क्या स्थिति है। कैसे भुगतान संतुलन में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का महत्वपूर्ण योगदान है? आदि बातों का ज्ञान प्राप्त होता है।
2. **विदेशी विनियम दर-** अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में विदेशी विनियम दर निर्धारित करना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के ज्ञान से इसके

निर्धारण में मदद मिलती है। देश को समृद्ध करने के उपायों एवं विनियम नियंत्रण के तरीकों को अपनाने में मदद मिलती है।

3. **विदेशी भुगतान रीतियों का ज्ञान-** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के अध्ययन से विदेशी भुगतान की विभिन्न रीतियों का समुचित ज्ञान हो जाता है।
4. **अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं का ज्ञान-** विदेशी भुगतान करने में विभिन्न संस्थाओं से व्यवहार कराना पड़ता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त से संबंधित संस्थाओं संगठनों के बारे में जानने में मदद मिलती है। तथा उनके वित्तीय ढाँचे कार्य तकनीकों आदि की जानकारी मिलती है।
5. **विभिन्न देशों से वित्तीय लेन-देन-** आज सभी देशों से व्यापार हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वित्तीय संरचना, उनका भुगतान शेष अनुकूल है या प्रतिकूल देशी-विदेशी कोष की स्थिति आदि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। आज आयात निर्यात के संबंध में क्या वास्तविक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में व्याप्त है, आदि की सही स्थिति को समझने में मदद मिलती है।
6. **विश्व की मौद्रिक समस्याओं का ज्ञान-** आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ता ही जा रहा है। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संबंधित मामलों की समस्याऐं भी बढ़ती जा रही है। विभिन्न अर्थव्यवस्थाएं आज मौद्रिक संकट से जूझ रही है तथा अर्थव्यवस्थाएं मजबूत स्थिति में है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का ज्ञान इन तमाम समस्याओं को दूर कर सकता है तथा कई देशों को आर्थिक संकट के समय मदद देकर उनका आर्थिक कल्याण कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज तकनीकी रूप से जटिल होता जा रहा है तथा निरन्तर वृद्धि करता जा रहा है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का महत्व बढ़ता जा रहा है। वास्तव में राष्ट्रीयवाद की भावनाऐं बढ़ती जा रही है, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी बढ़ता जा रहा है। बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के पिछड़े देशों का आर्थिक विकास संभव नहीं है। विश्व के अधिकांश देश अविकसित अथवा अर्द्धविकसित देश हैं। इन देशों के उत्थान के बिना दरिद्रता का साम्राज्य पनपता रहेगा। दरिद्रता मानों प्रगति के लिए एक अभिशाप है। अत: विश्व के अधिकांश देशों की प्रगति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त पूंजी सहायता की आवश्यकता पड़ती है। जो विकसित एवं विभिन्न वित्तीय संगठनों से प्राप्त होती है। आज अन्तर्राष्ट्रीय वित्त अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

प्रो. किन्डल बर्गर के शब्दों में "बढ़ते हुए राष्ट्रवाद की दुनियाँ में अथवा बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीयवाद दोनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में ज्ञानोपार्जन एवं समझोतों का एक महत्वपूर्ण साधन है।"

आज अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के कुछ अन्य महत्व निम्नलिखित है-

1. दुनियाभर के पूंजी बाजारों को मजबूत बनाता है।
2. घरेलू निवेश और पूंजी आयात के माध्यम से विकास को बढ़ावा देता है।
3. नकदी प्रवाह और मौद्रिक नीतियों के लिए सुधारात्मक हल निकाल सकता है।
4. मुद्रा के अत्यधिक घरेलू विनियमन को रोकता है जिसमें वैश्विक संस्थाएँ महत्वपूर्ण कार्य करती है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा तथा पारदर्शी बैंकिंग प्रणाली का विकास करता है।
6. अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के महत्वपूर्ण क्षेत्रों के बारे में जानकारी प्रदान करता है तथा प्रभावी पूंजी आवंटन करता है।
7. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण को बढ़ावा, पूंजी प्रवाह को सुविधाजनक बनाने तथा निधियों के अंतरण आदि के द्वारा वैश्विक वित्तीय प्रणाली को मजबूती प्रदान करता है।

6.6 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की समस्याएं एवं सुझाव

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की व्यवस्था अनेक संस्थाओं द्वारा विविध शर्तों पर की जाती है। इससे अनेक वर्गो के उद्योग तथा व्यवस्था का लाभ उठाते हैं। इसमें संसार की अनेक महत्वपूर्ण मुद्राओं का प्रयोग होता है तथा इनकी प्राप्ति एवं भुगतान के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की जाती है। अनेकता के विविध सूत्रों के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की अनेक समस्याऐं है जिनमें से मुख्य का ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है।

1. **पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि-** आधुनिक युग विकास का युग है। जिसमें प्रायः सभी विकासशील राष्ट्रों को अपनी आर्थिक योजनाएँ पूरी करने के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता प्रायः पूर्ति से अधिक होती है। अतः संसार की बहुत सी वित्त की माँग पूरी नहीं हो पाती है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति के समर्थकों की मान्यता है कि विकसित राष्ट्रों को अपनी आय का कम से कम एक प्रतिशत भाग प्रति वर्ष विकासशील राष्ट्रों को ऋण अथवा निवेश के रूप में देना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं हो पा रहा है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी की पूर्ति मांग से कम है।
2. **दीर्घकाल के लिए-** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की मांग प्रायः विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए होती है। यह योजनाऐं बहुधा दीर्घकालीन होती है। इस प्रकार वित्त व्यवस्था करने वाली संस्थाओं के सामने गंभीर समस्या यह होती है कि एक बार प्राप्त हुई रकम दीर्घकाल के लिए एक ही स्थान पर अटक जाती है। इस दृष्टि से बैंक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की बहुत थोड़ी सी मांग की पूर्ति कर पाते है। अधिकांश मांग की पूर्ति दीर्घकालीन सहायता प्रदान करने वाली वित्तीय संस्थाएँ ही करती है। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ दीर्घकालीन आर्थिक सहायता के मुख्य स्त्रोत है।
3. **विविध मुद्राएँ-** संसार के अधिकांश देशों के सामने भुगतान संतुलन की कठिनाई है जिसे दूर करने के लिए वह विविध प्रकार की मुद्राओं की मांग करते हैं। संसार के अनेक देशों में वित्तीय नियंत्रण अथवा पूंजी विनियोग संबंधी नियंत्रण लागू है। अतः रकम देने वाली तथा रकम लेने वाली दोनो संस्थाओं को अपनी अपनी सरकार की अनुमति लेनी पड़ती है। कभी-कभी रकम देने वाले को रकम लेने वाले देश की सरकार की अनुमति लेनी पड़ती है। उदाहरण के लिए भारत में पूँजी ऋण देने के लिए भारत सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक है।

   अनेक बार ऐसे आदेश एवं सहमति प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होती है क्योंकि सरकारी शासन तंत्र प्रायः बहुत अकुशल एवं ढीला होता है। इससे समय, शक्ति और धन की व्यर्थ बर्बादी होती है जिससे वित्त की लागत बहुत ऊँची हो जाती है।

4. **प्रबंध व्यवस्था-** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की अनेक व्यवस्था और प्रक्रिया उलझन भरी होती है जिन्हें पूरा करने के लिए विशेष कौशल और ज्ञान की आवश्यकता होती है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का प्रबंध करने वाली संस्थाओं को बहुत योग्य, अनुभवी तथा कुशल विशेषज्ञों को नियुक्त करना पड़ता है। अनेक बार उपयुक्त विषयों का चयन करना कठिन हो जाता है।
5. **अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा-** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की मांग करने वाली अनेक संस्थाएँ एवं सरकारें हैं और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आपूर्ति करने वाली संस्थाएँ एवं सरकारें भी अनेक है। कभी-कभी सरकारों में राजनीतिक कारणों से वित्त देने की होड़ लग जाती है। और कभी-कभी वित्त की कमी होने के कारण वित्त प्राप्त करने वालों में स्पर्धा हो जाती है। इन दोनों ही परिस्थितियों में वित्त सही स्थान पर नियोजित नहीं हो पाता। इस स्पर्धा का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की स्थापना से बहुत कुछ हो गया है। विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आवश्यकता के आधार पर रकम देती है। स्पर्धा के आधार पर नहीं।
6. **जोखिम-** जिन देशों द्वारा रकमें उधार ली जाती है वे प्रायः आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। उनके पास प्रायः तकनीकी ज्ञान नहीं होता अत: इन देशों में रकम लगाने में अत्यधिक जोखिम उठानी पड़ती है। अन्य निजी संस्थाएँ भी विकासशील देशों में पूंजी उधार देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने इस समस्या का समाधान निकाल लिया है। वह प्रत्येक ऋण के लिए उस सरकार की गारंटी लेती है। इससे उन संस्थाओं को रकम डूबने का भय नहीं रहता और उद्योग तथा व्यवसाय को उचित शर्त पर रकम उधार मिल जाती है।
7. **राजनैतिक प्रभाव-** प्रत्येक राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आज राजनैतिक प्रभाव की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा राजनैतिक स्थायित्व बहुत आवश्यक है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के अर्न्तगत विभिन्न देशों की सरकारों का सामंजस्य आवश्यक रूप से प्रभाव डालता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अर्न्तगत अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों को विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों का समन्वय एवं सहयोग आदि प्राप्त होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं व्यापार की स्थिति तथा संतुलन बना रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की उपलब्धि पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अत्यधिक प्रभाव रहता है। अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस तथा जापान जैसे सम्पन्न राष्ट्र उन्हीं देशों को उधार देते है जो इन देशों की नीतियों का समर्थन करते हैं।

   अनेक बार रकमें ऐसी परियोजनाओं के लिए मिलती है जिन्हें ऋण देने वाला उपयुक्त समझता है। इसके परिणामस्वरूप उधार ली गयी रकमों का देश के अधिकतम हित मे प्रयोग नहीं हो पाता। राजनैतिक कारणों से दी गई रकमों का प्रायः भुगतान भी समय पर नहीं होता। अनेक बार देखा गया है कि निरन्तर उधार लेने वाला देश आर्थिक गुलामी में फंस जाते हैं। वित्तीय संस्थाओं ने इस समस्या का भी बहुत कुछ समाधान कर दिया है। इन संस्थाओं से ऋण लेने में किसी राजनैतिक दबाव का भय नहीं है।
8. **सरकारी नियंत्रण-** अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन की सबसे बड़ी बाधा यह है कि विभिन्न देशों में विदेशी मुद्रा में लेन देन और भुगतान सर्वथा मुक्त नहीं है। उन पर अनेक प्रकार के

नियंत्रण लगे हुए है। विकासशील देशों में यह नियंत्रण अत्यधिक कठोर है, जिनके फलस्वरूप भुगतान करने या प्राप्त करने मे कठिनाई होती है और अनेक बार समय लग जाता है। सभी देशों मे विभिन्न प्रकार के सरकारी नियंत्रण, नियम, प्रावधान होते हैं जिसके अन्तर्गत विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्रियाओं का संचालन किया जाता है।

9. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का अभाव-** अगस्त 1917 तक संसार के प्रायः सभी देश डालर में भुगतान प्राप्त करने में उत्सुक थे। अनके देश सभी आपसी भुगतान पौंड स्टर्लिग में कर लेते थे। इस प्रकार डालर तथा पौड़ दो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राएं थी, जिनके माध्यम से सभी भुगतान सरलतापूर्वक हो सकते थे। गत वर्षों में यह दोनों मुद्राएँ दुर्बल हो गयी है ओर ऐसी किसी मुद्रा का उद्भव नहीं हो सका है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का माध्यम स्वीकार किया जा सके।
10. **भुगतान संतुलन की समस्या -** भुगतान सन्तुलन खाता ऐसा नियमित विवरण होता है जिससे किसी देश के अन्य देशों से सम्पर्क लेन-देन का ब्यौरा होता है। किसी देश का भुगतान सन्तुलन पक्ष या विपक्ष में हो सकता है। पक्ष में होने का अर्थ है कि उस देश की लेनदारियाँ देनदारियों से अधिक हैं। विपक्ष में होने का अर्थ है लेनदारियों की तुलना में देनदारियों का अधिक होना। वैसे हिसाबी दृष्टिकोण से तो यह खाता संतुलित रहता है। भुगतान संतुलन का प्रतिकूल होना उचित नहीं होता है क्योंकि इससे देश पर कर्जा बढ़ता है। इसलिए इसे दूर करने के लिए निर्यातों मे वृद्धि तथा आयातों में कमी की जाती है। विदेशी पूंजी के आयातों को प्रोत्साहन दिया जाता है। विनिमय नियंत्रण अपनाया जाता है, अवमूल्यन की नीति अपनाई जाती है।
11. **पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय की पूर्ति की समस्या-** अप्रैल 1972 के दिल्ली में अंकटाड (UNCTAD) का जो तृतीय सम्मेलन हुआ था उसमे यह निर्णय लिया गया था कि विकसित देशों की अपनी राष्ट्रीय आय का कम से कम 0.7 प्रतिशत भाग विकासशील देशों की सहायता पर खर्च करना चाहिए। परन्तु वर्तमान में यह केवल 0.34 के लगभग है। इसके अतिरिक्त विदेशी सहायता दीर्घकालीन होनी चाहिए। किन्तु केवल अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I.D.A.) ऐसी संस्था है जो बिना ब्याज अथवा बहुत कम सेवा शुल्क पर 25 वर्ष से अधिक अवधि के लिए ऋण देती है। विकासशील देशों को आवश्यकताएँ निरंतर बढ़ती जा रही हैं जिनकी पूर्ति के लिए बड़े वित्तीय स्त्रोतों की आवश्यक होती है। यदि उन्हे अधिक ब्याज पर ऋण मिलता है तो उससे उन पर ब्याज का बोझ बहुत बढ़ जाता है। यहां तक कि इन देशों को निर्यातों से प्राप्त विदेशी विनिमय आय के 25 प्रतिशत भाग को ऋणों की किश्त और ब्याज के भुगतान में खर्च करना पड़ता है।
12. **विनिमय नियंत्रण व्यवस्था-** अनेक देशों ने विदेशी विनिमय में नियंत्रण की व्यवस्था लागू कर रखी है जिससे दो राष्ट्रों के पारस्परिक लेन देन में अनेक बाधाएं तथा जटिलताएं उत्पन्न होती हैं। विदेशी भुगतान तथा पूंजी विनियोग के लिए सरकार से स्वीकृति लेनी पड़ती है। अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के उद्देश्यों में एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि देशों के मध्य विनिमय प्रतिबंध समाप्त होवें अथवा कम होवें, किन्तु मुद्रा कोष की

स्थापना के इतने वर्षो बाद भी अनेक देशों ने ऐसे प्रतिबंध लगा रखा है। यद्यपि यूरोपीय साझा बाजार जैसे संगठनो के देशों ने आपस मे ऐसे प्रतिबंध समाप्त किये हैं।

13. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यापारिक जोखिम -** जिस तरह से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में राजनैतिक जोखिम एवं समस्याएं होती हैं उसी तरह व्यापारिक जोखिम भी होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो देशों के व्यापारियों के बीच होता है। जो एक दूसरे से अपरिचित होते हैं। माल समुद्री मार्ग से जाता है, अनेक जोखिमें जैसे क्रेता का दिवालिया होना, भुगतान करने से मना करना, माल को नहीं छुड़ाना, समुद्री मार्ग का अवरूद्ध होना, विनिमय दरों में परिवर्तन, युद्ध तथा आन्तरिक विद्रोह आदि उत्पन्न हो जाती हैं। जिनके विरूद्ध सुरक्षा की व्यावस्था अनिवार्य होती है। इन जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा की व्यवस्था कुछ विशिष्ट संस्थाएं जैसे भारत का निर्यात साख और गांरटी निगम तथा इग्लैंड का निर्यात साख तथा गांरटी विभाग करता है।

14. **विनिमय स्थिरता की समस्या-** यद्पि अन्र्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा सदस्य राष्ट्रों की विनिमय दर निश्चित कर दी गई है जिनमें 2.25 प्रतिशत तक वृद्धि अथवा कमी मुद्रा कोष की स्वीकृति लिए बिना की जा सकती है। परन्तु पिछले वर्षो मे अनेक देशों ने अपनी विनिमय दरों को खुला छोड़ रखा है अर्थात् विनिमय दरों को मांग और पूर्ति के अनुसार निर्धारित होने के लिए खुला छोड़ रखा है। जापान, इटली, ब्रिटेन तथा कनाडा ने ऐसा किया है। इससे यह प्रकट होता है ,कि जिस उद्देश्य के लिए अर्न्तराष्ट्रीय मुद्रा कोषों की स्थापना की गई थी वह समाप्त हो गया है और नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था की स्थापना करना अनिवार्य हो गया है।

15. **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ है भुगतान क्षमता की तत्परता अर्थात किसी देश के पास अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के काम आने वाले साधन जैसे स्वर्ण, विदेशी विनिमय के पर्याप्त भण्डार अन्य देशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेने की सुविधाऐं आदि का होना। पिछले वर्षों में जिस गति से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई हैं उस गति से भुगतान करने योग्य साधनों में वृद्धि नहीं हुई है जिससे तरल कोषों अर्थात (स्वर्ण और विदेशी विनिमय) का आयातों में प्रतिशत जो स्तर 1948 में 81 था वह सन 1972 में घटकर 36 रह गया है। इस कारण तरलता में वृद्धि करना अनिवार्य हो गया है। इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये हैं। जिनमें प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अभ्यंशो में तीन बार वृद्धि तथा विशेष आहरण अधिकारों का सृजन है।

    किन्तु आहरण अधिकार मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्रों के अभ्यंशो के अनुपात के आधार पर निर्मित किये गाये हैं। इसलिए इनका अधिक लाभ विकासशील देशों को नहीं मिलकर विकसित देशों को मिल रहा है।

16. **यूरो मुद्रा की समस्या-** यूरो मुद्रा बाजार जहाँ एक और अल्पकालीन वित्त प्रदान करने का महत्वपूर्ण साधन है वहां दूसरी और इसने ब्याज की दरो को ऊँचा करने, मुद्रा स्फीति को बढ़ावा देने, दबाव मुक्ता मुद्रा कोष की सामान्य नीतियों के पालन होने में बाधाऐं उत्पन्न करने में योगदान किया है। यह सब इसलिए होता है कि इस बाजार पर किसी

सरकार अथवा संस्था का नियंत्रण नहीं है। अत: इस बात की आवश्यकता है कि इसकी क्रियाओं पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रभावपूर्ण नियंत्रण लाग किया जाये।

17. **दीर्घकालीन वित्त तथा ब्याज की समस्या-** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में संसार के अल्पविकसित देशों कों विदेशों से महंगी वस्तुएं क्रय करने के लिए बडी मात्रा में सहायता की आवश्यकता होती है। किन्तु इन ऋणों पर थोड़ा भी ब्याज लिया जाये तो ब्याज का बोझ ऐसे देशों पर बहुत पड़ जाता है। जिससे उनके आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है। विश्व में अन्र्तराष्ट्रीय विकास संघ (I.D.A.) जैसी संस्थाओं का अभाव है। जो बिना ब्याज के दीर्घकाल के लिए बिना राजनीतिक भेदभाव के उदार शर्तों पर ऋण दे सकें।
18. **कुशल प्रबंध तथा विशाल साधन वाली संस्थाओ का अभाव-** विदेशी ऋण प्रदान करने वाली संस्थाएँ ऐसी होनी चाहिए जिनके पास विशाल अर्थिक साधन तथा इस क्षेत्र का अनुभव रखने वाले कुशल प्रबंधक होवे। परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में इनका अभाव है।
19. **भावी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.)** की स्थापना से विश्व में स्वर्णमान के लाभों को उपलब्ध करने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुगम बनाने और विनिमय स्थिरता की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया था और इस प्रयत्न में पर्याप्त सफलता भी मिली थी। इस संस्था की प्रमुख मुद्रा डॉलर थी। किन्तु दिसम्बर 1971 मे जब डॉलर का 7.9 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया गया और इसकी स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी गई तो इस व्यवस्था का भारी धक्का लगा। 13 फरवरी 1973 को दुबारा डॉलर का अवमूल्यन हो गया। बाजार में डॉलर के भाव गिरते गये।
    अनेक देशों ने अपनी मुद्राओं को खुला छोड़ दिया। इन सब परिस्थितियों ने नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था की स्थापना के सम्बन्ध में विचार करने को मजबूर कर दिया। इस सम्बंध में कुछ देशों की एक समिति भी नियुक्ति कर दी गई है जिसका भारत भी सदस्य है। तथा इस समिति ने अपने कुछ सुझाव भी रखे है। किन्तु अभी अन्तिम निर्णय बाकी है।

6.7 सारांश

आज इस आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने प्रत्येक देश की आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुएं एवं सुविधाएँ पहुँचाकर अपनी उपयोगिता साबित कर दी है। किन्तु जैसा कि आप जानते हैं कि उन समस्त क्रियाओं का जीवन रक्त वित्त है, अत: वित्तीय सुविधाओं के बिना अन्तर्राष्ट्रीय विनियम संभव नहीं हो सकता। इस अध्याय में हमने जाना कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का क्या महत्व है? इस की अवधारणा आज समस्त राष्ट्रों के लिए अनिवार्य बन गयी है। आज विश्व में वस्तुओं एवं सेवाओं के द्वारा मौद्रिक निर्भरता एवं विनिमय दर में बढ़ोतरी हुई है। आज प्रतिस्पर्द्धा के दौर में वैश्विक संस्थाएँ विश्व के गरीब एवं आर्थिक रूप से पिछड़े हुए राष्ट्रों को आवश्यक कार्यो के लिए वित्त उपलब्ध कराती है तथा विश्व के आर्थिक रूप से पिछड़े देशों को विकास के अवसर उपलब्ध कराती है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की अवधारणा को समझाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा में तेजी से हुए परिवर्तनों का अध्ययन करना इस अध्याय का उद्देश्य है। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने में समझ को विकसित करने में सहायता मिलेगी। हर देश के विदेशी व्यापार को ऊपर उठाने और गिराने में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का अत्यधिक महत्व है। आज तमाम विकसित राष्ट्रों के बारे में बात करें तो वे राष्ट्र समृद्ध तथा विकसित है। जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधित वित्तीय दशाओं को सुदृढ़ कर रखा है। यह बहुत आवश्यक हो गया है। अत: बिना अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के किसी राष्ट्र के उन्नति के अवसर कम ही होते हैं।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ता ही जा रहा है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय वित्त विषय का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है। वास्तव में आज यहां राष्ट्रीयवाद की भावना बढ़ती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी बढ़ता जा रहा है। बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के पिछडे देशों का आर्थिक विकास सम्मव नहीं है। विश्व के अधिकांश देश अविकसित अथवा अर्द्धविकसित देश हैं। इन देशों के उत्थान के बिना दरिद्रता का साम्राज्य पनपता रहेगा, दरिद्रता मानव प्रगति के लिए एक अभिशाप है। अत: विश्व के अधिकांश देशों को आर्थिक प्रगति के लिए विदेशी पूंजी व सहायता की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित देशों से प्राप्त होती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व वित्त अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अध्ययन आज के युग में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रो. किन्डलबर्गर के शब्दों में बढते हुए राष्ट्रवाद की दुनिया में अथवा बढते हुए अन्तर्राष्ट्रीयवाद अथवा दोनो के कारण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ज्ञानोपार्जन एवं वित्त वैश्विक स्तर पर अपना महत्व स्थापित कर चुका है जो अनिवार्य रूप से जीवन तत्व का रूप ले चुका है।

6.8 शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त - अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की प्रक्रिया में सम्मिलित भुगतान माध्यम तथा वित्तीय संस्थाएँ एवं उनकी कार्यप्रणाली मिलकर समग्र रूप में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कहलाती है।

मुद्रा जोखिम - अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचनों, राजनैतिक या अन्य परिवर्तनों के कारण सम्भावित हानि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में मुद्रा जोखिम कही जाती है।

6.9 स्व-परख प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का क्या अभिप्राय है।
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के लाभों को समझाइये।
3. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकताएँ बताईये।
4. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के विभिन्न स्त्रोतों को समझाइये।
5. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का आधुनिक समय में महत्व बताइये।

6.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र – वी.सी. सिन्हा
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त – शर्मा आदि
3. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त – बी. एस. अवधानी
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त – बी.एल. ओझा

इकाई - 7 : मुद्रा-अवमूल्यन. अधिमूल्यन
(Money-Devaluation, Overvalution)

इकाई की रूपरेखा -

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 इतिहास

7.3 अवमूल्यन का आशय

7.4 अवमूल्यन की सफलता के लिए शर्तें

7.5 अवमूल्यन के प्रभाव

7.6 मुद्रा इकाई में प्रतिशत परिवर्तन की गणना

7.7 भुगतान सन्तुलन में घाटे को सुधारने की विधियाँ

7.8 अवमूल्यन के सिद्धान्त

7.9 अवमूल्यन का आय प्रभाव

7.10 विभिन्न मुद्राओं का अवमूल्यन

7.11 अधिमूल्यन

7.12 विनिमय -नियंत्रण के दोष

7.13 विनिमय-नियंत्रण की रीतियाँ

7.14 सारांश

7.15 शब्दावली

7.16 स्वपरख प्रश्न

7.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- मुद्रा के अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन को समझने में समर्थ होंगे।
- अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन कब और क्यों किया जाता है, से वाकिफ हो सकेंगे।
- अवमूल्यन कब लाभदायक होगा, से अवगत होंगे।
- भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन कब-कब किया गया तथा उसके परिणामों को जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

किसी देश का अंतर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन उसके द्वारा किसी विशेष समयावधि में किये गये समस्त लेन देन का 'स्थिति विवरण' होता है। मुद्रा का बाजार भाव मुद्रा की मांग व मुद्रा की पूर्ति के आधार पर नियंत्रित होता है। चूंकि किसी देश का भुगतान संतुलन विदेश से होने वाली कुल मौद्रिक प्राप्तियों और भुगतानों का क्रमबद्ध विवरण है। अत: प्राप्तियों और भुगतानों का अन्तर अतिरेक या घाटे की स्थिति को स्पष्ट करता है।

कभी-कभी दीर्घकाल तक भुगतान असंतुलन की स्थिति को मुद्रा मूल्य को कृत्रिम तरीके से कम या अधिक करके ठीक किया जाता है। मुद्रा मूल्य का कम या अधिक करना ही मुद्रा अवमूल्यन (Devaluation) या अधिमूल्यन (over- valuation) कहलाता है।

विनिमय नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण तरीका मुद्रा अवमूल्यन व मुद्रा अधिमूल्यन है। मुद्रा मूल्य नियन्त्रण विनिमय नियन्त्रण का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। विदेशी विनिमय बाजार में किये गये किसी भी सरकारी हस्तक्षेप को विनिमय नियंत्रण कहते हैं तथा मुद्रा में यह नियंत्रण मुद्रा अवमूल्यन व मुद्रा अधिमूल्यन द्वारा किया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता लाना घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना, व्यापारिक मतभेद को खत्म करना, व्यापारिक असंतुलन को ठीक करना आदि होता है। विदेशी विनिमय की दर एक विशेष प्रकार का मुद्रा मूल्य है जो घरेलू या विदेशी वस्तुओं एवम् सेवाओं के मूल्यों के संबंध को परिवर्तित कर देता है।

7.2 इतिहास

प्रथम महायुद्ध-काल में रूपये की विनिमय-दर पर कोई नियंत्रण नही था। इसके परिणामस्वरूप विनिमय-दर में काफी उतार-चढ़ाव होते रहे, विदेशी विनिमय मे सट्टेबाजी चलती रही तथा देश में व्यापार और उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर सितम्बर 1939 में भारत में विनिमय-नियंत्रण की नीति को अपनाया गया जिसकी जिम्मेदारी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंपी गयी। युद्ध-काल में विनिमय-नियंत्रण मुख्यतः स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर की मुद्राओं पर लागू किया गया ताकि डालर की बचत हो सके। 1947 के पश्चात भारत में विनिमय नियंत्रण का अधिकार रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। भारत में जून 1966 को मुद्रा का अवमूल्यन किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के लिए अमरीकी आयात महंगे हो गए तो दूसरी तरफ भारतीय निर्यात अमरीका के लिए सस्ते हो गए। इससे भारतीय निर्यातों में वृद्धि हुई। अत: आयातों में कमी और निर्यातों में वृद्धि से भुगतान-शेष का असंतुलन कम हो गया।

7.3 अवमूल्यन का आशय

अवमूल्यन का अर्थ किसी देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य को सरकारी आदेशों द्वारा स्वर्ण, विशेष आहरण अधिकार या किसी विदेशी मुद्रा के रूप में कम करना होता है। डॉ० गांगूली का विचार है कि "अवमूल्यन का सरल अर्थ देश की चलन इकाई के बाह्य मूल्य में कमी करना है।" पाल इंजिंग ने "अवमूल्यन से अभिप्राय मुद्राओं की अधिकृत समता दर में कमी करने की क्रिया से लिया है।" के.के. कुरिहारा का कथन है कि "स्वर्णमान के खेल के कड़े नियमों से बचने का एक ढंग ही अवमूल्यन है।" अवमूल्यन के पश्चात् स्वदेश की एक मुद्रा के बदले में पहले की अपेक्षा अब विशेष आहरण अधिकार, स्वर्ण या विदेशी मुद्राएं कम मात्रा में प्राप्त होती है। कोई भी देश अपनी मुद्रा इकाई का अवमूल्यन अनेक कारणों से कर सकता है। उदाहरणार्थ, मुद्रा अवमूल्यन का उद्देश्य विदेशों में देशी वस्तुओं का राशिपातन करके देश के भुगतान शेष को अनुकूल बनाना हो सकता है या भुगतान शेष में भारी घाटे को पूरा करना हो सकता है। संक्षेप में, अवमूल्यन देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य या सम्बन्धित देश जिसके संदर्भ में अवमूल्यन किया गया है कि मुद्रा इकाई के मूल्य में अवमूल्यन की सीमा तक अधिमूल्यन की सरकारी घोषणा है। उदाहरणार्थ,

20 सितम्बर 1949 को जब पौण्ड के डालर मूल्य को कम करने की घोषणा की गई तो प्राचीन समता दर जो 1 पौण्ड 4.03 डालर थी बदलकर 1 पौण्ड = 2.80 डालर हो गई। परिणामस्वरूप पौण्ड स्टेलिंग के डालर मूल्य में लगभग 30.5 प्रतिशत का हास हुआ था।

सामान्यतया एक देश अपने भुगतान-शेष के दीर्घकालीन घाटे को समाप्त करने हेतु अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है। जब एक देश भुगतान-शेष की ऐसी विषम समस्या से पीड़ित होता है जिसका उपचार प्रचलित विदेशी विनिमय दर पर विस्फीति या निर्यात अधिदान आदि द्वारा नहीं हो पाता तो वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है। अवमूल्यन के कारण मुद्रा के बाह्य मूल्य में तो हास होता है किन्तु आन्तरिक मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता। दूसरे शब्दों में, घरेलू वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा की क्रय शक्ति अपरिवर्तित रहती है अर्थात् वस्तुओं के घरेलू मूल्य में वृद्धि नहीं होती। अवमूल्यन मुख्य रूप से घरेलू बनाम अन्तर्राष्ट्रीय लागत- मूल्य अनुपात में सुधार करके भुगतान में संतुलन स्थापित करता है। अवमूल्यन का प्रभाव निर्यात और आयात बाजारों में मांग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने अनेक स्थितियों की व्याख्या की है।

1. **निर्यातों की बेलोच मांग -** यदि देश के निर्यातों की विदेशी मांग की लोच इकाई से कम है, तो भुगतान-शेष पर अवमूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव होगा। इसे चित्र में दर्शाया गया है जहाँ Dx वक्र निर्यातों की बेलोच मांग को व्यक्त करता है और Sx अवमूल्यन से पहले का निर्यातों का पूर्ण लोचदार पूर्ति वक्र है। ये दोनों वक्र E बिन्दु पर कटते हैं तथा OR विनिमय-दर है और OX निर्यातों की मात्रा है। अवमूल्यन के बाद निर्यातों का पूर्ति वक्र S'x हो जाता है जो मांग वक्र को E' पर काटता है तथा OR' विनिमय-दर निश्चित होती है। स्पष्ट है कि अवमूल्यन के पश्चात निर्यातों में कोई परिवर्तन नहीं होता और वे पहले जितने ही OX रहते हैं। अवमूल्यन का भुगतान शेष पर प्रभाव मापने के लिए अवमूल्यन से पूर्व और बाद में निर्यातों से प्राप्त कुल मूल्य की तुलना की जाती है। OX निर्यातों का अवमूल्यन से पूर्व कुल मूल्य है।

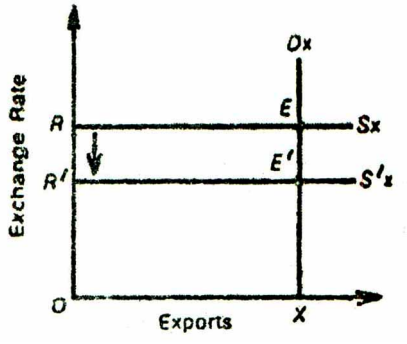

OXER तथा अवमूल्यन के बाद कुल मूल्य है : OXE'R' जैसाकि चित्र से स्पष्ट है, अवमूल्यन से पूर्व निर्यातों का कुल मूल्य OXER अवमूल्यन के पश्चात निर्यातों के मूल्य OXE'R' से अधिक है : OXER>OXE'R'। इससे यह सिद्ध होता है कि अवमूल्यन से भुगतान-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है क्योंकि आय में कमी हुई है। यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक निर्यातों की मांग की लोच इकाई से कम रहती है।

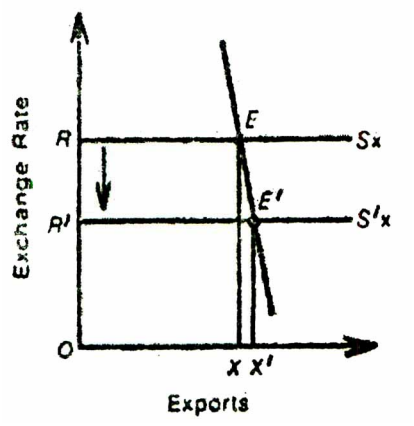

ऊपर हमने पूर्ण बेलोच मांच वक्र लिया, यदि इकाई से कम अर्थात् कम लोचदार वक्र भी लें तो परिणाम यही होगा जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है, जहाँ भी OXER>OXE'R'।

2. **लोचदार मांग -** यदि निर्यातों की विदेशी मांग लोचदार अथवा इकाई से अधिक हो तो अवमूल्यन से भुगतान-शेष में सुधार होगा जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। अवमूल्यन से पहले OX मात्रा का निर्यात किया जाता है तथा अवमूल्यन के बाद OX1 मात्रा का। स्पष्ट है कि अवमूल्यन से निर्यात बढ़े हैं। परिणामस्वरूप, भुगतान-शेष परअनुकूल प्रभाव पड़ा है। क्योंकि अवमूल्यन से पहले निर्यातों का कुल मूल्यOXER अवमूल्यन के बाद निर्यातों के कुल मूल्य OXE'R' से कम है : OXER<OXE'R'।

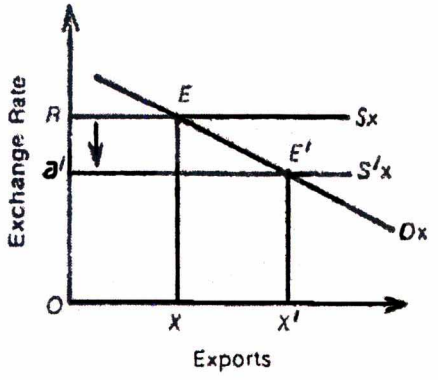

3. **मांग की इकाई लोच -** यदि निर्यातों की मांग की लोच इकाई (अर्थात एक) हो तो अवमूल्यन के पूर्व और पश्चात निर्यातों के मूल्य में कोई अन्तर नहीं होगा तथा दोनों का क्षेत्रफल बराबर होने से भुगतान-शेष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा

   अब हम आयातों की विभिन्न मांग की लोचो के भुगतान-शेष पर प्रभावों की व्याख्या करते हैं।

4. **आयातों की बेलोच मांग -** आयातों की मांग पूर्ण बेलोच होने पर अवमूल्यन के बाद आयातों का कुल मूल्य अवमूल्यन के पहले के कुल मूल्य से अधिक होगा जिससे भुगतान-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा अवमूल्यन से लाभ की बजाय हानि होगी। इसे चित्र में दर्शाया गया है जहाँ Dm आयातों का पूर्ण बेलोच मांग वक्र है तथा Sm पूर्ण लोचदार पूर्ति वक्र है। अवमूल्यन करने से पूर्ति वक्र सरक कर ऊपर S'm की

स्थिति में चला जाता है। इसका प्रभाव यह होता है कि अवमूल्यन के बाद आयातों का कुल मूल्य OR'E'M अवमूल्यन से पूर्व के कुल मूल्य OREM से अधिक होता है : OR'E'M>OREM। इस प्रकार अवमूल्यन से आयातों का कुल मूल्य पहले से बढ़ने के कारण भुगतान-शेष की स्थिति और खराब हो जाती है।

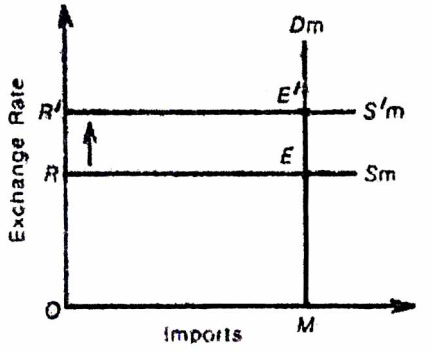

यदि आयातों की मांग की लोच इकाई से कम हो तो भी अवमूल्यन से भुगतान-शेष की स्थिति देश के प्रतिकूल ही रहती है जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है :

ORE'M' >OREM

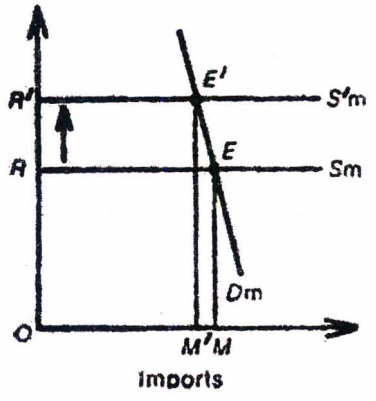

5. **लोचदार मांग -** यदि आयातों की मांग की लोच इकाई से अधिक हो तो अवमूल्यन से भुगतान शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा क्योंकि अवमूल्यन के बाद आयातों का कुल मूल्य अवमूल्यन से पहले के कुल मूल्य से कम होगा। इसे चित्र में दर्शाया गया है जहाँ OXR'EM>OREM।

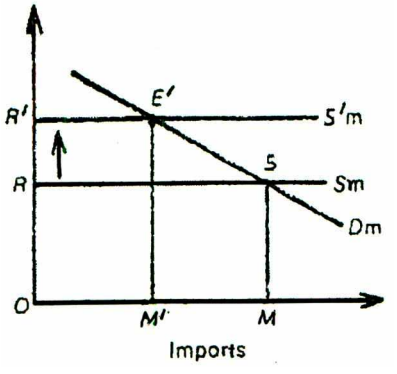

6. **मांग की इकाई लोच -** यदि आयातों की मांग की लोच इकाई के बराबर होती है, तो अवमूल्यन से पूर्व और बाद आयातों के कुल मूल्य की राशि बराबर होगी तथा भुगतान-शेष पर अवमूल्यन का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

7.4 अवमूल्यन की सफलता के लिए शर्तें

अवमूल्यन भुगतान असन्तुलन को दूर करने का एक महत्वपूर्ण उपाय है, लेकिन इसकी सफलता कुछ आवश्यक शर्तों पर निर्भर करती है जिनका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

1. **निर्यातों और आयातों की इकाई से अधिक लोच -** अवमूल्यन का भुगतान असन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव तभी पड़ता है जब निर्यातों एवं आयातों की मांग की लोच इकाई से अधिक हो। यदि निर्यातों तथा आयातों की मांग की लोच इकाई से कम हो तो अवमूल्यन का भुगतान-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।
2. **निर्यातों की पर्याप्त पूर्ति-** अवमूल्यन की सफलता के लिए दूसरी शर्त यह है कि जब अवमूल्यन से देश के निर्यातों की मांग में वृद्धि हो तो उनकी पूर्ति भी पर्याप्त होनी चाहिए अन्यथा अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव विफल होगा। इसके लिए देश को निर्यात बढ़ाने के सभी प्रकार के उपाय अपनाने चाहिए जैसे निर्यात शुल्क को कम या समाप्त करना, निर्यात उद्योगों को सहायिकी (सब्सिडी) प्रदान करना, आदि। निर्यात तभी प्रोत्साहित होंगे यदि वस्तुएं सस्ती, बढ़िया और टिकाऊ हों। श्रम कानून, कीमत नियंत्रण, दुर्लभ औद्योगिक कच्चे माल का वितरण, राजकोषीय प्रोत्साहन प्रदान करना तथा कर सहायिककियां इस प्रकार से समायोजित करने चाहिए कि ये निर्यात क्षेत्र के सहायक हों और उसे प्रोत्साहित करें।
3. **स्थिर आन्तरिक कीमत स्तर-** अवमूल्यन का भुगतान-शेष पर अनुकूल प्रभाव तभी पड़ेगा जबकि अवमूल्यन के पश्चात् देश के अन्दर कीमत स्तर स्थिर रहता है। जब अवमूल्यन होता है, तो निर्यात बढ़ते हैं और आयात महंगे हो जाते हैं। निर्यात बढ़ने से देश में उपभोग वस्तुओं की कमी हो जाती है जिस कारण उनकी देश के अन्दर कीमतें बढ़ने की प्रवृति होती है। दूसरी ओर आयातित वस्तुएं पहले से महंगी होने से उनके आयात पर रोक लगाई जाती है और केवल अत्यधिक आवश्यक वस्तुओं का आयात किया जाता है।
4. **अवमूल्यन प्रतियोगिता मूलक न हो -** अवमूल्यन की नीति तभी सफल हो सकती है जबकि अन्य देश एक साथ ही अवमूल्यन न करें। प्रत्येक देश जब अवमूल्यन करता है तो उसके प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ते हैं क्योंकि एक देश के आयात किसी अन्य देश के निर्यात होते हैं। जो देश अवमूल्यन करता है वह अपने निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी करने का उद्देश्य रखता है जिसका अन्य देशों के निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।
5. **लोगों में त्याग की भावना -** अवमूल्यन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश के लोगों में त्याग की भावना है। निर्यातों को तभी बढ़ाया जा सकता है यदि संसाधनों को घरेलू क्षेत्र से हटाकर निर्यात क्षेत्र में लगाया जाता है।

7.5 अवमूल्यन के प्रभाव

सिडनी एलेक्जैंडर आगे अवमूल्यन के आय पर तथा आय द्वारा प्रभावों और अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभावों का विश्लेषण करता है। पहली स्थिति में, वह निष्क्रिय संसाधन प्रभाव तथा व्यापार की शर्तों के प्रभाव का विश्लेषण करता है, और दूसरी स्थिति में, वह नकदी शेष प्रभाव, आय वितरण प्रभाव, मुद्रा भ्रम प्रभाव, और अन्य फुटकर प्रभावों का अध्ययन करता है। इनकी संक्षिप्त विवेचना क्रमशः की जा रही है -

निष्क्रिय संसाधन प्रभाव - अवमूल्यन द्वारा जब आय बढ़ती है, तो उपभोग तथा निवेश उद्योगों पर अधिक व्यय करने से अर्थव्यवस्था में निष्किय संसाधनों का अधिक उपयोग होता है। अत: निफिय संसाधन होने से (1-c)y बढ़ता है। एलेक्जैंडर के अनुसार, यदि c इकाई से कम हो तो अवमूल्यन होने से अप्रयुक्त संसाधनों का उपयोग होता है और भुगतान-शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। परन्तु यदि देश में पूर्ण रोजगार हो तो यह सम्भावना नहीं पाई जाती है।

व्यापार शर्त प्रभाव - अवमूल्यन से देश की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती हैं क्योंकि इससे विदेशी करेंसी में निर्यात कीमतें गिर जाती हैं। यह धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि सामान्य तौर से एक देश के निर्यात आयातों की अपेक्षा अधिक विशिष्टीकृत होते हैं। विशिष्टीकरण के परिणामस्वरूप आयात कीमतों की अपेक्षा निर्यात कीमतें अधिक प्रभावित होती हैं। इसलिए अवमूल्यन होने से व्यापार शर्तों के प्रतिकूल होने की अधिक संभावना होती है जिससे आय कम होती है।

अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभाव - अवशोषण पर अवमूल्यन के प्रत्यक्ष प्रभाव को एलेक्जैंडर इस प्रकार परिभाषित करता है : "अवमूल्यन के परिणामस्वरूप जब मुद्रा आय और मुद्रा कीमतें इकट्ठी बढ़ती हैं, तो कोई प्रभाव जो वास्तविक व्यय को कम करता है," वह अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। इस प्रभाव का अध्ययन नकदी शेष प्रभाव, आय पुनर्वितरण प्रभाव, मुद्रा भ्रम प्रभाव तथा फुटकर प्रत्यक्ष अवशोषण प्रभावों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(क) **नकदी शेष प्रभाव -** जब एक देश अपनी करेंसी का अवमूल्य करता है तो इसकी घरेलू कीमतों में वृद्धि होती है। कीमतें बढ़ने से लोग अधिक नकदी को इकट्ठा करते हैं। वास्तविक आय स्थिर मान लेने पर, नकदी शेषों में वृद्धि होने से वास्तविक व्यय कम हो जाएंगे। यदि नकदी धारणों के बढ़ने से अन्य परिसम्पत्तियों की बिक्री प्रारम्भ हो जाती है, तो इससे ब्याज दर में परिवर्तन होते हैं। यह आगे वास्तविक आय की सापेक्षता में वास्तविक उपभोग या निवेश को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार, नकदी शेष प्रभाव नकदी बढ़ाने के लिए व्यय को त्याग कर आय-व्यय संबंध पर प्रत्यक्ष तौर से, अथवा अन्य परिस्थितियों को नकदी में परिवर्तन करने के परिणामस्वरूप ब्याज दर द्वारा अप्रत्यक्ष तौर से कार्य करण कर सकता है।

(ख) **आय पुनर्वितरण प्रभाव -** अवशोषण अपने आप कम होता है यदि अवमूल्यन आय को ऊंची बचत प्रवृत्ति वाले लोगों के पक्ष में और ऊंची उपभोग प्रवृत्ति वाले लोगों के विरूद्ध वितरित कर देता है। अर्थात् जिस सीमा तक आय को खपाने की ऊंची सीमांत प्रवृति

वाले लोगों से कम सीमांत प्रवृत्ति वालों की ओर स्थानांतरण किया जाता है उसी सीमा तक विदेशी भुगतान संतुलन अवमूल्यन द्वारा सुधरेगा।

(ग) **मुद्रा भ्रम प्रभाव -** लोग अपनी आय, व्यय और बचतों का मुद्रा के रूप में विचार करने की प्रवृत्ति रखते है। इस मनोवैज्ञानिक व्यवहार को लेते हुए एलेक्जैंडर का यह सुझाव है कि अवमूल्यन के कारण जब कीमतें बढ़ती हैं तो भुगतानन्शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है, यदि लोग बढ़ी हुई कीमतों पर कम खरीदते और उपभोग करते हैं चाहे उनकी मौद्रिक आय अनुपात में नकदी शेष प्रभाव से बढ़ने वाली आय से अधिक बढ़ी हो।

(घ) **फुटकर प्रत्यक्ष अवशोषण प्रभाव -** कीमत प्रत्याशाओं का फुटकर प्रत्यक्ष अवशोषण प्रभाव के संबंध में विचार किया जाता है। जब कीमत वृद्धि की प्रत्याशा निरन्तर विद्यमान रहती है तो इससे अवशोषण बढ़ता है तथा विदेशी संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। परन्तु यह अल्पकाल में ही होगा। फिर, जब अवमूल्यन से आयात कीमतें बढ़ती हैं और यदि निवेश वस्तुएं भी इसी श्रेणी में शामिल कर ली जाती हैं, तो आयातित निवेश वस्तुओं का सापेक्ष आकर्षण घरेलू तौर पर उपलब्ध ऐसी वस्तुओं की सापेक्षता में अथवा उनके निकट स्थानापन्नों की सापेक्षता में कम हो जाएगा। इससे अवशोषण बढ़ेगा। परन्तु यह भी संभावना होती है कि घरेलू तौर पर उत्पादित वस्तुओं की कीमतें इतनी ऊंची होंगी कि लोग इन वस्तुओं पर व्यय को कम या स्थगित कर देंगे जिससे अधिक बचत अथवा संग्रह होंगे।

7.6 मुद्रा इकाई में प्रतिशत परिवर्तन की गणना

अवमूल्यन या अधिमूल्यन किसी राष्ट्र की मुद्रा इकाई के स्वर्ण, विशेष व्यक्त स्वर्ण, विशेष आहरण अधिकार या विदेशी मुद्रा के मूल्य में वृद्धि या विशेष आहरण अधिकार या विदेशी करेन्सी के मूल्य में हास का प्रतीक है। अवमूल्यन करने वाले देश की मुद्रा इकाई में व्यक्त किया जा सकता है कि स्वर्ण, विशेष आहरण अधिकार या विदेशी मुद्रा के मूल्य में घरेलू मुद्रा के रूप में इतने प्रतिशत की वृद्धि हुई है या घरेलू मुद्रा के मूल्य में स्वर्ण एस.डी.आर. या विदेशी मुद्रा के रूप में इतने प्रतिशत का हास हुआ है। दोनों विधियों द्वारा निकाला गया प्रतिशत परिवर्तन का अंक किसी भी हालत में समान नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि यू.एस. डालर के मूल्य में 10 प्रतिशत का हास होता है तो इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण के मूल्य में 10/90 या 11.1 प्रतिशत की वृद्धि होती है।

उन करेन्सियों के लिए जिनकी मुद्रा इकाई का मूल्य परम्परागत रूप से स्वर्ण, विशेष आहरण अधिकार या विदेशी करेन्सी के रूप में व्यक्त हुआ हो अवमूल्यन के प्रतिशत की गणना के लिए नवीन दर में से प्राचीनदर को घटाकर शेष को पुरानी दर के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। जब फिनिश मर्खा (Finish Markka) में निहित स्वर्ण की मात्रा को 0.1996 ग्राम से घटाकर 0.1889 ग्राम कर दिया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि अवमूल्यन

$$\frac{.1889-1996}{.1996} = \frac{0.107}{1996} = -5.4$$

प्रतिशत के बराबर हुआ। ऋण चिन्ह अवमूल्यन का द्योतक है।

इसके विपरीत दूसरे रूप में व्यक्त मुद्रा, जैसे प्रति इकाई स्वर्ण या प्रति यू0 एस. डालर के रूप में व्यक्त मुद्रा के प्रतिशत अवमूल्यन या पुनर्मूल्यन की गणना के लिए प्राचीन दर में से नवीन दर को घटाकर शेष का नवीन के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार जब फिनिश मर्खा की दर 4.1 व मर्खा = 1 यू.एस. डालर से संशोधित करके 3.9 मर्खा = 1 डालर कर दी गई तो मर्खा के डालर मूल्य में 5.1 प्रतिशत की वृद्धि हो गई। इसकी गणना निम्न प्रकार की गई है:

$$\frac{4.1 - 3.9}{3.9} = \frac{0.2}{3.9} = 5.1 \text{ प्रतिशत}$$

यह निष्कर्ष पूर्व निष्कर्ष से मेल खाता है।

7.7 भुगतान संतुलन में घाटे को सुधारने की विधियाँ

देश के भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने के लिए मुद्रा अवमूल्यन के अतिरिक्त अन्य उपाय भी हैं। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व तो भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने के उपाय के रूप में अवमूल्यन को घृणा की दृष्टि से देखते थे। युद्ध के पश्चात् भी बहुत से देशों ने, यद्यपि उनके भुगतान शेष में भारी प्रतिकूलता थी, इस प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिए अवमूल्यन का प्रयोग नहीं किया था। सन् 1930 तक अवमूल्यन को देश की आर्थिक दुर्बलता तथा वैयक्तिक दिवालियापन का लक्षण समझा जाता था। इस कारण देश मुद्रा अवमूल्यन की जगह विस्फीति का चयन करते थे। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान, जो व्यवहार में 1936 तक था, में अवमूल्यन करना संभव नहीं था। इसके साथ ही जनता भुगतान-शेष के बैकिंग, वित्त तथा साख मुद्रा की जांच करने तथा देश की आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए इनमें राष्ट्रीय आय तथा रोजगार में वृद्धि करने के उद्देश्य से सुझाव देने के लिए की गई थी, इंग्लैण्ड में मुद्रा अवमूल्यन का अनुमोदन नहीं किया था। मुद्रा अवमूल्यन को, भुगतान-शेष के घाटे को दूर करने के उपाय रूप में अस्वीकार करते हुए समिति ने लिखा था कि "हमारे विचार में किसी भी देश की सरकार का अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य को अचानक तथा पूर्व सूचना दिये बिना कम करना एक ऐसा कार्य है जो उचित नहीं है"। समिति का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वाणिज्य तथा वित्तीय लेन देन विश्वास पर आधारित होता है। विश्वास की आधारशिला संसार के देशों में इस भावना पर आधारित होती है कि सभी देश अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य को स्थिर बनाये रखेंगे अथवा स्थिर बनाये रखने का तब तक प्रयास करेंगे जब तक यह अनुभव न हो जाय कि बाजार की शक्तियों द्वारा उनकी मुद्रा का अवमूल्यन पहले ही हो चुका है। समिति अनेक ऐसी दशाओं से भिज्ञ थी कि युद्ध की आवश्यकता या दोषपूर्ण नीति निर्धारण या मूल्य ढांचे में परिवर्तन के कारण करेन्सियों के मूल्य में अव्यक्त रूप से इतना अधिक हास हो चुका था कि समता दर को बनाये रखने के लिए भारी सामाजिक क्षति एवं बलिदान की आवश्कता थी। 1925 ई0 में बिट्रेन में ठीक यही स्थिति थी। पौण्ड-स्टलिंग के मूल्य में 1925 से पहले ही इतना अधिक दास हो चुका था कि जनता के सम्मुख अब यह एक खुला प्रश्न था कि प्राचीन समता दर पर स्वर्णमान की पुर्नस्थापना राष्ट्रीय हितों में थी या नहीं। इंग्लैण्ड पौण्ड-स्टलिंग की समतादर को घटाकर स्वर्णमान पर पुन: लौट सकता था किन्तु यदि इंग्लैण्ड अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने

का निर्णय करता तो "इसका अर्थ एक नवीन नीति को अपनाना होगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक संसार को भारी धक्का पहुंचेगा क्योंकि यदि इंग्लैण्ड के समान महान ऋणदाता देश विधान द्वारा अचानक मुद्रा इकाई के समता मूल्य को कम कर देगा तो विश्वास के अभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वैत्तिक सम्बन्धों में गहरी अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो जाएगी।" इस प्रकार भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने के साधन के रूप में अवमूल्यन का इतिहास बहुत पुराना नहीं है।

7.8 अवमूल्यन के सिद्धान्त

अवमूल्यन के दो सिद्धान्त हैं जो इसके प्रभावों को व्यक्त करते हैं। प्रथम, लोच सिद्धान्त है जिसे मार्शल-लर्नर शर्त भी कहते हैं और द्वितीय, अवशोषण सिद्धान्त अथवा आय सिद्धान्त है। पहला सिद्धान्त अवमूल्यन के कीमत प्रभाव की व्याख्या करता है जबकि दूसरा सिद्धान्त उसके आय प्रभाव की। हम इनका क्रमशः आलोचनात्मक अध्ययन करते हैं।

7.8.1 लोच विधि : अवमूल्यन का कीमत प्रभाव

मार्शल प्रथम अर्थशास्त्री था जिसने यह दर्शाया कि यदि देश के निर्यातों के लिए विदेशी मांग की लोच तथा आयातों के लिए घरेलू मांग की सोच का जोड़ इकाई से अधिक हो तो अवमूल्यन का भुगतान-शेष पर अनुकूल प्रभाव होता है, लर्नर ने इसका और प्रचार किया। अत: मार्शल-लर्नर शर्त लोच गुणांकों के महत्व को दर्शाती है जिसके अनुसार अवमूल्यन का प्रभाव कीमतों और निर्यातों एवं आयातों के मूल्यों पर पड़ता है।

यह विश्लेषण इन मान्यताओं पर आधारित है कि व्यापार की जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति पूर्ण लोचदार है तथा वस्तु कीमतें घरेलू मुद्रा में निश्चित है। फिर, यह मानते हुए कि दोनों देशों के व्यापार संतुलन प्रारंभ में संतुलित है, यह विधि भुगतान-शेष के असंतुलन को विनिमय-दर (कीमत) द्वारा समायोजन करने पर आधारित है।

अवमूल्यन करने से जब देश की विनिमय दर (अर्थात मुद्रा की विदेशी कीमत) गिरती है, तो आयात कम होते हैं और निर्यात बढ़ते हैं। पर ये प्रभाव तभी दृष्टिगोचर होंगे जबकि आयातों और निर्यातों की मांग की लोचो का जोड़ इकाई से अधिक हो, अर्थात $ex+em>1$, ex जहाँ निर्यातों की मांग लोच है तथा em आयातों की मांग लोच है। यह मार्शल-लर्नर शर्त है जिसके अनुसार यदि इन दोनों लोचो का जोड़ इकाई से अधिक हो तो एक देश अवमूल्यन द्वारा अपने भुगतान-शेष में सुधार कर सकता है। यदि यह मार्शल-लर्नर शर्त पूरी नहीं होती अर्थात $ex+em=1$ अथवा $ex+em<1$, हो, तो भुगतान संतुलन पर अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव नहीं होगा॥

अवमूल्यन विदेशी करेंसी में निर्यातों की घरेलू कीमतों को कम करता है। कीमतें कम होने से निर्यात बढ़ते हैं। वे कहां तक बढ़ते हैं यह निर्यातों की मांग की लोच पर निर्भर करता है। यह निर्यात की गई वस्तुओं की प्रकृति और बाजार की अवस्थाओं पर भी निर्भर करता है। यदि देश ही केवल निर्यात करने वाला है तथा कच्चे माल या नाशवान वस्तुएं निर्यात करता है, तो इसके निर्यातों के लिए मांग की लोच कम होगी। यदि यह अन्य देशों के साथ प्रतियोगिता में मशीनरी, औजार और औद्योगिक वस्तुएं निर्यात करता है, तो इसकी वस्तुओं के लिए मांग की लोच ऊंची होगी तथा अवमूल्यन भुगतान-शेष के घाटे को ठीक करने में सफल होगा।

अवमूल्यन का प्रभाव आयातों की घरेलू कीमतों को बढ़ाने पर भी पड़ता है जो वस्तुओं के आयात को कम करती हैं। आयातों की मात्रा कितनी कम होगी यह आयातों की मांग की लोच पर निर्भर करता है। आगे, आयातों की मांग की लोच अवमूल्यन करने वाले देश द्वारा आयातित वस्तुओं की प्रकृति पर निर्भर करती है। यदि यह उपभोक्ता वस्तुएं, कच्चे माल तथा उद्योगों के लिए आगतें आयात करता है तो इसकी आयातों के लिए मांग की लोच कम होगी। केवल जब वस्तुओं के लिए मांग की आयात लोच ऊंची हो तो अवमूल्यन भुगतान-शेष के घाटे को ठीक करने में सहायक होगा।

अत: जब निर्यातों की मांग की लोच तथा आयातों की मांग की लोच का जोड़ एक से अधिक होता है तो अपनी करेंसी का अवमूल्यन करने वाले देश के भुगतान-शेष में सुधार होगा।

आलोचनाएँ

अवमूल्यन द्वारा भुगतान-शेष को सुधारने के लिए मार्शल-लर्नरशर्त की अर्थ-शास्त्रियों द्वारा तीव्र आलोचनाएं हुई हैं जो निम्नलिखित हैं :

1. **विभिन्न आनुभविक परिणाम -** अनेक अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मांग लोच को मापने के प्रयत्न किए हैं। कुछ ने कम मांग लोचें पाई जबकि अन्य अर्थशास्त्रियों ने ऊंची मांग लोचें पाई। परिणामस्वरूप, पहले वर्ग ने यह सुझाव दिया कि अवमूल्यन भुगतान-शेष को सुधारने की प्रभावी विधि नहीं है जबकि दूसरे वर्ग ने उसे प्रभावी विधि बताया। परन्तु विदेशी व्यापार के ढांचे और मात्रा में भिन्नताएं होने के कारण इन विपरीत आनुभविक परिणामों का सामान्यीकरण करना कठिन है।
2. **पूर्ण प्रतियोगिता नहीं -** लोच सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती बल्कि इसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाये जाते हैं जैसे प्रशुल्क, अभ्यंश, विनिमय नियंत्रण आदि।
3. **पूंजी गतियों की अवहेलना -** लोच विधि भुगतान-शेष के चालू खाते को लेकर अवमूल्यन के प्रभावों का विश्लेषण करती है। इस प्रकार यह विनिमय दर में अवमूल्यन द्वारा परिवर्तन से जो पूंजी गतियों पर प्रभाव पड़ते हैं उनकी अवहेलना करती है। भुगतान-शेष के संतुलन में इन पूंजी गतियों का बहुत महत्व होता है।
4. **कीमत स्तर स्थिर नहीं -** यह विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि व्यापार की जा रही सभी वस्तुओं की कीमतें स्थिर रहती हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि अवमूल्यन से निर्यातों की घरेलू कीमतें और आयातों की विदेशी कीमतों में परिवर्तन होते हैं।
5. **आय प्रभावों की उपेक्षा -** मार्शल-लर्नर शर्त अवमूल्यन के आय प्रभावों का अध्ययन नहीं करती है। अवमूल्यन आयातों और निर्यातों की मात्राओं को परिवर्तित करके देश की आय को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, अवमूल्यन करने से जब निर्यातों में वृद्धि होती है, तो इससे देश की आय बढ़ती है जो आगे आयातों में वृद्धि करने में सहायक होती है।
6. **स्फीति की संभावना -** अवमूल्यन से देश में स्फीति हो सकती है। यद्यपि अवमूल्यन भुगतान-शेष में सुधार करने में सफल हो सकता है परन्तु इससे देश की आय में निर्यातों द्वारा वृद्धि से बढ़ने की सम्भावना होती है। यह बढ़ी हुई आय आयातों की मांग तथा

समस्त मांग बढ़ाकर कीमतों में वृद्धि करेगी जिससे भुगतान-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

7. **आय वितरण पर प्रभाव की उपेक्षा -** लोच विधि आय वितरण पर अवमूल्यन के प्रभावों की उपेक्षा करती है। अवमूल्यन से संसाधनों का पुनर्वितरण होता है। यह संसाधनों को विदेशी व्यापार में न आने वाली वस्तुओं के उत्पादन से हटा कर निर्यात और आयात-प्रतियोगी उद्योगों के क्षेत्र में लाता है। इससे पहले क्षेत्र में लगे उत्पादन के साधनों की आय कम हो जायेगी और दूसरे क्षेत्र में लगे उत्पादन के साधनों की आय में वृद्धि होगी।
8. **आंशिक विश्लेषण -** सिडनी एलेक्जेंडर के अनुसार मार्शल-लर्नर शर्त एक आंशिक विश्लेषण है जिसमें सापेक्ष कीमतों और आयात-निर्यात की मात्राओं के आधार पर अध्ययन किया गया है। इस सिद्धान्त में अन्य बातें समान मान कर लोच के भुगतान-शेष पर प्रभाव को दिशाया गया है। जहाँ आंशिक लोचें ली गई हैं जो इसको आशिक संतुलन का विश्लेषण बना देती हैं। परन्तु अवमूल्यन के प्रभावों का सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि कुल लोचो को लिया जाए।

   अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार मानते हुए किंडलबर्गर ने आंशिक लोचो के स्थान पर कुल लोचें लेकर मार्शल-लर्नर सिद्धान्त का संशोधन किया है। परन्तु इस प्रकार के विश्लेषण की समस्या यह है कि पूर्ति लोचें स्वयं मांग स्थितियों पर निर्भर करती हैं। परन्तु मार्शल की लोच धारणा को, जिसका सम्बन्ध मांग या पूर्ति वक्रों पर केवल वृद्धिशील परिवर्तनों से है, तो इन वक्रों के स्थानांतरणों की समस्याओं से सम्बद्ध करना भ्रमपूर्ण है।

7.8.2 आय अवशोषण विधि

अवमूल्यन का अवशोषण सिद्धान्त सामान्य संतुलन प्रकृति का है तथा केन्ज के राष्ट्रीय आय संबंधों पर आधारित है। इसलिए इसे भुगतान शेष की कन्जीय मार्ग भी कहते हैं। परन्तु यह केंन्जीय मॉडल से कुछ भिन्न है। केन्ज का मॉडल अवमूलन से निर्यातों के बढ़ने तथा आयातों के कम होने से जो आय में परिवर्तन होते हैं उनका विश्लेषण करता है जबकि अवशोषण सिद्धान्त घरेलू व्यय में परिवर्तन द्वारा विश्लेषण करता है।

सिडनी एलेक्जैंडर ने केन्जीय शब्दावली और विचारधारा को लेकर अवमूल्यन के आय पर प्रभाव का विश्लेषण किया है। उसके अनुसार, यदि किसी देश के भुगतान-शेष में घाटा हो तो इसका मतलब है कि लोग जितना उत्पादन करते हैं उससे अधिक अवशोषण कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय आय से उपभोग और निवेश पर घरेलू व्यय अधिक है। यदि भुगतान-शेष में अतिरेक है तो वे कम अवशोषण कर रहे हैं, अर्थात् राष्ट्रीय आय से उपभोग और निवेश पर घरेलू व्यय कम है। इस प्रकार, इस विधि में भुगतान संतुलन राष्ट्रीय आय तथा घरेलू व्यय का अन्तर परिभाषित किया गया है।

इस विश्लेषण को समीकरण रूप में निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है :

$$Y = C + I_d + X - M \qquad \ldots. (1)$$

जहाँ Y राष्ट्रीय आय है, C उपभोग व्यय, I_d कुल घरेलू निवेश, X निर्यात और M आयात हैं। $C+I_d$ का जोड़ कुल अवशोषण है जिसे A कहा जाता है तथा भुगतान-शेष X-M को B कहा जाता है।

इस प्रकार समीकरण (1) बन जाता है :

$Y = A + B$

$B = Y - A$

अथवा

जिसका अभिप्राय है कि भुगतान-शेष राष्ट्रीय आय Y तथा कुल अवशोषण A का अन्तर है। भुगतान-शेष आय बढ़ा कर अथवा अवशोषण (उपभोग तथा निवेश व्यय) को कम करके सुधारा जा सकता है। एलेक्लैंडर इसके लिए अवमूल्यन करने का सुझाव देता है जो इस तरह से कार्य करता है। अवमूल्यन निर्यातों को बढ़ाता है तथा आयातों को कम करता है जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है। इस प्रकार बढ़ी हुई अतिरिक्त आय गुणक प्रभाव द्वारा आय को और बढ़ाएगी। इससे घरेलू उपभोग में वृद्धि होगी। इस प्रकार, राष्ट्रीय आय में वृद्धि का भुगतान-शेष पर शुद्ध प्रभाव राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि तथा अवशोषण में प्रेरित वृद्धि का अन्तर है। जिसे निम्न समीकरण द्वारा समझाया जा सकता है :

$$\Delta B = \Delta Y - \Delta A$$

या $b = y - a$ ..... (2)

समीकरण (2) में y-a के अन्तर को "'वास्तविक संग्रह" कहते हैं। अत: अवमूल्यन द्वारा आय में वृद्धि का भुगतान-शेष पर प्रभाव अर्थव्यवस्था के वास्तविक संग्रह के बराबर होता है।

ऊपर वर्णित विश्लेषण को निम्नलिखित समीकरण सम्बन्धों द्वारा समझाया जा सकता है:

राष्ट्रीय उत्पाद $O = C+1$

$= C + I_d + I_f \qquad (\therefore I = I^d + I_f)$

जहाँ I_f विदेशी निवेश है

अथवा $O=C+I^d+(X+M)$ ... (3)

$(\therefore If = X - M)$

परन्तु $Y=C+S$

क्योंकि $O=Y$

इसलिए समीकरण (3) और (4) से

$C + I_d + (X - M) = C + S$

अथवा $I_d + (X - M) = S$

अथवा $X - M = S - I_d$

जहाँ X - M भुगतान-शेष तथा $S - I_d$ अवशोषण है।

अवशोषण विधि पर आधारित अवमूल्यन का भुगतान-शेष पर प्रभाव चित्र में प्रदर्शित किया गया है। मान लीजिए की अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय आय के OY स्तर पर कार्य कर रही है। X-M और S - Id वक्रों के E बिन्दु पर काटने से देश में भुगतान-शेष में OB घाटा दिखाई देता है। उस घाटे को ठीक करने के लिए देश अपनी करेंसी का अवमूल्यन करता है जिससे निर्यात बढ़ते हैं और आयात कम होते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि (X-M) वक्र (X-M)' पर सरक जाता है जो (S-Id) वक्र को Y_1 पर काटता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप जब

निर्यात बढ़ते हैं और आयात कम होते हैं, तो राष्ट्रीय आय OY से बढ़कर OY_1 हो जाती है। यह नोट करें कि CB (=YE) के घाटे को ठीक करने के लिए (X-M) वक्र इस प्रकार उपर की ओर (X-M)' स्थान पर सरका है कि आय में वृद्धि OB घाटे से बिल्कुल दुगुनी है।

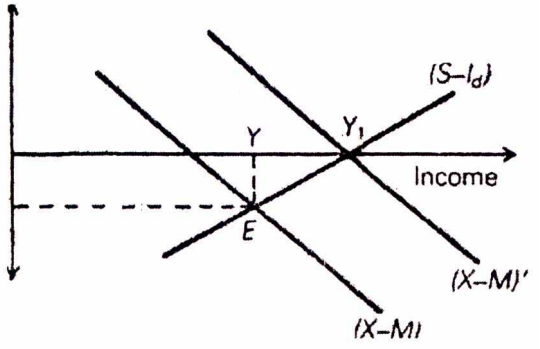

सिडनी एलेक्जैंडर आगे यह विश्लेषण करता है कि अवमूल्यन कीमत स्तर, उत्पादन स्तर तथा अनेक आर्थिक चरों को प्रभावित करेगा। उसके अनुसार, आय स्तर में परिवर्तित (y) तथा अवशोषण प्रवृत्ति (c) तथा अवशोषण प्रवृति (c) दोनों इकट्ठे बराबर होंगे। अवशोषण में आय प्रेरित परिवर्तन (a) जमा अवमूल्यन का अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभाव (d) के यह सम्बन्ध समीकरण रूप में होगा :

$$cy = a + d$$

$$a = cy - d \qquad \text{.....(5)}$$

यह समीकरण बताता है कि अवमूल्यन के परिणाम स्वरूप वस्तुओं और सेवाओं के अवशोषण में परिवर्तन दो भागों से बना होता हैं प्रथम, cy, वास्तविक उपभोग जमा वास्तविक निवेश में परिवर्तन है जो अवमूल्यन के कारण वास्तविक आय में परिवर्तन से प्रेरित होता है। दूसरा भाग, d_1 अवशोषण में परिवर्तन है जो आय प्रभाव के अलावा होता है।

समीकरण (2) और (5) को मिलाने से :

$$b = y - a$$

$$a = cy - d$$

या $\quad b = y - (cy-d)$

$$= y - cy + d$$

$$= (1 - c)\, y + d$$

या $\quad b - (1 - c)\, y = d$

यह सम्बन्ध तीन आधारभूत प्रश्नों की ओर ध्यान आकर्षित करता है : प्रथम, अवमूल्यन कैसे आय परिवर्तनों (y) को प्रभावित करता है? दूसरा, आय में परिवर्तन अवशोषण को कैसे प्रभावित करता है, अर्थात्, c कितनी बड़ी है? तीसरा, अवमूल्यन किसी आय स्तर पर अवशोषण को प्रत्यक्ष तौर से प्रभावित करता है, अर्थात, d कितना बड़ा है?

इन प्रभावों का प्रभावी तौर से उत्तर केवल अवमूल्यन करने वाले देश के समस्त आर्थिक ढांचे पर अवमूल्यन के प्रभाव के विस्तृत विश्लेषण के आधार पर दिया जा सकता है।

आय अवशोषण विधि की आलोचनाएं

आय अवशोषण विधि की अर्थशास्त्रियों ने कटु आलोचनाएं की हैं।

1. विश्लेषणात्मक तौर से यह लोच विधि से श्रेष्ठ दिखाई देती है परन्तु सोच गुणांकों की तरह इस विधि में
   उपभोग और निवेश प्रवृत्तियों की सही गणना नहीं की जा सकती है।
2. अवशोषण विधि इस बात में कमजोर है कि यह घरेलू अवशोषण को प्रभावित करने वाली घरेलू नीतियों पर बहुत अधिक निर्भर करती है। यह अन्य देशों के अवशोषण पर अवमूल्यन के प्रभावों का अध्ययन नहीं करती है।
3. अवशोषण विधि की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि सापेक्ष कीमतों की अपेक्षा यह घरेलू उपभोग के स्तर पर अधिक बल देती है। अवशोषण कम कर ने के लिए केवल घरेलू उपभोग के स्तर को कम करने का यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार छोड़े गए संसाधन भुगतान संतुलन को सुधारने में लगाए जाएंगे।
4. जोनसन के अनुसार, अवशोषण विधि वास्तविक आय तथा वास्तविक व्यय द्वारा भुगतान संतुलन पर प्रभावों का अध्ययन करती है जिस कारण यह कीमत स्तरों में परिवर्तनों की उपेक्षा करती है। उसका यह सुझाव है कि वास्तविक तत्वों को समझने के लिए Y तथा A को कीमत स्तर से भाग देना चाहिए। इस प्रकार यह विधि कीमत प्रभावों की उपेक्षा करती है।
5. मैक्लप के अनुसार, अवमूल्यन का प्रभाव बताने में व्यय प्रवृत्तियां कम विश्वसनीय है जबकि मौद्रिक एवं राजस्व नीतियों का अवमूल्यन पर प्रभाव अधिक व्यापक होता है जिनकी अवशोषण विधि उपेक्षा करती है। इन कमियों के बावजूद अवमूल्यन की अवशोषण विधि समष्टि विश्लेषण है जो अवमूल्यन की बाह्य एवं आन्तरिक प्रभावों के बीच संबंधों पर विचार करती है।

7.8.3 लोच तथा अवशोषण विधियों का समन्वय

सियांग ने मुद्रा द्वारा लोच तथा अवशोषण विधियो का समन्वय किया है। एलेक्जैंडर अपने विश्लेषण में ब्याज दरों को स्थिर मानता है। परन्तु सियांग के अनुसार, अवशोषण मौद्रिक आय तथा ब्याज दरों पर निर्भर करता है। ब्याज दर में वृद्धि होने से निवेश पर रोक लगेगी तथा उपभोग भी कम होगा जिससे मुद्रा का संग्रह बढ़ेगा। यदि मुद्रा की पूर्ति स्थिर हो तो मौद्रिक आय बढेगी तथा लेन-देन उद्देश्यों के लिए मुद्रा की मांग बढ़ेगी। जिससे ब्याज दर और बढ़ेगी और अवशोषण कम होगा तथा भुगतान संतुलन अनुकूल होगा।

सियांग आगे स्पष्ट करता है कि मुद्रा की पूर्ति स्थिर होने पर जब अवमूल्यन करने से आय बढ़ती है, तो अवशोषण में भी वृद्धि होती है जिसका समायोन प्रक्रिया पर प्रस्ताव कम हो जाएगा। यदि सीमांत व्यय प्रवृत्ति इकाई से अधिक है तो सीमांत संग्रह प्रवृत्ति ऋणात्मक होगी। ऐसी परिस्थिति में अवशोषण आय से अधिक होगा। तब अतिरिक्त व्यय केवल विसंग्रह द्वारा ही किया जाएगा। अवमूल्यन के प्रभाव से आयात और निर्यात में जो संतुलन होता है वह उनके असंतुलन में परिवर्तित होता जाएगा। इस प्रकार जब अवशोषण निरन्तर बढ़ता जाएगा तब विनिमय-दर ऊंची होती जाएगी जिसका देश पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। सियांग गणित द्वारा यह सिद्ध करता है कि जब ब्याज दरों में वृद्धि होती है तो संग्रह की वृद्धि ऋणात्मक आय से प्रेरित सीमांत संग्रह

प्रवृत्ति पर काबू पा लेगी। इससे धनात्मक संग्रह होगा' तथा आय अवशोषण से अधिक होगी। यद्यपि अर्थव्यवस्था में विपरीतात्मक तत्व भी क्रियाशील होंगे फिर भी भुगतान संतुलन अनुकूल होगा। यदि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार पाया जाता है तब भी ऊंची ब्याज दरें रहेंगी। पूर्ण रोजगार तथा कीमतों में वृद्धि होने पर ऊंची व्याज दरों वाली मौद्रिक नीति सही ठहरती है न कि मुद्रा की स्थिर पूर्ति की नीति। इसलिए प्रतिबंधात्मक मौद्रिक नीति अपनानी चाहिए जिसके दो प्रभाव होंगे - प्रथम, यह भुगतान संतुलन को कायम रखेगी तथा दूसरे, यह मुद्रा के प्रसार को नियंत्रित करेगी।

7.8.4 तीनों विधियों का सम्बन्ध

अवमूल्यन की लोच, अवशोषण एवं मौद्रिक विधियों के बारे में अर्थशास्त्रियों के बीच कोई तीव्र मतभेद नहीं है। मण्डल (Mundell) के अनुसार, "ये सभी विश्लेषण सही हैं और एक जैसे तक्र-वाक्यों पर बल देते हैं।" इन तीनों में सामान्य संतुलन में विश्लेषण किया जाना चाहिए जिसमें कीमतें, व्यय और मौद्रिक तत्व एक दूसरे में मिल जाते हैं। किंडलबर्गर ने जापानी अर्थव्यवस्था का उदाहरण लेकर वह बताते की चेष्टा की है कि कौन-सी विधि किस परिस्थिति पर निर्भर करेगी। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वही विधि अपनानी चाहिए जो परिस्थितियों के अनुकूल सरल तथा प्रभावी है।

वास्तव में लोच, अवशोषण एंव मौद्रिक विधियां एक दूसरे की पूरक हैं। जब अवमूल्यन किया जाता है तो उससे सापेक्ष कीमतों का असंतुलन दूर होता है। इसके साथ ही मुद्रा संग्रह के वास्तविक मूल्यों में कमी होती है तथा अवशोषण (व्यय) घटता है।

डार्नबुश तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने अवशोषण और मौद्रिक विधियों को एक साथ मिलाया है। मैगी के अनुसार, "अवशोषण विधि अल्पकालीन स्टॉक असंतुलन के प्रवाह पहलू पर बल देती है जबकि मौद्रिक विधि स्वयं दीर्घकालीन स्टॉक संतुलन पर बल देती है।" इसी प्रकार, लोच एवं अवशोषण विधियों में परस्पर संबंध पाया जाता है। लोच विधि आशिक संतुलन विश्लेषण से प्रारंभ होती है तथा कीमत और आय परिवर्तनों द्वारा भुगतान संतुलन को प्रभावित करती है। दूसरी ओर, अवशोषण विधि के अनुसार पर्याप्त ऊंची लोचों की स्थिति में कीमत एवं आय प्रभावों के होते हुए यह आवश्यक है कि अवमूल्यन करने पर आय की सापेक्षता में व्यय में कमी हो। इस प्रकार तीनों विधियां एक दूसरे के पूरक हैं।

7.8.5 अवमूल्यन का व्यापार शर्त प्रभाव

अवमूल्यन देश की व्यापार शर्तों को सुधारता है या बिगाड़ता है यह आयातों और निर्यातों की मांग एवं पूर्ति लोचों पर निर्भर करता है। पूर्तियों की सापेक्ष्ज्ञता में मांगे जितनी अधिक लोचदार होंगी, उतना ही अवमूल्यन का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव बेहतर होगा। अवमूल्यन के व्यापार शर्तों पर प्रभाव को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है

(क) अवमूल्यन व्यापार की शर्तों को सुधारता है, यदि dxdm>sx sm हो।

(ख) अवमूल्यन व्यापार की शर्तों को बिगाड़ता है, यदि dxdm<sx sm हो।

(ग) अवमूल्यन का व्यापार की शर्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, यदि bxdm>sx sm हो।

जहाँ dx तथा dm निर्यातों एवं आयातों की क्रमशः मांग है और sx तथा sxm निर्यातों एवं आयातों की क्रमशः पूर्ति है।

इस प्रकार, मांग एवं पूर्ति लोचो की तुलना द्वारा व्यापार शर्तों पर अवमूल्यन के प्रभाव को समझा जा सकता है। इसके लिए हम कुछ विशेष स्थितियों का अध्ययन करते हैं।

(अ) **क्रेता की करेंसी में निश्चित कीमतें -** यदि कीमतें क्रेता की करेंसी में निश्चित होती हे तो अवमूल्यन से व्यापार शर्तों में सुधार होता है। यद्यपि निर्यातों के विदेशी खरीदार विदेशी करेंसी की स्थिर कीमतों तथा विक्रय की स्थिर मात्राएं पाते हैं फिर भी अवमूल्यन करने वाला देश आयातों की ओर से विदेशी विनिमय की बचत करता है। ऐसा अल्पकाल में होता है। परन्तु दीर्घकाल में भी यदि कीमतें क्रेताओं की करेंसी में निश्चित की जाती हैं, और मांग लोचें अनन्त होती हैं तो भी व्यापार की शर्तों में सुधार होगा। क्रेता की करेंसी में कीमतें निश्चित होने पर, अवमूल्यन देश के निर्यातों की विदेशी करेंसी कीमत प्रभावित नहीं कर सकता परन्तु अवमूल्यन की प्रतिशतता के बराबर आयातों की विदेशी करेंसी कीमत कम कर देगी इस प्रकार, निर्यातों की प्रत्येक इकाई के बदले आयात खरीदना सस्ता होने से अवमूल्यन व्यापार शर्तों को सुधारता है।

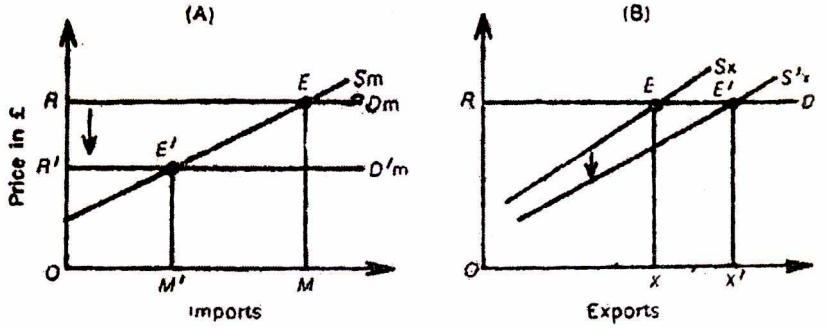

इसे चित्र (A) में दर्शाया गया है जहाँ Dm आयातों का अनन्त लोचदार मांग वक्र है तथा Sm आयातों का पूर्ति वक्र जो आयातों की अवमूल्यन से पूर्व मात्रा OM बिन्दु E पर निर्धारित करते हैं। दूसरी ओर, चित्र (B) में निर्यातों का मांग वक्र Dx तथा पूर्ति वक्र Sx बिन्दु E पर निर्यातों की अवमूल्यन से पूर्व क्रेता OX निर्धारित करते हैं। क्रेता की करेंसी में निश्चित कीमतों के आधार पर जब अवमूल्यन होता है, तो आयातों की मांग कम हो जाती है जिसे Dm वक्र को सरका कर नीचे D'm पर दिखाया गया है। इसके परिणामस्वरूप, नया संतुलन बिन्दु E' निर्धारित होता है तथा आयातें OM से कम होकर OM' हो जाती हैं। दूसरी ओर, अवमूल्यन के कारण निर्यातों की पूर्ति बढ़ती है जिससे Sx वक्र सरक कर नीचे S'x पर आ जाता है तथा E' पर नया संतुलन होता है जो बढ़ी हुई निर्यातें OX' दर्शाता है। इस प्रकार, निर्यातों की पाउंड में कीमतें स्थिर होने पर निर्यातों की मात्राएं बढ़ती हैं अर्थात OX से OX' तथा आयातों की मात्राएं कम होती हैं अर्थात OM से OM' तो अवमूल्यन से व्यापार की शर्तों में सुधार होता है।

(ब) विक्रेता की करेंसी में निश्चित कीमतें - यदि विक्रेता की करेंसी में कीमतें निश्चित की जाती हैं तो अवमूल्यन होने पर देश अपने निर्यातों पर नीची विदेशी करेंसी कीमत स्वीकार करता है जबकि अपनी आयातों के लिए अवमूल्यन से पूर्व की विदेशी करेंसी कीमतें देता है। इससे निर्यातों के बदले में आयातों को खरीदना अधिक महंगा हो जाता है जिससे व्यापार की शर्तें खराब हो जाती हैं। इसे चित्र द्वारा दर्शाया गया है। जहाँ आयातों

और निर्यातों की पूर्ति पूर्ण लोचदार है। चित्र (A) लीजिये जहाँ आयातों की ओर से अवमूल्यन पाउंड की मांग को कम करता है जब पाउंड की कीमत बिना प्रभावित किए आयातों की मात्रा पहले से कम हो जाती है। अवमूल्यन का ब्रिटेन के पाउंड की कीमत OR पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु आयातों की मांग अपने देश में कम हो जाती है जिसे Dm वक्र को सरका कर नीचे D'm पर दिखाया गया है जिससे आयातों की मांग OM से कम होकर OM' हो जाती है। अब निर्यातों को लीजिए जहाँ देश की करेंसी के अवमूल्यन का पाउण्ड कीमतों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अवमूल्यन से विदेशी करेंसी कीमत में उतनी ही कमी होने से देश के निर्यात बढ़ते हैं। व्यापार की शर्तों पर इसका शुद्ध प्रभाव क्या होगा यह मांग की लोचों पर निर्भर करता है। निर्यातों की पाउण्ड कीमत में दिए गए परिवर्तन के साथ निर्यातें जितनी अधिक बढ़ेगी उतना ही अधिक निर्यात अर्जनों में सुधार होगा तथा इसके विपरीत -

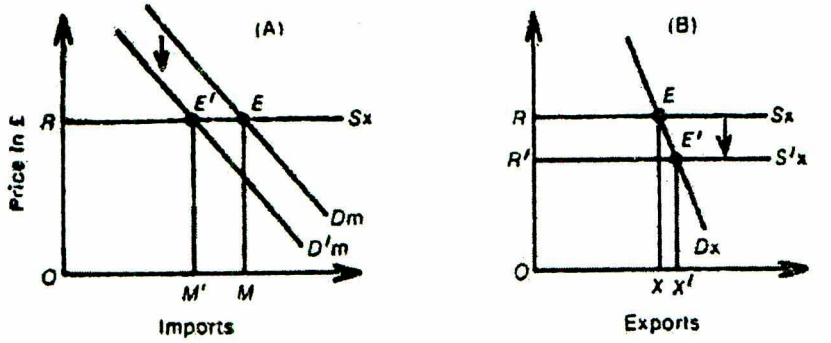

चित्र (B) में जो स्थिति दर्शायी गई है वह यह बताती है कि मांग की लोच कम होने पर अवमूल्यन से जब निर्यातें बढ़ती हैं तो निर्यातों का पूर्ति वक्र Sx से सरक कर नीचे S'x पर आ जाता है तथा कम लोचदार मांग वक्र Dx के साथ जब नया संतुलन E' पर होता है तो निर्यातों की मात्रा OX से बढ़कर OX' हो जाती है। परन्तु निर्यातों में वृद्धि की मात्रा XX' से प्राप्त निर्यात अर्जन इतने अधिक नहीं है कि आयातों में MM' की कमी होने के बावजूद व्यापार की शर्तों में सुधार ला सकें क्योंकि हो सकता है कि शुद्ध विदेशी अर्जन अवमूल्यन होने पर भी न बढ़ पाए हों या कम ही हुए हों। ऐसी स्थिति में व्यापार की शर्तें या तो अवमूल्यन पूर्व जैसी रही हों या पहले से खराब हो गई हों। इतना अवश्य है कि निर्यातों की मांग की लोच अधिक होने पर जब मांग वक्र अधिक चपटा, जैसे चित्र में, हो तो व्यापार की शर्तों में सुधार होगा। अत: हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अवमूल्यन व्यापार की शर्तों में सुधार करेगा यदि आयातों और निर्यातों के लिए मांग लोचें पूर्ति लोचों की अपेक्षा ऊँची होंगी तथा व्यापार की शर्तें इसके विपरीत स्थिति में खराब होंगी।

7.9 अवमूल्यन का आय प्रभाव

अवमूल्यन का राष्ट्रीय आय पर जो प्रभाव पड़ता है उसको सही ढंग से मापना कठिन है क्योंकि यह विश्लेषण अनेक तर्कों पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष तौर से, जब अवमूल्यन किया जाता है तो देश के निर्यातों की वास्तविक मात्रा में वृद्धि होती है तथा आयातों की वास्तविक मात्रा में कमी।

इसके परिणामस्वरूप, देश के निर्यात तथा आयात-प्रतियोगी उद्योगों के प्रसार से लोगों को अधिक रोजगार प्राप्त होते हैं और आय बढ़ती है। परन्तु अवमूल्यन के राष्ट्रीय आय पर प्रभाव इतने सरल और स्पष्ट नही है। वास्तव में अवमूल्यन से राष्ट्रीय आय में वृद्धि व्यापार की शर्तों तथा व्यापार संतुलन के सुधार से संबद्ध है।

जिन स्थितियों में अवमूल्यन से व्यापार की शर्तें खराब होती हैं राष्ट्रीय आय पर बुरा प्रभाव पड़ेगा तथा जिन स्थितियों में व्यापार की शर्तों में सुधार होता है राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी। यदि व्यापार की शर्तों में अवमूल्यन के बाद भी कोई परिवर्तन नहीं होता तो राष्ट्रीय आय तभी बढ़ेगी यदि व्यापार संतुलन में सुधार होता है। यदि विक्रेता की करेंसी में कीमतें निश्चित की जाती हैं तो व्यापार की शर्तें देश के विरूद्ध अवमूल्यन की पूरी प्रतिशतता के बराबर होती है, जिससे राष्ट्रीय आय में कम वृद्धि होती है। इस स्थिति में यह मान्यता है कि पूर्ति लोचें अनन्त हैं तथा मांग लोचें बहुत कम हैं इससे व्यापार संतुलन बिगड़ जाता है। जब निर्यातों की विदेशी करेंसी कीमत आयातों की सापेक्षता में बहुत कम हो जाती है, जो निर्यातों में वृद्धि और आयातों में कमी को निष्प्रभावित कर देती हैं। व्यापार की शर्तों के खराब होने से राष्ट्रीय आय में कमी सामाजिक कल्याण पर प्रभाव से भी समझी जा सकती है। यदि अवमूल्यन के बाद आयातों को खरीदने के लिए निर्यातों की अधिक इकाइयों की लागत आती है और निर्यात वस्तुओं के बनाने में अधिक यत्न और संसाधन लगते हैं तो अवमूल्यन लोगों में पहले से गरीब होने की भावना उत्पन्न करता है, बावजूद उनकी आय में अधिक निर्यातों और आयात-प्रतियोगी वस्तुओं में वृद्धि होने पर और जब लोग अपने को पहले से गरीब अनुभव करते हैं तो वे घरेलू वस्तुओं पर किये जा रहे व्यय को घटा देते हैं। इस प्रकार व्यापार शर्तों के खराब होने के प्रभाव का अर्थव्यवस्था पर संकुचन प्रभाव पड़ता है जिससे राष्ट्रीय आय और भी कम हो जाती है।

दूसरी ओर, व्यापार की शर्तों में सुधार होने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। मान लीजिए की अवमूल्यन के पश्चात कीमतें क्रेता की करेंसी में निश्चित की जाती हैं। ऐसी स्थिति में व्यापार की शर्तें अवमूल्यन की पूरी प्रतिशतता में सुधरेंगी। इससे राष्ट्रीय आय में और वृद्धि होती है तथा बढ़ी हुई आय द्वारा व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। ऐसा तब होता है जब आयातों और निर्यातों की मांग लोचें पूर्ण लोचदार हों।

अत: राष्ट्रीय आय पर अवमूल्यन का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता ह कि क्या अवमूल्यन व्यापार शर्तों को बिगाड़ता या सुधारता है। यदि अवमूल्यन से व्यापार शर्तें बिगड़ती हे तो राष्ट्रीय आय कम होगी। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए पर्याप्त शर्त यह है कि अवमूल्यन से व्यापार की शर्तें सुधरें या पहले जैसी ही रहें।

अवमूल्यन के आय प्रभाव को चित्र द्वारा दर्शाया गया है। हम यह जानते हैं कि एक खुली अर्थव्यवस्था में संतुलन की स्थिति होती है X - M S - I_d मान लीजिए की अवमूल्यन से पहले अर्थव्यवस्था E बिन्दु पर संतुलन मैं है जहाँ X - M तथा S - Id वक्र एक दूसरे को काटते हैं तथा देश में OB व्यापार संतुलन का घाटा है। इस घाटे को ठीक करने के लिए देश अपनी करेंसी का अवमूल्यन करता है जिससे निर्यात बढ़ते हैं और आयात कम होते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि (X-M) वक्र सरक कर ऊपर X-M)' की स्थिति में चला जाता है जो (S-Id) वक्र को Y_1 बिन्दु पर काटता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप जब निर्यात बढ़ते

हैं और आयात कम होते हैं तो व्यापार की शर्तों में सुधार होता है तथा व्यापार संतुलन भी सुधर कर E से Y हो जाता है तथा राष्ट्रीय आय OY से बढ़कर OY_1 हो जाती है। इस प्रकार जब तक अवमूल्यन से व्यापार की शर्तों में सुधार होगा और व्यापार संतुलन में घाटा नहीं होगा। देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने की संभावना बनी रहेगी।

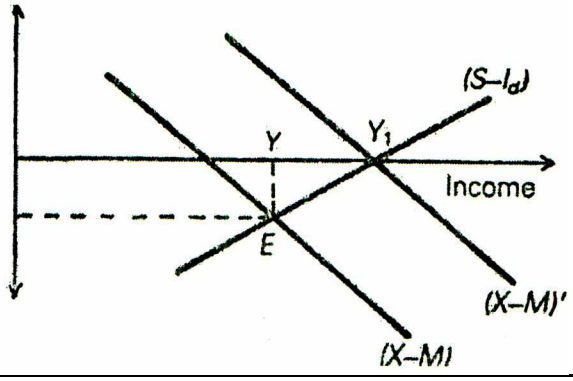

7.10 विभिन्न मुद्राओं का अवमूल्यन

7.10.1 पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन

सन् 1949 में पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन उल्लेखनीय है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के समय इंग्लैंड का भुगतान संतुलन अमरीका के साथ प्रतिकूल था। डालर संकट के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र के स्वर्ण व डालर कोष निरन्तर गिरते गये अत: विवश होकर सरकार को सितम्बर 1949 ई. में पौण्ड का अवमूल्यन करना पड़ा। 18 सितम्बर 1949 को इंग्लैंड के समकालीन वित्त मंत्री सर स्टेफोड क्रिप्स ने उपनिवेशों की सहमति से पौण्ड स्टर्लिंग का मूल्य 4.03 डालर से घटाकर 2.80 डालर करने की घोषणा की। यह पौण्ड स्टर्लिंग का 30.5 प्रतिशत अवमूल्यन था। इंग्लैंड के साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के अनेक देशों (केवल पाकिस्तान को छोड़कर) ने भी अपनी मुद्रा इकाइयों के डालर मूल्य में समान कमी कर दी थी। भारत ने भी इंग्लैंड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के साथ अपने आर्थिक सम्बन्धों को स्थिर रखने की दृष्टिकोण से 20 सितम्बर 1949 को रूपये के डालर मूल्य में 30.5 प्रतिशत की कमी की। अवमूल्यन के पश्चात रूपये का डालर मूल्य 30.22 सेंट से घटा कर 21 सेंट कर दिया गया और स्वर्ण क्षमता दर 0.268691 ग्राम से घटकर 0.186621 ग्राम हो गई। परन्तु अवमूल्यन के बाद स्टर्लिंग मूल्य पूर्ववत 18 पेंस बना रहा।

पौण्ड के अवमूल्यन के निम्नलिखित मुख्य कारण थे :

1 अमरीका के साथ प्रतिकूल व्यापार संतुलन।
2 इंग्लैंड में उत्पादन की ऊंची लागत तथा मजदूर संघों के कारण मजदूरी की दरों में कमी का न होना।
3 युद्ध के कारण इंग्लैंड में उत्पादन क्षमता का नष्ट हो जाना।
4 मुद्राओं की सट्टेबाजी।

7.10.2 रूपये का अवमूल्यन

पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत ने भी 20 सितम्बर, 1949 को रूपये के डालर मूल्य में प्रथम बार 30.5 प्रतिशत की कमी की थी। यदि भारत ऐसा नहीं करता तो भारत का टेक्सटाइली उद्योग लंका-शायर के टेक्सटाइल उद्योग के सामने विश्व प्रतियोगिता में टिक नहीं पाता। देश के आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर भारत की विदेशी विनिमय के संकट का सामना करने के लिए पुन: 6 जून 1968 को रूपये का 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन करना पड़ा। इस अवमूल्यन के पश्चात् रूपये का स्वर्ण समता मूल्य 0.186621 ग्राम से घटकर 0.118516 ग्राम हो गया, एक यू.एस. डालर का मूल्य रू. 4.76 सें बढ़कर रू. 7.50 हो गया तथा 1 पौण्ड स्टर्लिंग का मूल्य 13.33 रू. से बढ़कर 18 रू. और 1 रूबल का मूल्य 5.21 रू. से बढ़कर 8.33रू हो गया। 1 से 4 जुलाई 1991 के बीच रूपये का दो बार अवमूल्यन किया गया था। अवमूल्यन की सीमा 20.22 प्र.श. के बीच थी।

7.10.3 पौंड का अवमूल्यन

भुगतान संतुलन की स्थिति अत्यधिक खराब होने के कारण ब्रिटेन ने 18 नवम्बर 1967 को पौण्ड का 20वर्षो में दूसरी बार 14.2 प्रतिशत अवमूल्यन किया। इन नवीन दर के अनुसार पौण्ड स्टलिंग का मूल्य 2.8 डालर से घटकर 2.4 डालर रह गया। ब्रिटेन ने जब 1949 में पहली बर पौण्ड स्टर्लिंग कर अवमूल्यन किया था तो उसके साथ भारत सहित 22 देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था। परन्तु इस बार भारत को पुन: यह मार्ग नहीं अपनाना पड़ा-।

7.10.4 डालर का अवमूल्यन

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् समस्त यूरोपीय देशों की दशा दयनीय हो गई किन्तु अमरीका आर्थिक एवं सैनिक दृष्टिकोण से सबसे शक्तिशाली था। विश्व का लगभग 65 प्रतिशत स्वर्ण अमरीका के पास था। इस प्रकार 'डालर सोना एक समान' माना जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की स्थापना के समय (1944 में) 35 डालर एक औंस स्वर्ण के बराबर निश्चित किया गया। यह भी तय हुआ कि अमरीका इसी दर पर सदैव डालर लेकर सोना देने को तैयार रहेगा। मुद्रा कोष की स्थापना के समय समस्त 'देशों की मुद्राओं की विनिमय दरें डालर में निर्धारित हुई। विश्व की इतनी शक्तिशाली मुद्रा का दिसम्बर 1971 से 12 फरवरी 1973 तक 14 महीने में दो बार अवमूल्यन हुआ और स्वर्ण का मूल्य प्रति औस 35 डालर से बढ़कर 42.22 डालर हो गया। डालर अवमूल्यन से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में अस्तव्यस्तता आ गई और विश्व में कोलाहल सा मच गया।

डालर के अवमूल्यन को अस्वीकार करते हुए डालर संकट पर नियंत्रण पाने के लिए एक आर्थिक नीति बनाई गई। इस नीति की प्रमुख घोषणा 15 अगस्त 1971 की रात्रि को प्रेसीडेंट निक्स्न द्वारा की गई। इस नीति की प्रमुख विशेषताएं प्रकार हैं -

1 आयातों पर 10 प्रतिशत अधिकर
2 विदेशी सहायता में 10 प्रतिशत की
3 शासकीय व्यय में भारी कटौती
4 देश में 90 दिन के लिए मूल्यन वृद्धि तथा मजदूरी पर प्रतिबंध

5 डालर का स्वर्ण में परिवर्तन समाप्त।

किन्तु उपरोक्त नीति के कारण गर्म अर्थव्यवस्था ठंडी न हो सकी। सितम्बर 1971 में 10 औद्योगिक देशों के वित्त मंत्रियों और केन्द्रीय बैंकों के प्रशासकों मंत्री एक सभा वाशिंगटन मैं हुई जिसमें कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये। इसकी घोषणा 19 दिसम्बर 1971 को की गई। इस निर्णय के अनुसार डालरी का मूल्य 7.9 प्रतिशत कम कर दिया गया और स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औंस से बढ़कर 38 डालर प्रति औंस हो गया। पुन: 14 महीने बाद 12 फरवरी 1973 में डालर का 10 प्रतिशत अवमूल्यन हुआ और स्वर्ण का मूल्य 42.22 डालर प्रति औंस हो गया।

7.11 अधिमूल्यन (Over-valuation)

स्वतंत्र बाजार में निर्धारित होने वाली साम्य विनिमय दर विनिमय-नियंत्रण का सहारा लेती है। मान लीजिए अमेरिका तथा भारत के बीच विनिमय दर 1 डालर = 8 रूपये से बदल कर 1 डालर = 9 रूपये हो जाती है तो हम यह कहेंगे कि डालर का अधिमूल्यन हुआ है क्योंकि पहले की अपेक्षा डालर की रूपये के सम्बन्ध में क्रय-शक्ति अब बढ़ गयी है। मुद्रा के अधिमूल्यन का प्रभाव यह होता है कि विदेशों में वस्तुएं खरीदना सस्ता हो जाता है जबकि विदेशी व्यापारियों द्वारा इस देश की वस्तुएं खरीदना महंगा हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा का अधिमूल्यन आयात को प्रोत्साहित तथा निर्यात को हतोत्साहित करता है। स्वतन्त्र विनिमय-बाजार में तो कोई भी मुद्रा अधिक समय तक अधिमूल्यन की स्थिति में नहीं रह सकती, परन्तु विनिमय-नियंत्रण द्वारा काफी समय तक इस स्थिति को बनाये रखा जा सकता है।

कोई देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन उस दशा में करता है जबकि विनिमय-बाजार को अनियंत्रित छोड़ देने पर राष्ट्रीय मुद्रा की पूर्ति मांग की अपेक्षा अधिक होने की सम्भावना होती है। मुख्यतः निम्नलिखित कारणों से अधिमूल्यन की आवश्यकता होती है

1. अधिमूल्यन की आवश्यकता उस देश को होती है जिसे अचानक विदेशों से बहुत अधिक खरीददारी करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, युद्धकाल में किसी देश के लिए निर्यात को बढ़ाना तो कठिन होता है परन्तु अन्य देशों से आयात की मांग बढ़ जाती है। युद्ध के बाद पुन: निर्माण के समय भी प्रायः इसी प्रकार की स्थिति पायी जाती है।
2. जब किसी देश को बहुत अधिक मात्रा में विदेशी मुद्रा में ऋण चुकाना होता है तथा ऋणों पर ब्याज का भुगतान करना होता है तो उसके लिए अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करना लाभपूर्ण होता है।
3. जब देश में मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियां सिर उठा रही हों तब भी मुद्रा का अधिमूल्यन करना उचित होता है। विदेशी व्यापार देश के कुल व्यापार का महत्वपूर्ण भाग होने की दिशा में अधिमूल्यन और अधिक प्रभावपूर्ण होता है।
4. अधिमूल्यन उस स्थिति में भी उचित होता है जब किसी देश का अधिकतर विदेशी व्यापार किसी एक अन्य देश के साथ रहता है और वह देश इस देश के निर्यातों पर बहुत अधिक निर्भर करता है। उदाहरणतः, पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का मूल्य 1949 में नहीं गिराया था जबकि स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि भारत जूट के आयात के लिए पाकिस्तान पर अत्यधिक

निर्भर था और पाकिस्तान अधिमूल्यन द्वारा भारत से जूट के निर्यात पर अधिक कीमत प्राप्त कर सकता था।

5. विकासशील देशों को योजनाएं पूरी करने के लिए प्रायः वर्षा तक अत्यधिक आयात करने पड़ते हैं। वे अधिमूल्यन के द्वारा अपनी मुद्रा में कम मूल्य चुकाकर आय प्राप्त कर सकते हैं।

   अधिमूल्यन के कभी-कभी गंभीर दुष्परिणाम भी हो सकते हैं। मुद्रा का अधिमूल्यन देश में कीमतों और लागतों को अन्य देशों की अपेक्षा बढ़ा देता है जिससे निर्यात कम हो जाते हैं तथा आयात बढ़ते हैं। इससे क्रमशः व्यापार-संतुलन प्रतिकूल हो जाता है। यह दशा मंदी के काल में, जबकि अर्थव्यवस्था पहले से ही निम्न स्तर पर होती है, अत्यन्त अवांछनीय है। साधारणतया युद्ध एवं 'अभाव के समय मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाता है, परन्तु मंदी के समय यह बहुत ही हानिकारक होता है। 1925 से 1931 के बीच इंग्लैण्ड तथा 1932 से 1936 के बीच फ्रान्स ने अधिमूल्यन के दुष्परिणामों को अनुभव किया था। क्राउथर के मतानुसार, "जिस देश की मुद्रा अधिमूल्यित होती है उसकी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एक प्रकार के क्रमशः बढ़ते हुए पक्षाघात की शिकार हो जाती है।

7.12 विनिमय-नियन्त्रण के दोष

विनिमय-नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य देश के असन्तुलित भुगतान को सन्तुलित करना होता है। एक नियोजित अर्थव्यवस्था में, जैसा कि पहले बताया गया है, विनिमय-नियंत्रण का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसकी सहायता से ही देश को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रभावों से बचाया जा सकता है और आन्तरिक अर्थव्यवस्था मे कीमतों में स्थिरता लायी जा सकती है। परन्तु जब सभी देशों में विनिमय-नियंत्रण प्रणाली अपनाने में एक होड़ की सी भावना उत्पन्न हो जाये तो नियंत्रण-व्यवस्था से अनेक हानियों की भी संभावना हो सकती है।

1. कठोर नियंत्रण-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होती है। अनेक देशों द्वारा नियंत्रण-व्यवस्था

   अपना लिये जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संकुचन होता है। विनिमय-नियंत्रण के परिणामस्वरूप आयातों में कमी देश के निर्यातों की मात्रा को भी प्रभावित करती है।
2. विनिमय-नियंत्रण के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों में कमी हो जाती है क्योंकि इससे बहुपक्षीय व्यापार तथा मुद्राओं की परिवर्तनशीलता की लाभदायक प्रथा के स्थान पर द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों तथा मुद्रा की अपरिवर्तनशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।
3. प्रतिबंधों के द्वारा आयातों के भुगतान स्थगित करने पर देश में मुद्रा-प्रसार की सम्भावना बढ़ती है। मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति में कमी होती है जिसका परिणाम यह होता है कि साम्य विनिमय-दर अधिमूल्यत विनिमय-दर में परिवर्तित हो जाती है।
4. विनिमय-नियंत्रण भ्रष्टाचार तथा चोरबाजारी को प्रोत्साहित करता है।
5. विनिमय-नियंत्रण प्रणाली एक अत्यन्त खर्चीली प्रणाली होती है, क्योंकि इसे लागू करने के लिए बड़े पैमाने पर नौकरशाही की आवश्यकता पड़ती है।

6. ऐल्सवर्थ के अनुसार, "यह (विनिमय-नियंत्रण) घाटे का समाधान करता है, न कि उसके कारणों का; और यह उन कारणों को बढ़ा देता है जो आधारभूत असंतुलन को जन्म देने वाली प्रवृति दर्शाते हैं।

7.13 विनिमय-नियंत्रण की रीतियाँ

विदेशी विनिमय की मांग तथा पूर्ति को नियंत्रित करने के अनेक तरीके हैं। पॉल ऐंजिग ने विनिमय-नियंत्रण की 41 रीतियों की विवेचना की है। इनमें से प्रमुख रीतियों के अध्ययन के लिए इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है -

1. **एकपक्षीय रीतियां (Unilateral Method) -** इनसे तात्पर्य उन प्रणालियों से है जिन्हें कोई भी देश अपने स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए बिना अन्य देशों से कोई समझौता किये अथवा अन्य देशों पर पढ़ने वाले प्रभावों की ओर ध्यान दिये, अपनाता है। बैंक-दर का नियमन, विदेशी व्यापार का नियमन, विनिमय उद्बन्धन, अवरूद्ध खाता, विदेशी विनिमय राशनिंग आदि इसी प्रकार की रीतियां हैं।
2. **द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय रीतियां (Bilateral or Multi-latral Methods) -** इन्हें दो अथवा अधिक देश पारस्परिक समझौतों के द्वारा अपनाते हैं, और इनके द्वारा ये अपने हितों की पूर्ति करना चाहते है। समाशोधन समझौते, भुगतान समझौते, विलम्बकाल हस्तांतरण तथा यथास्थिर समझौते आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।
3. **विनिमय-नियंत्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ :** प्रत्यक्ष विनिमय-नियंत्रण की रीतियां दो प्रकार की होती हैं - 1-हस्तक्षेप intervation), तथा 2. विनिमय-प्रतिबंध (exchange restriction) विनिमय-प्रतिबंध के अन्तर्गत सरकार विदेशी मुद्रा कई। मांग तथा पूर्ति पर प्रतिबंध लगाकर निजी व्यापारियों की विदेशी विनिमय के इच्छानुसार क्रय-विक्रय की स्वतंत्रता समाप्त कर देती है। इसके विपरीत, हस्तक्षेप की नीति के अन्तर्गत व्यापारियों की विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की स्वतंत्रता समाप्त किये बिना सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की दर घोषित करती है तथा स्वयं विनिमय-बाजार में क्रय-विक्रय करके मांग तथा पूर्ति को प्रभावित करती है। इस प्रकार इन तरीकों में मुख्य अन्तर यह है कि एक में विनिमय-बाजार में मुक्त प्रवेश पर नियंत्रण रहता है जबकि दूसरे में विनिमय-बाजार सबके लिए खुला रहता है। किन्तु इसमें एक तत्व कृत्रिम रख दिया जाता है। एक में विदेशी मुद्रा के लेन-देन में कमी हो जाती है, दूसरे में वृद्धि होती है। इन दोनों रीतियों से सरकार विनिमय-नियंत्रण करती है, परन्तु उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों के अन्तर्गत अलग-अलग तरीके अपनाये जाते हैं।

7.14 सारांश

विनिमय नियंत्रण के लिए मुद्रा का अवमूल्यन व अधिमूल्यन किया जाता है। विनिमय नियंत्रण की नीति के अन्तर्गत एक ओर विदेशी यात्रियों, व्यापारियों तथा विनियोजकों के लिए काफी उदारता अपनायी जाती है तो दूसरी ओर, अन्य देशों के व्यापारियों तथा यात्रियों के द्वारा किये जाने वाले विदेशी भुगतानों पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जाता है ताकि विदेशी विनिमय की प्राप्तियों

में वृद्धि तथा भुगतानों में कमी हो और देश की भुगतान-संतुलन की स्थिति अधिक प्रतिकूल न होने पाये।

विनिमय-नियंत्रण का अभिप्राय सरकार द्वारा अपनाये गये ऐसे उपायों से हैं जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय-बाजार को नियंत्रित करके विनिमय-दर को प्रभावित करना होता है। मुद्राशास्त्रियों ने 'विनिमय-नियंत्रण' शब्द का प्रयोग विस्तृत तथा संकुचित दोनों ही अर्थों में किया है। विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय-बाजार में किये गये सरकारी हस्तक्षेप को विनिमय नियंत्रण कहा जा सकता है। प्रो. हैबरलर के शब्दों में "विनिमय-नियंत्रण उस सरकारी हस्तक्षेप को कहते हैं जो विदेशी विनिमय-बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करने देता।" पाल ऐंजिग (Paul Einzig) के अनुसार, "विनिमय-नियंत्रण का अभिप्राय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है जो विनिमय-दरों या उनसे संबंधित बाजारों को प्रभावित करने के लिए किये जाते हैं।'' हीलपेरिन (Heilperin) के अनुसार, "विनिमय-नियंत्रण वह व्यवस्था है जिसमें विदेशी विनिमय संबंधी प्रत्येक व्यवसाय पर सरकार का अधिकार होता है।

7.15 शब्दावली

अवमूल्यन देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करना होता है।

अधिमूल्यन में मुद्रा के बाह्य मूल्य को बढ़ा दिया जाता है ताकि क्रय शक्ति को बढ़ाया जा सके।

विनिमय नियंत्रण वह व्यवस्था होती है जिसमें विदेशी विनिमय संबंधी प्रत्येक व्यवसाय पर सरकार का अधिकार होता है।

7.16 स्वपरख प्रश्न

1. किसी देश के भुगतान संतुलन पर अवमूल्यन के प्रभावों की व्याख्या कीजिए। इस संदर्भ में मार्शल-लर्नर शर्त तथा व्यय शोषित दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए।
2. मुद्रा अवमूल्यन का क्या आशय है? किन दशाओं में अवमूल्यन किसी देश के भुगतान शेष में असाम्यता को दूर करने में सहायक होता है?
3. अवमूल्यन के सिद्धान्त क्या है?
4. भुगतान संतुलन में घाटा सुधारने की विधियों को बताइये।
5. अधिमूल्यन किसे कहते हैं? यह देश के लिए आवश्यक क्यों होता है? स्पष्ट कीजिए।
6. विनिमय नियंत्रण की रीतियों पर प्रकाश डालिए।
7. "अधिमूल्यन देश के लिए किन कारणों में हितकारी होता है?" व्याख्या कीजिए।
8. अवमूल्यन व अधिमूल्यन के सिद्धान्त संक्षेप में बताइये।

7.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

1 मुद्रा बैंकिंग एवम् अंतर्राष्ट्रीय व्यापार - टी.टी. सेठी

2 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवम् वित्त - जे.के. टंडन, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।

3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - एम.सी. वैश्य, सुदाम सिंह।

4 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - वी.सी. सिन्हा।

5 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - एम.एल. झिंगन।

इकाई - 8 : विदेशी विनिमय
(Foreign Exchange)

इकाई की रूपरेखा -

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 विदेशी विनिमय का अर्थ

8.3 विदेशी विनिमय की कार्यसम्पदा

8.4 विदेशी विनिमय की समस्या के कारण

8.5 विदेशी विनिमय दर का अर्थ एवं परिभाषायें

8.6 विनिमय दर के प्रकार

8.7 विनिमय दर की कौनसी प्रणाली श्रेष्ठ है ?

8.8 विनिमय दर निर्धारण

8.9 विदेशी विनिमय बाजार: मुख्य प्रवृत्तियाँ

8.10 विनिमय दर का जोखिम

8.11 सारांश

8.12 शब्दावली

8.13 स्वपरख प्रश्न

8.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् समझ सकेंगे कि

- विदेशी विनिमय क्या है?
- विदेशी विनिमय क आवश्यकता क्यों होती है?
- विनिमय दर क्या है तथा या? कितने प्रकार की होती है?
- विदेशी विनिमय की जोखिमों तथा उनसे बचने की प्रक्रिया से भी परिचित हो सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

एक देश की सीमाओं के भीतर एक ही मुद्रा चलन में होती है, किन्तु विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न मुद्रा चलन में होती है। एक देश की मुद्रा अन्य देशों में विधि ग्राह्य नहीं होती है इसलिए उसे दूसरी मुद्रा में एक निश्चित दर में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न मुद्राओं के चलन में रहने के कारण ही विदेशी विनिमय निर्धारण की समस्या उठ खड़ी हुई है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अधीन एक देश को भुगतान उस देश की मुद्रा में करता है। विदेशी विनिमय के द्वारा एक देश दूसरे देश को भुगतान करता है। विदेशी विनिमय

बाजार वह स्थान है जहाँ विदेशी मुद्रायें क्रय-विक्रय की जाती हैं। साधारण बोलचाल की भाषा में अन्य देशों की मुद्राओं को विदेशी विनिमय के अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

8.2 विदेशी विनिमय का अर्थ

विदेशी विनिमय का अर्थ सरल शब्दों में अन्य देशों की मुद्राओं से लिया जाता है, किन्तु विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है -

1. अन्य देशों की मुद्राओं को विदेशी विनिमय के अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।
2. विदेशी विनिमय के अर्थ में कई भुगतान कुछ स्थितियों में चैक, ड्राफ्ट, फैक्स तथा टेलीग्राफ द्वारा भी किये जाते है तथा इन सुविधाओं की सेवायें बैंक द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।

विदेशी विनिमय शब्द प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है विस्तृत अर्थ में तथा संकुचित अर्थ में - विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय से अभिप्राय उन समस्त क्रियाओं एवं विधियों से लिया जाता है जिनके द्वारा दो या दो से अधिक देशों के व्यवसायी अपने व्यावसायिक दायित्वों का भुगतान करते हैं। विदेशी विनिमय के विस्तृत अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये अधिकृत अभिमत तथा परिभाषायें दी जा रही है :

हार्टले विदर्स : "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के परिवर्तन की कला और विज्ञान है।"

डॉ पोल : "विदेशी विनिमय एक प्रणाली है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रायें परिवर्तित की जाती है तथा मुद्राओं का हस्तान्तरण एक देश से दूसरे देश में किया जाता है।"

ब्रिटानिका : "विदेशी विनिमय वह प्रणाली है जिसके द्वारा व्यापारिक राष्ट्र पारस्परिक ऋणों का भुगतान करते हैं।"

एन्के व सलेरा : "विदेशी विनिमय एक सामूहिक शब्दावली है जिसमें विदेशी मुद्रा में व्यक्त सभी प्रकार के विनिमय साध्य दावों अथवा दायित्वों को सम्मिलित किया जाता है।

अत: उपर्युक्त अभिमतों के आधार पर कह सकते है कि विदेशी विनिमय विस्तृत अर्थ में, वे सभी संस्थायें जो विदेशी भुगतानों में सहायता करती है, वे सभी विधियाँ जिनके द्वारा विदेशी भुगतान किये जाते हैं तथा वह दर जिसके आधार पर विदेशी भुगतान किये जाते हैं, सम्मिलित होते हैं। संकुचित अर्थ में विदेशी विनिमय का अर्थ तीन प्रकार से लगाया जाता है :

(i) विदेशी मुद्राओं के रूप में
(ii) विदेशी विनिमय दर के रूप में
(iii) विदेशी भुगतानों के रूप में

विदेशी मुद्राओं के रूप में - सामान्यत: विदेशी विनिमय का अर्थ प्रायः विदेशी मुद्राओं में ही लगाया जाता है। बैंक विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय कर रहे हैं, तब इसका अर्थ विदेशी मुद्राओं से ही होता है। उदाहरणार्थ: इस अर्थ के अनुसार भारत के लिये अन्य देशों की मुद्रायें विदेशी विनिमय है।

विदेशी विनिमय दर के रूप में - जिस दर पर एक देश की मुद्रा किसी दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित की जाती । परिणामस्वरूप जब यह कहा जाता है कि विनिमय दर किसी देश के पक्ष या विपक्ष में है, तब इसका अभिप्राय विदेशी विनिमय दर से होता है।

विदेशी भुगतानों के रूप में - कभी-कभी विदेशी विनिमय का प्रयोग उन सुविधाओं के लिये भी किया जाता है जो विदेशी भुगतानों से सम्बन्धित होती है। उदाहरणार्थ : वस्तुओं एवम् सेवाओं का आयात-निर्यात।

उपर्युक्त अभिमतों एवं परिभाषाओं के आधार पर विदेशी विनिमय को निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है -

(i) विदेशी विनिमय दर के रूप में

(ii) विदेशी विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्त के रूप में

(iii) विदेशी विनिमय कोषों के रूप में

(iv) विदेशी भुगतान के रूप में

(v) विदेशी विनिमय प्रणाली के रूप में

8.3 विदेशी विनिमय की कार्यसम्पदा

विदेशी विनिमय की कार्यसम्पदा (Foreign Exchange Transction)

हर प्रकार की सेवायें एवम् वस्तु के हस्तान्तरण पर मुद्रा का हस्तान्तरण किया जाता है जिसे निम्न द्वारा स्पष्ट किया गया है :

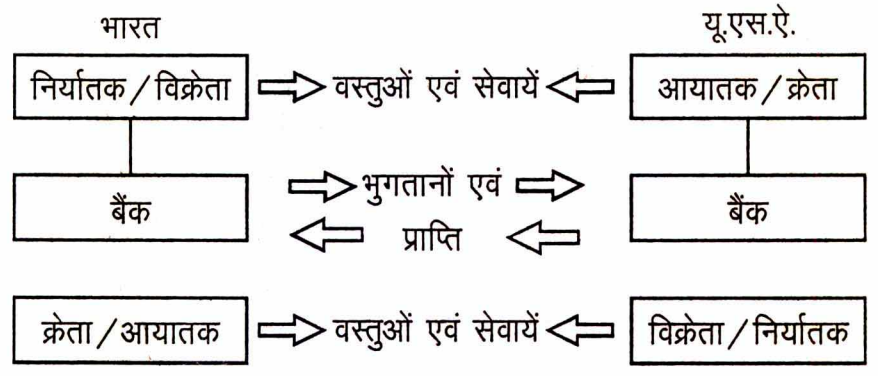

उपर्युक्त कार्यसम्पदा के कुछ नियम निम्न प्रकार से हैं.

(i) नियमानुसार मुद्राओं का भुगतान द्रव्य रूप में नहीं किया जा सकता है।

(ii) मुद्राओं का हस्तान्तरण, बैंक द्वारा किया जाना ही सम्मव है।

(iii) बैंक इनके बीच सुविधायें उपलब्ध कराता है।

(iv) अगर किसी परिस्थिति में बैंक सुविधा उपलब्ध कराने में सक्षम ना हो तो उसकी मुद्रा के मूल्य के बराबर अपने देश की मुद्रा में कर सकता है।

उदाहरणार्थ : 1 Rs = 4 Pains

माना भारत ने इंग्लैण्ड से 16 Pains की वस्तु क्रय की है तो उसे 4 Rs का भुगतान करना होगा।

8.4 विदेशी विनिमय की समस्या के कारण

विदेशी विनिमय की समस्या के कारण

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त की सबसे बड़ी समस्या विदेशी विनिमय से सम्बन्धित है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार एवं विकास विदेशी विनिमय की सहज उपलब्धि और विदेशी

विनिमय दरों के स्थायित्व पर निर्भर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतना प्रणाली निर्बाध रूप से कार्य करती रहे, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से बढ़ता रहता है, लेकिन विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न मुद्रा व्यवस्था व मुद्रामानों के प्रचलन के कारण विदेशी विनिमय की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। विदेशी विनिमय की समस्या के उपस्थित होने के निम्नांकित कारण है :

विश्व के विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मुद्राएँ चलन में हैं और जिनका नाम, आकार, रूप, रंग, माप और मूल्य सब एक दूसरे से भिन्न हैं। मुद्राओं की इन विभिन्नताओं के कारण ही एक देश की मुद्रा अन्य देशों में विनिमय के माध्यम और मूल्य के मापक रूप में मान्य नहीं होती है। इनकी निर्गमन व्यवस्था भी अलग-अलग सिद्धान्तों एवं विधियों पर आधारित होती है। अत: विदेशी विनिमय की समस्या का सबसे -बड़ा कारण एक देश की मुद्रा को अन्य देशों में मान्यता न मिलना अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति का अभाव होना है।

विभिन्न मुद्राओं के आपसी विनिमय अनुपात को विनिमय दर कहते हैं। विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न होने का दूसरा प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दरें निरन्तर बदलती रहती हैं जिनके कारण इनमें स्थायित्व का अभाव पाया जाता है। विनिमय दरों की निरन्तर परिवर्तनशील प्रवृति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए विदेशी विनिमय के सौदे स्वतंत्र और निर्बाध रूप से नहीं हो पाते, फलस्वरूप आयात-निर्यात व्यवहार जोखिमपूर्ण हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में विभिन्न मुद्राओं की माँग एवं पूर्ति में असन्तुलन पाया है। कुछ मुद्राओं की माँग उनकी पूर्ति से कहीं अधिक होती है। ऐसी मुद्राओं को 'दुर्लभ मुद्राएँ' (Hard Currencies) कहा जाता है। जबकि ठीक इसके विपरीत विकासशील राष्ट्रों की मुद्राओं की पूर्ति उनकी माँग से अधिक होती है। इन्हें 'सुलभ मुद्राएँ (Soft Currencies) कहा जाता है। 'दुर्लभ मुद्राओं का माँग आधिक्य विदेशी विनिमय की समस्या को न केवल जन्म देता है, वरन उसे विकट भी बना देता है।

वस्तुओं और सेवाओं के आयात-निर्यात तथा अन्य हस्तान्तरणों के भुगतान हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्व-स्वीकृत साधन की समस्या है। एक देश दूसरे देश की 'सुलभ मुद्रा' को भुगतान में स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में भुगतान या तो वस्तु में किया जाये अथवा स्वर्ण में। इन दोनों स्थितियों में वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन और स्वर्ण का अभाव तथा उसके प्रति आकर्षण. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान प्रणाली को बहुपक्षीय और दीर्घकालिक बनाये रखने में बाधा उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए विदेशी मुद्राओं का ही प्रयोग करना पड़ता है?। विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय अनेक समस्याओं और जोखिमों से परिपूर्ण है।

विदेशी विनिमय भुगतान के साधन के रूप में प्रयुक्त किये जाने के कारण सरकारी नियन्त्रण के अधीन होता है। अत: इसकी व्यवस्था करने में अनेक औपचारिकताएँ एवं जटिलताएँ होती है। यद्यपि बैंकों के माध्यम से भुगतानों का हस्तान्तरण किया जाता है, किन्तु फिर भी इसमें अनेक प्रकार की समस्याएँ तथा जोखिम में सन्निहित होती हैं।

8.5 विदेशी विनिमय दर का अर्थ एवं परिभाषायें

विदेशी विनिमय दर का अर्थ एवं परिभाषायें

विदेशी विनिमय दर अथवा विनिमय दर वह दर होती है जिस पर एक करेंसी को दूसरी करेंसी से विनिमय किया जाता है यह दर एक करेंसी में दूसरी करेंसी की कीमत होता है। इसे व्यक्त करने का प्रचलित तरीका यह है कि घरेलू करेंसी के रूप में विदेशी करेंसी के एक इकाई की कीमत।

वह दर जिस पर दो देशों की करेंसी के मध्य विनिमय होता है विदेशी विनिमय दर का मापन एक दी हुई करेंसी की इकाइयों द्वारा होता है जिसका विनिमय किसी दूसरी करेंसी की एक इकाई के लिए किया जाता है। संक्षेप में विदेशी विनिमय बाजार में एक देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले किसी अन्य देश की मुद्रा की माप विनिमय दर के द्वारा की जानी सम्भव है विदेशी विनिमय दर की कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी परिभाषायें निम्न प्रकार हैं :-

क्राउथर - ''विनिमय दर विदेशी विनिमय बाजार में एक देश की मुद्रा इकाई के बदले दूसरे देश की मुद्रा इकाइयों की संख्या को मापती है।''

थॉमस - ''किसी समय विशेष पर एक मुद्रा इकाई की दूसरी मुद्रा इकाई से कीमत ही दो मुद्राओं की विनिमय दर कहलाती हैं।''

हेन्स - ''विनिमय दर एक मुद्रा की दूसरी मुद्रा में व्यक्त की गयी कीमत है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं का वह आपसी विनिमय अनुपात है जिस पर उन्हें एक दूसरे में बदला जा सकता है।

किसी देश की विदेशी विनिमय दर को निम्नांकित दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

1. प्रत्यक्ष विनिमय दर - जब स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले अन्य देशों की मुद्रा इकाइयों को व्यक्त किया जाता है तो ऐसी विनिमय दर प्रत्यक्ष विनिमय दर कहलाती है। उदाहरण - भारत का 1 रूपया इंग्लैण्ड के 4 पेन्स के बराबर है।

   1 Rs = 4 Pains

2. अप्रत्यक्ष विनिमय दर (Indirect Exchange) - जब किसी विदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले में स्वदेशी मुद्रा की इकाइयों को व्यक्त किया जाता है कि विनिमय दर को अप्रत्यक्ष विनिमय दर कहा जाता है उदाहरण: 1 Dollor = 48 Rs

8.6 विनिमय दर के प्रकार

1. **स्थिर विनिमय दरें :-** जब एक देश अपनी मुद्रा का मूल्य दूसरे देशों की मुद्रा में निश्चित कर देता है तथा वह इसे स्थिर बनाये रखता है, तो इसे स्थिर विनिमय दर कहा जाता है। अन्य शब्दों में जब देश की मुद्रा की विनिमय दर पूर्व निर्धारित अथवा घोषित बिन्दुओं पर स्थिर बनाये रखी जाती है, तो इसे स्थायी विनिमय दर कहा जाता है। स्थिर विनिमय दर में बाजार की मांग एवं पूर्ति की शक्तियों में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तन नहीं होने दिया जाता है। स्थिर विनिमय दरों की व्यवस्था विश्व में केवल दो बार व्यवहार में लागू रही है।
   1. **स्वर्णमान काल -** इस काल में स्थिर विनिमय दरें टकसाली समता (Mint Par) सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होती थी और उनमें परिवर्तन की सीमाएँ 'उच्च स्वर्ण बिन्दु तथा निम्न

'स्वर्ण बिन्दु' द्वारा निर्धारित होती थी। यह व्यवस्था स्वर्णमान पतन के साथ ही समाप्त हो गयी।

2. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व्यवस्था :-** 1945 में मुद्रा कोष की स्थापना के बाद स्थिर विनिमय दर व्यवस्था लागू की गयी। इसके अन्तर्गत सदस्य देशों द्वारा अपनी अपनी मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण या डॉलर में घोषित करना आवश्यक था जिसके आधार पर उनकी मुद्राओं का समता मूल्य निश्चित किया गया। मुद्रा कोष व्यवस्था के अन्तर्गत प्रारम्भ में इन स्थिर विनिमय दरों में परिवर्तन की सीमाएँ 1 प्रतिशत रखी गयी जिसे जनवरी,1972 में बढ़ाकर 2.25 प्रतिशत कर दी गयी। इन सीमाओं के भीतर स्थिर विनिमय दरों में मुद्रा कोष की पूर्व अनुमति से परिवर्तन हो सकता था इसलिए इस व्यवस्था को समायोजनीय सीमा प्रणाली (Adjustable Peg System) का नाम दिया गया। यह व्यवस्था डॉलर के दूसरी बार अवमूल्यन के पश्चात समाप्त हो गयी।

स्थिर विनिमय दरों के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं -

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि
2. पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन
3. विदेशी पूंजी का आकर्षण
4. भुगतान सन्तुलन बनाए रखने में सहायक
5. आर्थिक स्थिरता में सहायक
6. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि
7. मुद्रा की विश्वसनीयता
8. सट्टे की प्रवृत्ति पर अंकुश

निश्चित अथवा स्थिर विनिमय दरों के विपक्ष में निम्नांकित तर्क दिये जाते है :

1. प्रतिबन्धित तथा नियन्त्रित प्रबन्ध व्यवस्था।
2. व्यापक प्रतिबन्ध।
3. आर्थिक विकास में बाधा।
4. पूर्ण रोजगार में बाधक।
5. संचालन सम्बन्धी कठिनाइयाँ
6. राष्ट्रीय हितों की अवहेलना।
7. तस्करी तथा अन्य अनैतिक व्यापार व्यवहार को प्रोत्साहन
8. मौद्रिक नीति की सफलता में सन्देह।

2. **लोचदार विनिमय दर :** जब दो या दो से अधिक मुद्राओं के बीच विनिमय दरों का निर्धारण बाजार की शक्तियों के आधार पर स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है तो इन्हें परिवर्तनशील विनिमय दरें या तैरती हुई विनिमय दरें कहा जाता है। परिवर्तन शील विनिमय दरें बाजार में मांग और पूर्ति की शक्तियों में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है।

लोचदार विनिमय दरें की व्यवस्था जो प्रचलन में रही वह इस प्रकार है :

1. **1914 से 1925 तक का काल :** प्रथम विश्व युद्ध के कारण उत्पन्न विषम परिस्थितियों के कारण सर्वप्रथम परिवर्तनशील विनिमय दर व्यवस्था विश्व में 1914 से 1925 तक प्रचलन में रही।
2. **1991 से 1945 तक का काल -** तीसा की महान मन्दी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा और स्थिर विनिमय दरों के स्थान पर परिवर्तनशील विनिमय दरों को अपनाया गया। 1945 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना तक परिवर्तनशील विनिमय दरों का प्रचलन रहा।
3. **1974 से लगातार :-** 1973 में डॉलर का दुबारा अवमूल्यन और 1974 में येन के अवमूल्यन के बाद से लेकर अब तक विश्व व्यवस्था में परिवर्तनशील विनिमय दरें ही प्रचलन में रही हैं।

लोचदार विनिमय दरों के पक्ष में निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

1. वास्तविक स्थिति की सूचक।
2. भुगतान सन्तुलन का नियन्त्रक।
3. सट्टे की क्रियाओं में कमी।
4. स्वतन्त्र विश्व व्यापार सम्भव।
5. सस्ती लागत।
6. मौद्रिक क्षेत्र का सुदृढ़ीकरण
7. अवमूल्यनों से मुक्ति।
8. स्वयं समायोजनीय।
9. अन्तर्राष्ट्रीय साख में वृद्धि।
10. मूल्यों में अनिश्चितता का भय निराधार।

लोचदार दरों के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

1. अविश्वसनीय।
2. वित्तीय साधनों की बर्बादी।
3. विदेशी व्यापार को धक्का।
4. विकासशील देशों के विकास में बाधा।
5. मुद्रा बाजार पर बुरा प्रभाव।
6. आर्थिक अस्थिरता।
7. सट्टे को बढ़ावा।

लोचदार विनिमय दरों के स्वरूप : निश्चित विनिमय दर प्रणाली की असफलताओं के कारण यह मत व्यक्त किया गया कि विनिमय दर प्रणाली को अधिक स्वचालित एवं लोचदार बनाया जाना चाहिए। अत: लोचदार विनिमय दरों के निम्नलिखित स्वरूपों को सुझाया गया है।

1. **क्षेत्रीय प्रस्ताव (Band Proposals)** कुछ लोगों का मत है कि मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत दरों में उतार चढ़ाव की सीमा बढ़ा देनी चाहिए।
2. **मुक्त लोचदार दरें (Free Flexible Rates) -** एक सुझाव यह भी है कि सरकार विनिमय दरों को स्वतन्त्र छोड़ दें। उनमें कोई हस्तक्षेप न करें।

3. **खिसकता बिन्दु (Crawling Peg) -** उच विलियमसन ने क्षेत्रीय परिवर्तन तथा मुक्ता लोचदार दरों के मध्य में 'खिसकता बिन्दु' प्रणाली का सुझाव दिया है, इसके अनुसार विनिमय दर निश्चित तो की जाती है, परन्तु इसे खिसकने की अनुमति होती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पत्रिका "Finance and Development" में जून, 1 977 में प्रकाशित रोबर्ट हैलर ने लोचदार विनिमय दरों को दो श्रेणियों में रखा है। प्रथम श्रेणी स्वतन्त्र दर द्वितीय श्रेणी अधिकीलन दर।

3. **स्वतन्त्र दर :-** इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी देश द्वारा अपनी मुद्रा की विनिमय दर को किसी भी बाहरी मूल्य जैसे किसी देश की मुद्रा या मुद्रा समूहों या विशेष आहरण अधिकार (SDRS) से सम्बद्ध नहीं रखा जाता है। स्वतन्त्र दरों के तीन स्वरूप हो सकते है।

   (i) **स्वतन्त्र चलायमान दरें :** इस प्रणाली में कोई देश अपनी मुद्रा के मूल्यों में अन्य देशों की मुद्राओं के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों को किसी भी सीमा तक होने देने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है। उस देश की मुद्रा का विनिमय मूल्य स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होता है।

   (ii) **समूह चलायमान :** एक समान अर्थव्यवस्था वाले अथवा परस्पर निर्भर देश या पडोसी देश अपनी मुद्राओं का समूह बना लेने का जब समझौता कर लेते हैं, तो इस समूह की मुद्राओं की आपसी विनिमय दरें एक सीमित सीमा में परिवर्तित होने दी जाती हैं। अन्य देशों की मुद्राओं के साथ में अपनी मुद्रायें स्वतन्त्र चलायमान रखने को स्वतन्त्र होते हैं।

   (iii) **खिसकता बिन्दु :** विनिमय दर का यह स्वरूप वह स्वरूप होता है जिसमें किसी देश की विनिमय दर मांग व पूर्ति के अनुसार बदलती रहती है। इस प्रणाली में सरकार द्वारा कोई सीमा या स्थान निर्धारित नहीं किया जाता है।

4. **अधिकीलन दर :-** एक देश अपनी मुद्रा की विनिमय दर को किसी एक देश या अन्य देशों की मुद्रा के मूल्यों से सम्बद्ध कर सकता है। इसे अधिकीलन अथवा स्थिरीकरण कहते हैं। इसके दो स्वरूप हो सकते है-

   (i) **एकल मुद्रा अधिकीलन :** जब कोई देश अपनी मुद्रा के विनिमय मूल्य को किसी प्रभावी तथा प्रमुख देश की मुद्रा के साथ सम्बद्ध कर देता है, तो इसे एक मुद्रा प्रणाली कहते हैं।

   (ii) **टोकरी अधिकीलन :** जब किसी देश द्वारा अपनी मुद्रा का विनिमय मूल्य किसी देश विशेष की मुद्रा के मूल्य से सम्बद्ध न करके कुछ देशों की मुद्राओं के समूह-मूल्यों से सम्बद्ध करता है, तो इस प्रणाली को टोकरी या समूह अधिकीलन कहते हैं।

5. **अनुकूल विनिमय दर :-** जब किसी देश की मुद्रा का मूल्य अन्य मुद्रा के मूल्य की तुलना में बढ़ने लगता है अर्थात् जब स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले विदेशी मुद्रा पहले से अधिक मात्रा में मिलने लगे तो विनिमय दर देश के अनुकूल होती हैं। उदाहरणार्थ : माना कि

   $ 1 = 40

   $ अगर 1 = 42 = प्रतिकूल

   अवस्था भारत के लिए

   $1 = 38 = अनुकूल अवस्था भारत के लिए

6. **प्रतिकूल विनिमय दर -** जब किसी देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले देश की मुद्रा की पहले से अधिक इकाईयाँ देनी पड़े तो विनिमय दर देश के प्रतिकूल होगी।

   उदाहरणार्थ :- माना कि 1 Rs = 50 Cent

   अगर 1 Rs = 40 Cent

   अनुकूल अवस्था भारत के लिए

   और 1 Rs = 40 Cent

   प्रतिकूल अवस्था भारत के लिए

7. **क्रय एवं विक्रय विनिमय दरें :-** जिस दर पर विदेशी विनिमय बैंकों तथा व्यवसायिकों द्वारा विदेशी मुद्रा क्रय की जाती है उसे क्रय विनिमय दर कहते है तथा जिस दर पर विदेशी मुद्रा बेची जाता है उसे विक्रय विनिमय पर कहते हैं।

   उदाहरणार्थ :- 1 $ =42.27 Rs (क्रय दर)

   1 $ = 42.69 Rs (विक्रय दर)

   तो विदेशी विनिमय बैंक का लाभ क्रय एवं विक्रय दरों के अन्तर के समतुल्य (0.42 $ Per $) होगा।

8. **एकल दर और गुणक विनिमय दर :** जब सरकार दूसरे देशों की मुद्रा के लिये एक दर निर्धारित करती है तो वह एकल विनिमय दर कहलाती है गुणक विनिमय दर जब सरकार दूसरे देश की मुद्रा के लिए अलग-अलग दर निर्धारित करती है आयात, निर्यात तथा पर्यटक के लिए तो उसे गुणक विनिमय दर कहते है ।

9. **तत्काल एवं अग्रिम विनिमय दर :** तत्काल विनिमय दर वह विनिमय दर होती है जिस पर मुद्राओं का विनिमय उसी समय अथवा उसी दिन हो जाता है, जिस समय दर उद्धत की गयी है, जबकि अग्रिम विनिमय दर वह दर होती है जो भविष्य के किसी समय के लिए वर्तमान में निश्चित की गयी हो। पॉल एन्जिग के शब्दों में, ''अग्रिम विनिमय दर वह वास्तविक दर है जो भविष्य में विनिमय खरीदने और बेचने के लिए तय की जाती है।"

अग्रिम विनिमय दर के निम्नांकित लाभ हैं :

1. जोखिम से सुरक्षा
2. विनियोक्ताओं को लाभ
3. ऋणी व ऋणदाता को लाभ
4. विनिमय व्यवहारियों को लाभ
5. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन
6. विनिमय दरों में स्थायित्व
7. आर्थिक विकास में वृद्धि
8. रोजगार में वृद्धि

अग्रिम विनिमय दर प्रणाली में निम्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है :

1. विनिमय दर निर्धारण की समस्या

2. सट्टेबाजी को प्रोत्साहन
3. हानि का सम्भावना
4. लागत में वृद्धि
5. विनिमय नियन्त्रण
6. सभी मुद्राओं में सौदे न होना।
7. सफलता की शर्तें पूरा न होना।

10. अधिकृत एवं गैर-अधिकृत विनिमय दरें : जब विदेशी विनिमय के सौदे सरकार द्वारा निर्धारित अथवा घोषित दरों पर किये जाते हैं तो ये विनिमय दरें अधिकृत विदेशी विनिमय दरें कहलाती हैं। जब सरकार द्वारा घोषित अधिकृत दरों से कम या अधिक दरों पर विदेशी विनिमय के सौदे किये जाते हैं, तो ऐसी विनिमय दरें को गैर अधिकृत विनिमय दरों की संज्ञा दी जाती है।

8.7 विनिमय दर की कौनसी प्रणाली श्रेष्ठ है?

भिन्न-भिन्न देशों के लिये अलग-अलग विनिमय दर श्रेष्ठ होती है। कोई देश अपनी मुद्रा के लिये निश्चित विनिमय दर, चलायमान विनिमय दर या इसके किस स्वरूप को अपनाये यह उसके लिये एक अति महत्वपूर्ण आर्थिक निर्णय होगा। उस देश के इस निर्णय को प्रमुख रूप से निम्न तत्व प्रभावित करते हैं

1. अधिक विदेशी व्यापार होने पर विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन आन्तरिक मूल्य स्तर को अधिक प्रभावित करते हैं। इसलिये विदेशी व्यापार का कुल राष्ट्रीय उत्पादन से अनुपात निकालना आवश्यक होता है
2. देश का आकार भी विनिमय दर को प्रभावित करता है इसलिये बड़े-बड़े देश पूर्णत : लचीली विनिमय दरों को अनुकूल मानते है जबकि छोटे-छोटे देश निश्चित अधिकीलन विनिमय दर को अनुकूल मानते हैं।
3. जब देश का व्यापार अन्य देशों के साथ कुछ ही वस्तुओं तक सीमित होता है, तो उसके लिये निश्चित अधिकालीन दर अनुकूल होती है तथा विलोमशः।
4. मुद्रा स्फीति की दर भिन्न-भिन्न देश एक समान रखते है तो निश्चित विनिमय दर अनुकूल रहती है अगर मुद्रा स्फीति की दर भिन्न-भिन्न है, तो यह प्रणाली नहीं चलायी जा सकती है।
5. जिन देशों में पूँजी का आवागमन अधिक होता है। ऐसे देशों के लिये लचीली विनिमय दरें ही अधिक लाभकारी होती है।
6. आर्थिक तत्वों के अतिरिक्त आपसी सांस्कृतिक व राजनीतिक सम्बन्धों तथा बाजार में प्रचलित परम्परागत तत्वों का भी विनिमय दरों पर भारी प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार यह निर्णय लेना कठिन है कि किस देश के लिये कौन-सी विनिमय दर अधिक लाभकारी रहेगी परन्तु पिछले कुछ वर्षो में जो घटनायें घटी हैं, जैसे पौंड संकट (1967) स्वर्ण संकट (1968) फैंक संकट (1969), मार्क का पुनर्मूल्य (1969,17,73) डॉलर संकट (1971)

स्टर्लिंग संकट (1972) येन संकट (1973) उनके कारण निश्चित विनिमय दर प्रणाली में विश्वास कम होता जा रहा है तथा परिवर्तनशील विनिमय दरों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

8.8 विनिमय दर निर्धारण

विभिन्न अर्थशास्त्रियों का विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्त के प्रतिपादन में योगदान रहा है जिसमें से मुख्य सिद्धान्तों की यहाँ विवेचना की जा रही है :

1. **क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त** (Purchasing Power Parity Theory) : इस सिद्धान्त का प्रतिपादक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुस्ताव कैसेल (Gustav Cassal) को माना जाता है। गुस्टाव कैसेल के शब्दों में "दो मुद्राओं में विनिमय की दर, अवश्य ही उनकी आन्तरिक क्रय शक्ति के भागफल पर निर्भर करती है।"

प्रो. जी.डी. कोल (Prof G.D. Cole) के शब्दों में ''राष्ट्रीय मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य विशेषकर जब वे स्वर्णमान पर नहीं है, दीर्घकाल में उनकी वस्तु व सेवाओं में क्रय शक्ति द्वारा निर्धारण होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि दो देशों में अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रामान चलन में होने से विनिमय दर का निर्धारण दोनो देशों की मुद्राओं की क्रयशक्ति के अनुपात द्वारा निर्धारित होता है। अर्थात एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा के रूप में किसी समय विशेष पर बाजार की मांग व पूर्ति की दशाओं द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकाल में यह मूल्य उन देशों की मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्य से नियत होता है जबकि उन देशों की मुद्रा की क्रय शक्ति अपने-अपने देश की वस्तु व सेवाओं की क्रय शक्ति के रूप में होती है अर्थात विनिमय दर उस बिन्दु पर स्थिर रहने की प्रवृति रखती है जहाँ दोनों देशों की मुद्रा की क्रय शक्ति समान होती है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण : माना यदि भारत में वस्तु 48 रू में खरीदी जाती है तथा वही वस्तु यू.एस.ए. में 1 डॉलर में खरीदी जाती है तो भारतीय रूपया व अमेरिका डॉलर के मध्य 48 Rs = 1 डीलर की विनिमय दर निश्चित होगी क्योंकि भारत के 48 रूपये व अमेरिका के 1 डॉलर की क्रय शक्ति बराबर है। यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय बाजार में रूपये की मांग में वृद्धि तथा डॉलर की पूर्ति में वृद्धि करता है। यहाँ निम्न सूत्र द्वारा विनिमय दर ज्ञात की जा सकती है :

$$Index\ No : \frac{Pur\ Chasing\ of\ Current\ year\ x\ 100}{Purchasing\ of\ base\ Year}$$

यहाँ $ER = Er \times \frac{pd}{pg}$

ER = Equilibrium exchange rate

ER = Exchange rate in the reference period

Pd = Domestic price index

Pf = Foreign country's price index

1. अलोचनायें:

1. क्रय शक्ति को मापने का कोई उपयुक्त माध्यम नहीं है।
2. विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति की उपेक्षा की गई है।

3. विनिमय दर भी मूल्य-स्तर को प्रभावित करती है।
4. विनिमय दर में परिवर्तन लाने वाले अनेक तत्वों को उपेक्षा की गई है।
5. माँग की सोच सम्बन्धी गलत मान्यता पर आधारित है।
6. यह सिद्धान्त केवल यह बताता है कि देशों की बीच दीर्घकाल में विनिमय दर मुद्राओं की क्रय शक्ति समता के अनुसार होगी, परन्तु सिद्धान्त यह स्पष्ट नही करता है कि दो या दो से अधिक देशों के मध्य विनिमय दर अल्पकाल में किस प्रकार निर्धारित होगी? इसलिये इस सिद्धान्त का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है क्योंकि हमारी अधिकांश समस्यायें अल्पकालीन होती है।
7. व्यवहार में विनिमय दर क्रय शक्ति समता सिद्धान्त सामान्य अनुभव के प्रतिकूल मिलता है।
8. इस सिद्धान्त के अनुसार सभी देशों में आयात एवं निर्यात स्वतन्त्र होते हैं, परन्तु व्यवहार में प्रायः सभी देशों ने विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपना रखा है। इसलिये इस सिद्धान्त पर स्वतन्त्र व्यापार सम्बन्धी मान्यता अव्यावहारिक प्रकट होती है।

2. **भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त** (Balance of Payment Theory) : भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्राओं के मध्य विनिमय दर निर्धारण का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण किसी देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति से प्रभावित होता है। यह सिद्धान्त यह संकल्पना लेता है कि विदेशी विनिमय दर का निर्धारत स्वायत्त (Autonomous) घटकों द्वारा होता है जो आन्तरिक कीमतों व मुद्रा की पूर्ति से प्रभावित नहीं होते हैं । इस सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते है - किसी देश की मुद्रा की विनिमय दर उसके भुगतान संतुलन पर निर्भर होती है। भुगतान सन्तुलन की अनुकूलता विनिमय दर को ऊँचा कर देती है तथा इसकी प्रतिकूलन विनिमय दर में गिरावट लाती है।

भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या करने पर ज्ञात होता है कि विदेशी विनिमय दर विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति पर निर्भर करती है।

1. **विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति -** भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त वस्तुतः विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति का सिद्धान्त है। विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति समान होने पर सन्तुलित विनिमय दर निर्धारित होती है। जब किसी देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल होता है तो देश की मुद्रा की मांग विदेश में बढ़ जाती है जिससे आन्तरिक या घरेलू मुद्रा का विदेशी मूल्य बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में विनिमय दरें देश के अनुकूल हो जाती है। दूसरी तरफ भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल होने पर देश अधिक विदेशी मुद्रा की मांग करता है। अत: विदेशी मुद्रा अधिक महँगी हो जाती है। अत: आन्तरिक मुद्रा का विदेशी मूल्य गिर जाता है।
2. **आयातों और निर्यातों के मूल्य में समानता -** संतुलित विनिमय दर के निर्धारण हेतु किसी देश के कुल आयातों व कुल निर्यातों का कुल मूल्य समान होना चाहिए जिससे प्रत्येक देश द्वारा किये जा रहे भुगतान(payment)एवं प्राप्तियाँ (receipts) समान रहें। सामान्यत: आयातों का भुगतान निर्यातों द्वारा किया जाता है अर्थात निर्यातों द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा

का प्रयोग आयातों के भुगतान हेतु किया जाता है। यदि आयातों का भुगतान निर्यातों द्वारा प्राप्त प्राप्तियों द्वारा सन्तुलित हो जाये तो देश का व्यापार सन्तुलन साम्य में आ जायेगा। परन्तु भुगतान सन्तुलन में व्यापार सन्तुलन के अतिरिक्त पूँजी खाते की मदें व निजी खातों का शेष भुगतान भी समाहित रहता है। अत: भुगतान सन्तुलन अनुकूल भी हो सकता है तथा प्रतिकूल भी जिससे विनिमय दर प्रभावित होती है।

विनिमय दर निर्धारण का भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि निर्यात ही आयातों का भुगतान करते हैं, अर्थात् साम्य विनिमय दर के निर्धारण हेतु किसी देश के कुल आयातों व कुल निर्यातों का मूल्य समान होना चाहिए ताकि प्रत्येक देश का भुगतान व प्राप्तियां समान हो सकें। ऐसी स्थिति में विदेशी मुद्रा की मांग व पूर्ति के समान होने पर साम्य विनिमय दर का निर्धारण होगा।

विनिमय दर का निर्धारण - किसी देश की मुद्रा की मांग, वस्तु व सेवाओं के निर्यात द्वारा प्राप्त आय, पूँजी खाते की प्राप्तियां, विदेशों में विनियोजित पूँजी पर प्राप्त लाभांश तथा ब्याज पर निर्भर करती है। घरेलू मुद्रा की विदेशों में होने वाली पूर्ति इसके आयातों की मात्रा तथा मूल्य लाभांश व ब्याज इत्यादि के देय भुगतानों पर निर्भर करती है।

देश की मुद्रा मांग एवं विनिमय दर के मध्य सामान्यत: विपरीत सम्बन्ध होता है, अर्थात् देश की मुद्रा की विनिमय दर या विदेशों में इसका मूल्य जितना कम होगा विदेशों में इसकी मांग उतनी ही अधिक होगी।

देश की मुद्रा पूर्ति एवं विनिमय दर के मध्य सम्बन्ध धनात्मक होता है जो यह स्पष्ट करता है कि घरेलू मुद्रा पूर्ति उच्च विनिमय दर पर अधिक तथा निम्न विनिमय दर पर अल्प है।

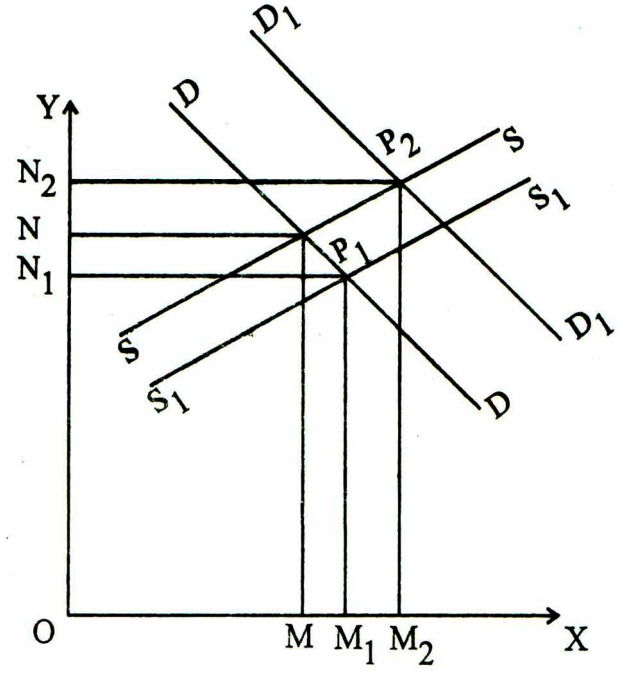

चित्रात्मक निरूपण में PM विनिमय दर को व्यक्त करता है जहाँ माँग तथा मुद्रा की पूर्ति साम्य अवस्थ में है। माना कि माँग में वृद्धि हो जाती है (O.O.) तथा पूर्ति स्थिर रहती है तो विनिमय

दर में वृद्धि होगी (P_2M_2) माना पूर्ति में वृद्धि हो जाती है (S_1S_1) और मांग स्थिर है तो विनिमय दर में ह्यास होता है जिसे P_1M_1 द्वारा व्यक्त किया गया है।

निष्कर्ष रूप से कह सकते है कि जब माँग में वृद्धि होती है तथा पूर्ति स्थिर रहती है तो विनिमय दर में वृद्धि होती है तथा विलोमशः।

अलोचनायें :

1. भुगतान व प्राप्तियों को दिया हुआ मान लिया गया है (Receipts and Payment Assumed as Given) -इस सिद्धान्त में भुगतान-सन्तुलन में भुगतान व प्राप्तियों को ठोस दिया हुआ मान लिया गया है, जबकि ये घटती-बढ़ती रहती हैं।
2. कच्चे माल की माँग भी पूर्ण बेलोचदार नहीं होती (Demand for Raw Materials not Perfectly Inelastic) - इस सिद्धान्त में कुछ कच्चे मालों की माँग को पूर्णतया बेलोचदार मान लिया गया है, इसलिए इनकी माँग कीमत परिवर्तनों एवं विनिमय-दर के परिवर्तनों से स्वतंत्र रहती है। परन्तु सामान्य अनुभव यह बताता है कि किसी भी कच्चे माल की माँग पूर्णतया बेलोचदार नहीं होती है।
3. भुगतान-सन्तुलन पूर्ण रूप से विनिमय-दर के परिवर्तन से स्वतंत्र नहीं है (BOP is not Free from Change in Exchange Rate) - इस सिद्धान्त में भुगतान-सन्तुलन को विनिमय दर के परिवर्तनों से स्वतंत्र माना गया है अर्थात् भुगतान-सन्तुलन विनिमय दर को प्रभावित करता है और स्वयं इसके परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता है। परन्तु व्यवहार में विनिमय-दर के परिवर्तन वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन द्वारा आयात-निर्यात में परिवर्तन लाकर भुगतान संतुलन में परिवर्तन लाते हैं।

विदेशी विनिमय दर निर्धारण का माँग एवं पूर्ति सिद्धान्त : विनिमय दर का निर्धारण स्वतन्त्र विदेशी विनिमय बाजार में अन्य वस्तुओं की तरह से विनिमय की माँग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा होता है जिसे साम्य विनिमय दर (Equilibrium Exchange Rate) के नाम से पुकारते हैं। साम्य विनिमय दर का निर्धारण वहाँ होता है जहाँ विनिमय की माँग तथा पूर्ति दोनों बराबर होती है। अत: यहीं विदेशी विनिमय को माँग व पूर्ति का अध्ययन आवश्यक है।

खुले (मुक्त) बाजार में विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति विनिमय दर को निर्धारित करती है। संतुलन विनिमय दर वह दर है जिस पर विदेशी विनिमय की मांग विदेशी विनिमय की पूर्ति के बराबर हो दूसरे शब्दों मे, यह वह दर है जो विदेशी विनिमय के लिए बाजार को समायोजित करती है रेनगर नक्से (Ragnar Nurkse) ने संतुलन विनिमय दर को यह परिभाषा दी है, कि संतुलन विनिमय दर वह दर है जो कुछ समय पर्यन्त भुगतान शेष को संतुलन में रखती है। '' संतुलन विनिमय दर निर्धारित करने के दो तरीके हैं। डालरों और पाउण्डों के बीच विनिमय की दर को या तो डालरों की मांग और पूर्ति निर्धारित करेगी जबकि डालरों की कीमत पाउण्डों में होगी, या फिर पाउण्डों की मांग और पूर्ति निर्धारित करेगी जबकि पाउण्डों की कीमत डालरों में होगी। इन दोनो में से कोई भी तरीका अपनाया जाए, विनिमय दर वही निकलेगी। जो विश्लेषण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है वह दूसरे तरीके पर आधारित है ताकि उसे पाउण्डों के रूप में स्पष्ट किया जा सकें।

विदेशी विनिमय की मांग (The Demand for Foreignब Exchange) : विदेशी विनिमय की मांग पाउण्डों में व्युत्पन्न (derived) मांग है। यह मांग तब पैदा होती है जब सयुक्त राज्य अमरीका में ब्रिटेन की वस्तुएं तथा सेवाएं आयात होती हैं और अमरीका से ब्रिटेन को पूंजी भेजी जाती है। वास्तव में, पाउण्डों की मांग का मतलब है डालरों की पूर्ति। जब अमरीका के व्यापारी ब्रिटेन की वस्तुएं तथा सेवाएं खरीदते है और ब्रिटेन की पूंजी हस्तान्तरण भेजते हैं तो वे अमरीकी डालरों के बदले में ब्रिटेन पाउण्डों की मांग उत्पन्न करते हैं, क्योंकि वे अपनी अमरीकी डालर करेंसी में ब्रिटेन को भुगतान नहीं कर सकते।

पाउण्डों का मांग वक्र बाएं से दाएं को नीचे की ओर ढालू है। इराका मतलब है कि पाउण्डों पर विनिमय दर जितनी ही कम होगी, विदेशी विनिमय (अमरीकी) बाजार में पाउण्डों की मांग की मात्रा उतनी ही अधिक होगी, और उलट भी। इसका कारण यह है कि जब पाउण्डों पर विनिमय दर कम होगी, तो ब्रिटेन की वस्तुओं तथा सेवाओं के दाम अमरीकी डालरों में सस्ते हो जाएंगे। यदि पर विनिमय पर अपेक्षाकृत ऊंची होगी तो स्थिति इसके विपरीत होगी। ब्रिटेन की वस्तुएं तथा सेवाएं अमरीकी डालरों में महंगी हो जाएंगी, और विदेशी विनिमय (अमरीकी) बाजार में पाउण्डों की मांग गिर जाएगी।

परन्तु विदेशी विनिमय के मांग वक्र का रूप आयातों की मांग की लोच पर निर्भर करेगा। ''यदि कोई देश आवश्यक वस्तुएं तथा कच्चा माल आयात करता है, तो हम आशा कर सकते है कि आयातों की मांग की लोच कम होगी और आयातित मात्रा कीमत परिवर्तनों के प्रति बेलोच होगी। दूसरी ओर, यदि देश विलास वस्तुओं तथा ऐसी वस्तुओं का आयात करे जिनके उचित स्थानापन्न विद्यमान हों, तो आयातों की मांग-लोच ऊंची हो सकती है... यदि देश में अनेक आयात प्रतियोगी बहुत उन्नत उद्योग विद्यमान है, तो आयातों की मांग की लोच बहुत ऊंची न हो। पर, दीर्घकाल में इस बात की सम्मावना बहुत अधिक है कि कीमत परिवर्तनों के अनुरूप उत्पादन पैटर्न बदलेगा और इसलिए आयातों की मांग अपेक्षाकृत अधिक लोचदार होगी।''

विदेशी विनिमय की पूर्ति (The Supply of Foreign Exchange) : हमारे उदाहरण में विदेशी विनिमय की पूर्ति का मतलब है पाउण्डों की पूर्ति। यह तब पैदा होती है जब ब्रिटेन से वस्तुएं तथा सेवाएं निर्यात की जाती है और अमरीका से ब्रिटेन को पूंजी भेजी जाती है। डालरों के बदले पाउण्ड दिए जाते हैं क्योंकि ब्रिटेन के पाउण्ड धारक डालरों में भुगतान करना चाहते हैं। इस प्रकार विदेशी विनिमय पूर्ति का मतलब है पाउण्डों की विविध डालर कीमतों पर विदेशी विनिमय बाजार में कितने पाउण्ड दिए जाएंगे।

पाउण्डों का पूर्ति वक्र SS ऊपर की ओर ढालू है। यह पाउण्डों की विनिमय दर का धनात्मक फलन है। ज्यों-ज्यों पाउण्डों पर विनिमय दर बढ़ती है त्यों-त्यों विदेशी विनिमय बाजार में पाउण्डों की पूर्ति की मात्रा बढ़ेगी। इसका कारण यह है कि जब पाउण्डों की डालर कीमत बढ़ती है (डालरों की पाउण्डों में कीमत घटती है) तो पाउण्डों के धारकों के लिए अमरीकी वस्तुएं, सेवाएं तथा पूंजी कोष लाभदायक सिद्ध होते हैं। इसलिए जब विनिमय दर बढ़ेगी, तो पाउण्डों के धारक अपेक्षाकृत अधिक पाउण्ड देने को तैयार होंगे।

परन्तु विदेशी विनिमय के वक्र का रूप पूर्ति वक्र की लोच निर्धारित करेगा। "जब देश की अपनी करेंसी का मूल्य बढ़ता है, तो आयात सापेक्ष रूप से सस्ते हो जाएंगे और आयात बढ़ेगा। जब आयात बढ़ेगा तो विदेशी विनिमय बाजार में देश की अधिक करेंसी की पूर्ति होगी, बशर्ते कि लोच इकाई से अधिक हो। जब आयात अपेक्षाकृत सस्ते होंगे, तो नई वस्तुएं आयात होने लगेगी और आयात धीरे-धीरे आयात प्रतियोगी उद्योगों को समाप्त कर देंगे। इन दो महत्वपूर्ण कारणों से हम यह आशा करते हैं कि विदेशी विनिमय की पूर्ति लोचदार होगी। और फिर समय जितना अधिक होगा, पूर्ति भी उतनी ही अधिक लोचदार होगी।"

स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं -

1. स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली के कार्यकरण मे प्रमुख दोष यह है कि यह स्थिर विनिमय दरों की वेदी पर पूर्ण रोजगार तथा स्थिर कीमतों के उद्देश्य की बलि दे देती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश के भुगतान-शेष में अतिरेक है,तो कीमतें बढ़ाकर ही उस अतिरेक का समायोजन किया जा सकता है। इससे देश के भीतर अवश्य भारी सामाजिक लागतें बढ़ेगी।
2. फिर, स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली के अन्तर्गत घरेलू अर्थव्यवस्था की अप्रत्याशित हलचलें विदेशों में पहुंच जाती है। "जहां किसी देश को विनिमय दरों द्वारा घरेलू हलचलों के पूर्ण परिणामों और नीति सम्बन्धी गलतियों से बचाया जा सकता है, वहां उसे दूसरों की हलचलों और गलतियों का परिणाम तो भुगतना ही पड़ता है। क्योंकि अधिक मांग जिस सीमा तक उस देश के 'बहार जाती है जिसमें वह उत्पन्न हुई थी, उसी सीमा तक वह भुगतान-शेष अतिरेक के रूप में देश के साथी व्यापारी देश में घुस जाती है।"
3. स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी करेंसियो की भारी आरक्षितियां रखनी पड़ती है। जिन देशों के भुगतान शेष में घाटे हैं, यदि वे अवमूल्यन से बचना चाहते हैं तो उन्हें भारी मात्रा में विदेशी करेंसियों की आरक्षितियां रखनी होंगी। इसके परिणामस्वरूप मौद्रिक प्राधिकारियों पर विदेशी विनिमय आरक्षितियों की व्यवस्था करने की भारी जिम्मेदारी आ जाती है।
4. निश्चित विनिमय दरों की प्रणाली के लिए जटिल विनिमय नियंत्रण उपायों की भी जरूरत पड़ती है। इन उपायों से अर्थव्यवस्था के संसाधनों का कुविभाजन होता है।
5. विनिमय दर की स्थिरता से एक और समस्या संबद्ध रहती है। एक देश की विनिमय दर दूसरे देश की विनिमय दर के मुकाबले पर्याप्त लम्बी अवधि तक स्थिर नहीं रह सकती। भुगतान-शेष की समस्याएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमतों से उतार-चढ़ाव प्रायः देशों को विनिमय दरों में परिवर्तन करने पर मजबूर कर देते हैं। इसलिए विनिमय दरों को कड़ाई से स्थिर बनाए रखना सम्भव नहीं है।

वास्तव में, स्थिर विनिमय दर प्रणाली पहले से यह मानकर चलती है कि घरेलू नीति के उद्देश्य समरूप होते है और मांग के उतार चढ़ावों के प्रति कीमतों की प्रतिक्रिया एक जैसी रहती है। आज की दुनिया में इस तरह की प्रणाली निश्चय ही बडी कठिनाइयों में फंस कर रह जाएगी। इसका कारण यह है कि घरेलू नीति उद्देश्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रतिबद्धता के प्रति अनिच्छुक रहती है। मांग के दबाबों के उतार-चढ़ावों के प्रत्युत्तर में कीमतें एक सीमित ढंग से ही

प्रतिक्रिया करती हैं। और कम-से-कम अल्पकाल में तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मांग की लोचें सामान्य रूप से बहुत कम रही हैं। इन्हीं कारणों से एकदम कठोर स्थिर विनिमय दर प्रणाली को किसी भी हाल की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की सुधार सम्बन्धी चर्चा में गम्भीर सम्भावना के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया।

साम्य विनिमय दर में परिवर्तन (Changes in Equilibrium Rate) साम्य विनिमय दर में परिवर्तन है जब इसको निर्धारण करने वाली विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति की शक्तियों में से किसी एक अथवा दोनों में परिवर्तन हो जाए। यदि विदेशी विनिमय की माँग के स्थिर रहते हुए उसकी पूर्ति में वृद्धि हो जाती है तो विनिमय दर गिर जाती है और इसके विपरीत पूर्ति कम हो जाती है तो विनिमय दर बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में माँग के स्थिर रहने पर विदेशी विनिमय की पूर्ति में हुए परिवर्तनों की विपरीत दिशा में विनिमय दर में परिवर्तन होता है। इस बात का निम्नांकित चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है। चित्रानुसार प्रारम्भिक विनिमय दर OR है जो पूर्ति में वृद्धि हो जाने के कारण गिरकर OR_1 रह जाती है तथा पूर्ति में कमी हो जाने के कारण बढ़कर OR_2 हो जाती है।

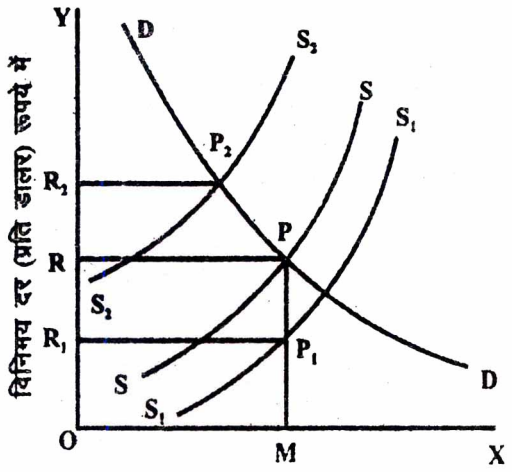

विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति

इसके विपरीत विदेशी विनिमय की पूर्ति स्थिर रहने पर यदि इसकी माँग में परिवर्तन हो जाता है तो विनिमय दर विदेशी विनिमय की माँग में होने वाले परिवर्तनों की दिशा में परिवर्तित हो जायेगी। दूसरे शब्दों में पूर्ति के स्थिर रहने पर विदेशी विनिमय की माँग में वृद्धि और कमी से विनिमय दर भी क्रमशः बढ़ और घट जायेगी जैसाकि अग्रांकित चित्र प्रदर्शित करता है। चित्रानुसार OR प्रारम्भिक साम्य विनिमय दर है जो माँग में वृद्धि और कमी के कारण क्रमशः बढ़कर और घटकर OR_1 तथा OR_2 हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दो देशों की मुद्राओं की माँग और पूर्ति में जो उतार-चढ़ाव आते रहते हैं उनके परिणामस्वरूप उन देशों की मुद्राओं की विनिमय दरों में भी उतार-चढाव होते रहते हैं। विदेशी विनिमय दर ऊँची होने पर अधिक स्वदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ती है और विनिमय दर गिरने पर कम स्वदेशी मुद्रा खर्च करनी है विदेशी मुद्रा प्राप्त कर ली जाती है।

माँग व पूर्ति में सन्तुलन की स्थितियों का जो वर्णन यहाँ किया गया है वह तभी सम्भव हो सकता है जब विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति पर बाजार में कोई भी प्रतिबन्ध न हो तथा माँग व पूर्ति करने वाली विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों में पूर्ण प्रतियोगिता हो। व्यवहार में यह सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्येक देश विदेशी मुद्रा सम्बन्धी लेन देन पर किसी न किसी प्रकार के प्रतिबन्ध अवश्य लागू रखता है परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय की बाजार तथा समता दरों पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता और माँग व पूर्ति का विदेशी विनिमय निर्धारण का सिद्धान्त पूर्ण रूप से लागू नहीं हो पाता।

4. टकसाली समता सिद्धान्त (Mint Par Parity Theory) : जब दो देशों मे स्वर्णमान प्रचलित होता है, तब दोनों देशों की प्रमाणिक मुद्राएँ स्वर्ण की बनी हुई होती हैं अथवा स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं। स्वर्णमान के अन्तर्गत यह भी होता है कि देश में स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता तथा सरकार देश की मुद्रा को स्वर्ण में असीमित मात्रा में बदलने को तैयार रहती है। ऐसे समय में दो देशों की मुद्राओं में विनिमय दर का निर्धारण टकसाली समता या टंक समता सिद्धान्त के अनुसार बहुत सरलता से हो जाता है। टंक समता सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर दोनों देशों की मुद्राओं के प्रामाणिक सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण की समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है और इसे विनिमय का टंक-समता सिद्धांत (Mint Par of Exchange) कहते हैं। इस विधि को टंक-समता सिद्धान्त (Mint Par Parity Theory) कहा जाता है।

टंक-समता सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रमुख विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं :

1. **प्रो. टॉमस** के अनुसार, 'टंक-समता दर वह अनुपात है जो एक ही धातुमान पर आधारित राष्ट्रों की प्रामाणिक मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातु साम्य से व्यक्त होता है।
2. **क्लेयर और कंप** के मतानुसार, 'दो मुद्राओं के स्वर्ण मूल्यों की समता स्थापित करते समय विधान द्वारा अभिव्यक्त विशुद्ध स्वर्ण मूल्य को ही ध्यान में रखा जाता है, न कि मुद्रा के वास्तविक मूल्य को। जब तक विधान में परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक टंक-समता में कोई भी हेर-फेर नहीं होता।'

अपरिवर्तनशील करेंसियों के मध्य विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करने के लिए क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त सहायक होता है। हमने यह स्पष्ट किया कि स्वर्णमान के अधीन करेंसी की स्वर्ण समता इसकी क्रय-शक्ति की सूचक होती है क्योंकि दो देशों में कीमतें स्वर्ण में निर्धारित की जाती हैं, अत: टंक समता दो करेंसियों के मध्य क्रय-शक्ति समता भी होती है।

टंक समता और क्रय-शक्ति समता के मध्य मुख्य भेद यह है कि टंक समता में दो मुद्राओं के घात्विक परिमाण में समता को आधार मानकर विनिमय दर का निर्धारण किया जाता है जबकि क्रय-शक्ति समता दो मुद्राओं के वस्तु परिमाण पर आधारित होती है। अत: दो देशों के मध्य निर्धारित टंक समता और पत्र मुद्रामान वाले देशों के मध्य क्रय-शक्ति समता में एक स्पष्ट भेद यह है कि टंक समता एक स्थिर समता (flxed parity) है जबकि क्रय-शक्ति समता चल समता (moving parity) है।

स्वर्णमान के अधीन विनिमय दर स्वर्ण बिन्दुओं के मध्य परिवर्तित होती है परन्तु पत्र मुद्रामान के अधीन विनिमय दर के उच्चावचन की कोई सीमा नहीं होती। पत्र मुद्रामान के अधीन बाजार

विनिमय दर में उच्चावचन की सीमाएँ वस्तुओं के परिवहन व्यय, निर्यात व आयात पर लगने वाले कर, बैंक व बीमा सेवा व्यय द्वारा निर्धारित होती है। ये सीमाएँ भी स्वर्णमान में स्वर्णबिन्दुओं के समान निश्चित नहीं होती। अत: क्रय-शक्ति समता के अधीन सामान्य विनिमय दर स्थिर समता नहीं होती व इसके उच्चावचन की सीमा भी स्थिर नहीं होती। बाजार विनिमय दर भी स्थिर होती है।

माना कि भारत एवं जापान में स्वर्णमान प्रचलित है। भारत के रूपये में 2 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण तथा जापान के येन में 15 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है, तो टंक समता के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण इस प्रकार होगा :

1 येन = 15 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण

7.50 रूपये = 15 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण

अत: 1 येन = 7.50 रूपये

सूत्र विदेशी मुद्रा की एक इकाई =

विदेशी मुद्रा की इकाई में स्वर्ण की मात्रा

स्वदेशी मुद्रा की इकाई में स्वर्ण की मात्रा

= स्वदेशी मुद्रा की इकाइयाँ

स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई = स्वदेशी मुद्रा में स्वर्ण की मात्रा

विदेशी मुद्रा में स्वर्ण की मात्रा

= विदेशों मुद्रा की इकाइयाँ

8.9 विदेशी विनिमय बाजार : मुख्य प्रवृत्तियों'

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तु व सेवाओं का व्यापार होने पर घरेलू करेंसी को विदेशी करेंसी के रूप में अभिव्यक्त करना आवश्यक हो जाता हो। विदेशी विनिमय से सम्बन्धित क्रियाएँ विदेशी विनिमय बाजार में संपादित की जाती है। विदेशी विनिमय बाजार की मुख्य क्रियाएँ निम्नांकित हैं:

1. विभिन्न राष्ट्रों के मध्य कोषों का हस्तान्तरण सर्वाधिक कुशल ढंग से करना।
2. ऐसे प्रबन्ध करना जिससे साख का विस्तार होना संभव हो तथा दायित्वों का भुगतान आसानी से हो सके।
3. विनिमय दर में होने वाली प्रतिकूल गतियों से होने वाली गतियों को दूर करने के लिए ऐसी सुविधाओं का प्रावधान जो विनिमय के जोखिम से मुक्ति प्रदान करें।
4. विदेशी विनिमय बाजार की मुख्य प्रवृत्तियों को स्थान एवं समय आयाम (space and time dimension) के आधार पर स्पष्ट किया जाना सम्भव है।

तत्काल विनिमय दर वह दर है जिस पर एक देश की करेंसी का दूसरे देश की करेंसी से वर्तमान अवधि में विनिमय किया जाता है। "स्पाट" शब्द से अभिप्राय करेंसियों की तुरन्त सुर्पुदगी अथवा विनिमय है। व्यवहार में, सौदा दो दिनों में हो जाता है। तत्काल लेन-देनों के लिए प्रभावी विनिमय दर को तत्काल दर, और ऐसे सौदों के लिए मार्केट को तत्काल मार्केट कहते है।

अग्रिम विनिमय दर वह दर है जिस पर भविष्य में विदेशी करेंसी उपलब्ध की जाती है। अग्रिम सौदा दो ग्रुपों के बीच होता है, जिसके अनुसार भविष्य में एक निश्चित तिथि तक विदेशी करेंसी

की एक निश्चित राशि को एक पार्टी दूसरी पार्टी के सुपुर्द करती है। यह भुगतान राशि घरेलू करेंसी के बदले अनुबंध में तय की गई कीमत पर दूसरी पार्टी द्वारा देय होती है। अग्रिम अनुबंध पर लागू विनिमय दर, अग्रिम विनिमय दर कहलाती है और अग्रिम सौदों के लिए मार्केट को अग्रिम मार्केट कहते हैं।

अग्रिम विनिमय दर के कार्यकरण को समझने के लिए उसका तत्काल विनिमय दर के साथ संबंध जानना आवश्यक है। अनुबंध करते समय यदि अग्रिम विनिमय दर तत्काल विनिमय दर के बिल्कुल बराबर है तो वह अग्रिम विनिमय दर सममूल्य पर (at par) कहलाती है। जब अग्रिम मार्केट में एक करेंसी तत्काल मार्केट के मुकाबले में दूसरी करेंसी की अधिक इकाइयां खरीदती है तो अग्रिम विनिमय दर को अधिमूल्य पर (at a premium) कहते हैं। उदाहरणार्थ जब एक डॉलर अग्रिम मार्केट मे तत्काल मार्केट की अपेक्षा अधिक रूपये में बदला जाता है तो वह डॉलर को अधिमूल्य हार खरीदना है। तत्काल दर से अग्रिम दर का जो अन्तर है वही अधिमूल्य अथवा प्रीमियम है जिसको प्रतिशतता में व्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत, यदि अग्रिम मार्केट में तत्काल मार्केट की अपेक्षा एक डॉलर को कम रुपयों में बदला जाता है तो अग्रिम दर को बट्टे पर (at a discount) कहते हैं। इसे भी तत्काल दर से अग्रिम दर में प्रतिशतता अन्तर द्वारा व्यक्त किया जाता है।

विनिमय परिचालन (Swap operations) 'स्वैप' शब्द का अर्थ है तत्काल करेंसी के साथ अग्रिम करेंसी की एक ही समय में अदला बदली करना। दूसरे शब्दों में एक करेन्सी को तत्काल बेचेन अथवा खरीदने के साथ उसी करेंसी को अग्रिम सुपुर्दगी के लिये खरीदना अथवा बेचना। इनको दो तरफा सौदे भी कहते हैं।

भविष्य ठेका (Future contract) : भविष्य ठेका, परिपक्व तिथि तथा स्वरूप पर निर्भर करता है। कार्य सम्पन्न होने के उपरान्त ही पूर्ण रूप से मुद्रा का हस्तान्तरण किया जाता है परन्तु पूर्ण रकम का कुछ भाग प्रतिभूति के रूप में पहले जमा करा दिया जाता है।

विनिमय दर में परिवर्तन (Changes in Exchange Rate) : विदेशी विनिमय की मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने से विनिमय दर परिवर्तित होती है। विनिमय दर को निम्न क्रियाएँ प्रभावित करती है :

1. हेजिंग (Hedging)
2. सट्टा (Speculation)उ
3. ब्याज अन्तरपणन (Interest Arbitrage)

1. **हेजिंग (Hedging)-** चूँकि विदेशी विनिमय दर में समय 'के साथ-साथ परिवर्तन या उच्चावचन होते हैं अत: जब भविष्य की किसी तिथि पर विदेशी करेंसी का भुगतान करना या प्राप्त करना चाहता है तो उसके सामने यह जोखिम (risk) उभरता है कि उसे घरेलू करेंसी के रूप में अधिक भुगतान न करना पड़े या उसकी प्राप्तियाँ कम न हों। विदेशी विनिमय के ऐसे जोखिमों को हेजिंग (hedging) के द्वारा दूर या ठीक किया जाना सम्भव होता है।

हेजिंग की क्रिया से सम्बन्धित प्रश्न मुख्य है :

1. हेजिंग से क्या आशय है?
2. हेजिंग को बढ़ावा कौन देता है?

3. क्या हेजिंग तात्कालिक बाजार में सम्मव है?
4. हेजिंग अग्रिम बाजार में क्यों होती हैं?

हेजिंग से आशय - हेजिंग की क्रिया विदेशी विनिमय के जोखिम को दूर करती है या वहन करती है। हेजिंग की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि तात्कालिक विनिमय दर में समय के अनुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी दशा में वह व्यक्ति जो भविष्य की किसी तिथि पर विदेशी करेंसी के रूप में प्राप्ति या भुगतान चाहते है, यह जोखिम (risk) सामने पाते हैं कि उन्हें घरेलू करेंसी के रूप में या तो कम प्राप्ति होगी या अधिक भुगतान करना पडेगा।

तात्कालिक बाजार में हेजिंग - हेजिंग तात्कालिक बाजार में सम्भव है। उदाहरण के लिए A देश का आयातकर्ता जो पौंड मे भविष्य में होने वाले भुगतान की प्रतीक्षा करता है व इस बात से चिन्तित है कि भविष्य में पौंड की तात्कालिक दर बढ़ेगी, अत: उसे वर्तमान में पौंड का क्रय करने की अपेक्षा अधिक डालर की आवश्यकता पड़ेगी। अत: वह वर्तमान की तात्कालिक दर पर तात्कालिक बाजार से पौंड खरीदेगा व B देश के बैंक में उस अवधि तक जमा रखेगा जब तक उसे भुगतान न करना पड़े।

इसी प्रकार A देश का निर्यातकर्ता जो पौंड में भुगतान प्राप्त करना चाहता है, B देश में पौंड उधार पर प्राप्त कर सकता है तथा वर्तमान की तात्कालिक दर पर पौंड का डालर के साथ विनिमय करेगा। अपने निर्यातों का भुगतान प्राप्त होने पर वह अपने ऋण का भुगतान पौंड में करेगा।

हेजिंग व अग्रिम बाजार - सामान्यत: अग्रिम बाजार में हेजिंग सम्भव है। उदाहरणार्थ A देश का आयातकर्ता आज पौंड का क्रय करता है व उसे तब तक अपने पास रखता हैं जब तक कि भुगतान देय न हो जाए व वास्तव में वह अपने आयातों का नकद भुगतान करता है।

2. **सट्टा (Specualation) -** सट्टा हेजिंग की विपरीत क्रिया है। जहाँ हेजिंग करने वाला विदेशी विनिमय जोखिम को टालना चाहता है या वहन करता है जिससे भविष्य की हानि का संकट न रहे तो सट्टेबाज लाभ की आशा में या विदेशी विनिमय के जोखिम को वहन करने हेतु इसे स्वीकार करता है। यदि सट्टेबाज बाजार का सही पूर्वानुमान लगा ले तो वह लाभ की प्राप्ति कर लेता है अन्यथा सट्टेबाज को हानि होगी।

सट्टे की क्रिया अग्रिम विनिमय बाजार में की जाती है। अत: सट्टा लाभ प्राप्ति हेतु विदेशी विनिमय जोखिम वहन करता है।

प्रश्न यह है कि तात्कालिक बाजार में सट्टा किस प्रकार किया जाता है। दूसरी समस्या यह है कि सामान्यत: सट्टा अग्रिम बाजार में क्यों किया जाता है।

1. **तात्कालिक बाजार में सट्टा** (Speculation in Spot Market) - एक विदेशी विनिमय सट्टेबाज जो यह आशा करता है कि एक करेंसी की तात्कालिक दर कुछ महीनों में अधिक हो जायेगी, वह वर्तमान तात्कालिक दर पर करेंसी का क्रय करेगा तथा उस अवधि तक करेंसी को अपने पास रखेगा। निश्चित अवधि के पश्चात् तात्कालिक बाजार में करेंसी बेच दी जायेगी। यदि सट्टेबाज के अनुमान सही हुये तो वह लाभ प्राप्त करेगा अन्यथा उसे हानि होगी। दूसरी तरफ यदि सट्टेबाज यह आशा करता है कि तीन महीनों में तात्कालिक दर कम हो जायेगी तो वह विदेशी करेंसी को उधार लेगा व उसे वर्तमान समय की तात्कालिक दर पर

राष्ट्रीय करेंसी से विनिमय करेगा। निश्चित अवधि के उपरान्त यदि विदेशी करेंसी की तात्कालिक दर काफी कम हो जब वह विदेशी करेंसी के पुनर्क्रय द्वारा एक निम्न तात्कालिक दर पर लाभ प्राप्त कर सकने में सफल हो सकता है। लाभ प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक हो जाता है कि नई तात्कालिक दर अवश्य ही कम हो जिससे निश्चित अवधि के लिए उधार ली गई विदेशी करेंसी पर दिया गया अतिरेक लाभ पूरित हो सके।

2. **अस्थायित्वकारी सट्टा** (Destabilizing Speculation) - अस्थायित्वकारी सट्टा विदेशी करेंसी के क्रय को प्रदर्शित करता है जबकि विदेशी विनिमय दर इस आशा में गिर रही हो कि इसमें और अधिक बढ़ेगी। इस प्रकार यह विदेशी विनिमय दर के उच्चावचन को और अधिक बढ़ाता है। यदि यह उच्चावचन काफी अधिक हुए तो यह विदेशी करेंसी पर अग्रिम बट्टे की दर को इसकी व्याज समता (Interest parity) से काफी अधिक कर देता है।

   प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति जिसने विदेश में वस्तु का आदेश दिया है या विदेशी करेंसी का भुगतान करना है, किस प्रकार सट्टा करेगा जबकि उसे आशा हो कि विनिमय दर बहुत शीघ्र परिवर्तित होगी।

   यदि एक व्यक्ति यह आशा करता है कि विनिमय दर में शीघ्र ही वृद्धि होगी तब वह भविष्य में अधिक दर की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए भुगतान कर देगा। दूसरी तरफ यदि व्यक्ति यह पूर्वानुमान करता है कि विनिमय दर शीघ्र ही गिर जाएगी तो वह भविष्य में (जब दर नीची हो) भुगतान चाहेगी। इन्हें Leads and Lags कहा जाता है।

3. **ब्याज अन्तरपणन** (interest arbitrage) - ब्याज अन्तरपणन एक मौद्रिक केन्द्र या करेंसी से दूसरे मौद्रिक केन्द्र या करेंसी की ओर होने वाला कोषों का तरल हस्तान्तरण है जो प्रतिफल की अधिक दरों के लाभ या अधिक व्याज प्राप्त करने हेतु किया जाता है। इस क्रिया में होने वाले विदेशी विनिमय जोखिम को विदेशी करेंसी की अग्रिम बिक्री द्वारा वहन किया जाता है। ब्याज अन्तरपणन की प्रेरणाएँ तब तक प्राप्त होती रहेंगी जब तक विदेशी करेंसी के अग्रिम बट्टे से अधिक रहें।

प्रश्न यह है कि इससे विदेशी विनिमय जोखिम किस प्रकार होता है। विदेशी विनियोग करने में राष्ट्रीय करेंसी को विदेशी करेंसी में अवश्य बदलना पड़ता है। जब विनियोग पूर्णत: प्राप्त कर लेते हैं तब विदेशी करेंसी को पुन: राष्ट्रीय करेंसी में बदलना पड़ेगा। यहाँ पर विदेशी विनिमय का जोखिम तब तक बढ़ेगा क्योंकि विनियोग की समय अवधि में विदेशी करेंसी की तात्कालिक दर अवश्य गिरेगी। इससे घरेलू विनियोग पर विदेश द्वारा प्राप्त किए गए अतिरिक्त ब्याज का हिस्सा कम होने लगेगा व वास्तविक हानि होगी।

विदेशी विनिमय के जोखिम को तब वहन किया जा सकता है जबकि विनियोगी विदेशी करेंसी को राष्ट्रीय करेंसी के बदले विनिमय कर रहा है, जिससे कि वह विदेशी करेंसी को राष्ट्रीय करेंसी के बदले विनिमय कर रहा है, जिससे कि वह विदेशी विनियोग कर सके। ऐसी दशा में वह अग्रिम क्रय भी करता है जो विदेशी करेंसी की समान मात्रा के बराबर होता है। चूँकि विदेशी करेंसी अग्रिम बट्टा प्राप्त करती है अत: वह विदेशी करेंसी के हस्तांतरण में हानि वहन करेगी, परन्तु यदि धनात्मक ब्याज अन्तर (जो विदेशी मौद्रिक केन्द्र के पक्ष में हो) विदेशी करेंसी पर अग्रिम बट्टे से अधिक है तो विदेशी विनियोग प्राप्त करने के लिए अच्छी दशा होगी।

8.10 विनिमय दर का जोखिम

विनिमय दर के जोखिम से अभिप्राय है कि जिस दर पर कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से वस्तु का सौदा करता है उसका भुगतान न करने एवम अग्रिम विनिमय न करने की स्थिति में वो परिवर्तित हो जाती है। जिस के कारणवश उस राष्ट्र को उच्चदर में भुगतान करने की सम्भावना बढ़ जाती है। उनको प्रभावित करने वाले कारण निम्न प्रकार से है :

व्यापारिक कारण, मौद्रिक कारण एवम् सरकारी नीतियां

8.11 सारांश

विदेशी विनिमय वह प्रणाली है जिसके द्वारा व्यापार करने वाले राष्ट्र अपने पारस्परिक ऋणों का भुगतान करते हैं। (the system by which commercial nations discharge their debts to each other)। संकुचित अर्थ में विदेशी विनिमय से अभिप्राय विदेशी मुद्रा है जबकि विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का सूचक है। इस प्रकार विदेशी विनिमय वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत विश्व के राष्ट्र अपने पारस्परिक लेन देन एवं व्यापारिक ऋणों का भुगतान करते हैं।

विदेशी भुगतान के साधनों में विदेशी विनिमय बिल, ड्राफ्ट द्वारा भुगतान, टेलिग्राफिक या तार द्वारा किए हस्तान्तरण एवं साख पत्र महत्वपूर्ण हैं। किसी करेंसी के लिए विदेशी विनिमय बाजार उन समस्त स्थलों एवं शहरों को सूचित करती है जहाँ अन्य करेंसी के लिए हस्तान्तरण संभव हो। विभिन्न मौद्रिक केन्द्र टेलिफोन जाल (Telephone network) से जुड़े रहते हैं। व्यक्ति एंव फर्म विदेशी करेंसी को बैंकों एवं ब्रोकरों (brokers) से खरीदती व बेचती हैं। विदेशी विनिमय बाजार का मुख्य कार्य एक देश एवं करेंसी से दूसरे देश व करेंसियों में क्रय शक्ति का हस्तान्तरण करना है। वर्तमान में यह सामान्य रूप से टेलिग्राफिक हस्तान्तरण (Telegraphic Transfer) किया जाता है।

विदेशी विनिमय बाजार के अन्य कार्य साख निर्माण (credit creation) से सम्बन्धित हैं। साख की आवश्यकता तब पड़ती है जब वस्तुएं विक्रेता से क्रेता की ओर गति करती हैं व क्रेता को इतना समय प्रदान करती हैं कि वह वस्तु को पुन: बेच सके व इस प्रकार भुगतान कर सकें। विदेशी विनिमय बाजार हेजिंग व सट्टे की सुविधाएँ भी प्रदान करता है।

विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर का निर्धारण मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। विनिमय दर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में व्यक्त मूल्य है। दूसरे शब्दों में चलन मुद्राओं की पारस्परिक कीमतों को विदेशी विनिमय दर कहते हैं।

8.12 शब्दावली

विदेशी विनिमय : एक देश दूसरे को भुगतान उस देश की मुद्रा में करता है उसे विदेशी विनिमय कहते है।

विदेशी विनिमय दर : एक मुद्रा की दूसरी मुद्रा में व्यक्त की गयी कीमत है।

फेरा (FERA) : फेरा ही वह सांविधिक अधिनियम है जिसके प्रावधानों के द्वारा रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार भारत की विदेशी विनिमय व्यवस्था का संचालन तथा नियन्त्रण करते है। इस नीति का निर्माण 1973में हुआ था परन्तु लागु 1 जनवरी 1974 से हुई थी।

मुद्रा : सभी प्रकार के नोट, पोस्टल, नोट, पोस्टल आर्डर, मनी आर्डर, चैक, डाफ्ट आदि को मुद्रा ही कहा जाता है।

8.13 स्वपरख प्रश्न

1. विदेशी विनिमय से आप क्या समझते हैं? विदेशी विनिमय की समस्या क्यों उत्पन्न होती है।
2. विदेशी विनिमय दर से क्या अभिप्राय है? विदेशी विनिमय दरों के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखे।
    1. अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय दरें।
    2. क्रय एवं विक्रय विनिमय दरें।
    3. अधिकृत एवं गैर-अधिकृत विनिमय दरें।
    4. तत्काल एवं अग्रिम विनिमय दरें।
    5. स्थिर एवं परिवर्तनशील विनिमय दरें।
4. विदेशी विनिमय दर को स्पष्ट करते हुये उसके सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

8.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय - फ्रांसिस
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त और विदेशी विनिमय - एस.के. माथुर
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय अजामी वित्त सिद्धान्त एवं अभ्यास - बी.ए. अबदानी

इकाई - 9 : अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund)

इकाई की रुपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष - ऐतिहासिक अवलोकन

9.3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अर्थ

9.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

9.5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश के आर्थिक साधन

9.6 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की संगठनात्मक संरचना

9.7 मुद्रा कोष के कार्य

9.8 कोटा और उनका निर्धारण

9.9 मुद्रा कोष की वित्तीय सहायता योजनाओं की प्रगति

9.10 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलताएं

9.11 विशेष आहरण अधिकार

9.12 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं भारत

9.13 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता

9.14 सारांश

9.15 शब्दावली

9.16 स्वपरख प्रश्न

9.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् समझ सकेंगे कि -

- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के उद्देश्य क्या है?
- अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान में कोष की भूमिका से परिचित हो सकेंगे।
- कोष की विभिन्न ऋण योजनाओं को समझने में समर्थ होंगे।
- भारत के लिए कोष से क्या लाभ हुए हैं, से भी वाकिफ हो सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना (Introduction)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था है। इसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि 1920 और 1930 के दशकों में जो आर्थिक गलतियाँ हुई थी, उनसे बचा जाये। 1930 के दशक की विश्वव्यापी मन्दी ने हर देश को स्वर्ण मानक छोड़ने पर मजबूर कर दिया था। परिणामस्वरूप नितान्त राष्ट्रवादी नीतियां अपनाई गई जिनके अन्तर्गत लगभग प्रत्येक देश ने निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिये व्यापार प्रतिबन्ध, विनिमय नियन्त्रण लगाये और विनिमय मूल्यह्रास का

सहारा लिया। इससे विश्व-व्यापार में और अधिक गिरावट आई और मंदी फैली। इस पृष्ठभूमि को लेकर 44 राष्ट्र मोद्रकी एवं वित्तीय सम्मेलन में सम्मिलित हुये। इस प्रकार IMF की स्थापना इसके सदस्यों में आर्थिक तथा वित्तीय सहयोग को बढ़ावा देने के लिये हुई थी, ताकि विश्व व्यापार का विस्तार और आर्थिक वृद्धि आसानी से हो सकें। इसने 1 मार्च,1947 से कार्य करना शुरू किया। 1992 में कोष के सदस्यों की संख्या 173 थी जबकि वर्तमान में 186 राष्ट्र IMF के सदस्य है।

9.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष - ऐतिहासिक अवलोकन

ऐतिहासिक अवलोकन (Historical Background) : प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान प्रणाली कार्यशील नहीं रह पाई। स्वर्णमान प्रणाली अपना रहे देशों के भुगतान सन्तुलन में तीव्र असमायोजन की प्रवृतियां देखी गई। विनिमय नियन्त्रण एवं द्विपक्षीय व्यापार राष्ट्रवाद की विचार धारा बलवती होने के साथ प्रतिस्पर्धी मूल्यन एवं विनिमय नियन्त्रणों के कटु प्रयोगों से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग पर विपरीत प्रभाव पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध की समय अवधि में मुख्य समस्या देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण की थी। यह तब ही सम्मव हो सकता था जब अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग होता। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त इस दिशा में प्रभावी प्रयास किये गये। ब्रिटेन ने कीन्स योजना तथा अमेरिका द्वारा श्वेत योजना (white Plan) प्रस्तुत किये गये।

जुलाई 1944 में अमेरिकी सरकार द्वारा ब्रेटनबुड (न्यू हैम्पशायर) में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक एवं वित्त गोष्ठी में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक के गठन का प्रस्ताव पारित किया गया। 27 दिसम्बर 1945 को मुद्राकोष के सहमति पत्र पर 29 देशों द्वारा हस्ताक्षर किये गये। 1 मार्च 1946 में गवर्नर मण्डल की उद्घाटन मीटिंग सवाना जौजिया अमेरिका में सम्पन्न हुई तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का कार्यालय वाशिंगटन डी.सी. में होना तय हुआ। 1 मार्च 1947 में मुद्राकोष ने कार्य प्रारम्भ किया था।

9.3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अर्थ

मुद्रा कोष सदस्य देशों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है तथा इसका सिद्धान्त यह है कि भुगतान संतुलन की समस्या को सुलझाने में समायोजन व वित्तीय सुविधा साथ-साथ चले। मुद्रा कोष जो ऋण सुविधा प्रदान करता है वह भुगतान संतुलन की दशा में सुधार हेतु नियत नीति एवं आर्थिक वृद्धि को बनाये रखने के साथ गहन रूप से सम्बन्धित है। मुद्राकोष द्वारा संचालित कार्यक्रमों की नीति मध्यम अवधि के भीतर आंतरिक एवं बाह्य संतुलन को बनाये रखने से सम्बन्धित है। मुद्राकोष द्वारा संचालित कार्यक्रम पूर्ति की दशाओं में सुधार तथा अर्थव्यवस्था के उत्पादक आधार को सुदृढ़ करने पर आधारित है।

वर्तमान में IMF के कुल सदस्य राष्ट्रों की संख्या 186 है, लगभग 2,490 स्टाफ कार्य करता है जो कि 143 राष्ट्रों से आये हैं। कुल कोटा 325 बिलीयन है (3.31.2009) मुद्राकोष द्वारा 3.31.2009 तक 65 राष्ट्रों को 35.8 बिलीयन ऋण उपलब्ध कराया गया।

9.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

1. ऐसी स्थायी संस्था के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्श और सहयोग की मशीनरी प्रदान करे।
2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एवं संतुलित वृद्धि को सुगम बनाना और परिणामस्वरूप आर्थिक नीति के प्राथमिक उद्देश्यों के रूप में सब सदस्यों के रोजगार तथा वास्तविक आय के ऊंचे स्तरों को बढ़ावा देने और बनाए रखने में तथा सदस्यों के उत्पादक संसाधनों के विकास में योगदान देना।
3. विनिमय स्थिरता को बढ़ावा देना, सदस्यों में सुव्यवस्थित विनिमय प्रबन्ध बनाए रखना और प्रतियोगी विनिमय मूल्य हास से बचना।
4. सदस्यों के चालू लेन-देन के सम्बन्ध में भुगतान की बहुदेशीय प्रणाली की स्थापना करने में और उन विदेशी विनिमय प्रतिबन्धों को समाप्त करने में सहायता देना जो विश्व-व्यापार की वृद्धि में बाधा पहुंचाते है।
5. सदस्यों को उचित संरक्षणों के अन्तर्गत कोष के संसाधन उपलब्ध कराकर उनमें विश्वास जगाना और इस प्रकार उन्हें यह अवसर प्रदान करना कि वे राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि को तबाह करने वाले उपायों का आश्रय लिये बिना ही अपने भुगतान-शेष कुसमायोजनों को ठीक कर सकें।
6. उक्त उद्देश्यों के अनुरूप, सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-शेष असंतुलन की अवधि घटाना और उसकी कोटि को कम करना।

9.5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के आर्थिक साधन

IMF के आर्थिक साधन : 1976 में संशोधित प्रावधानों के बाद से प्रत्येक सदस्य देश अपने निर्धारित अभ्यंश का 75 प्रतिशत मुद्रा में तथा शेष 25 प्रतिशत किसी भी कोष मुद्रा में अथवा रिजर्व मुद्रा जमा करा सकता है। सदस्यों के अभ्यंश में आवश्यकतानुसार समय समय पर परिवर्तन किये गए।

नई हिसाबी मुद्रा : दिसम्बर 1971 तक I.M.F की हिसाबी मुद्रा अमरीकी डॉलर थी। किन्तु दिसम्बर 1971से विशेष आहरण अधिकार मुद्रा कोष की नई मुद्रा बन गई और कोष के सभी लेन-देन S.D.R. में व्यक्त किये जाने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में S.D.R. स्वर्ण मुद्रा की भूमिका निभाता है। इसी कारण इसे कागजी स्वर्ण भी कहा जाता हे। 01-01-81 से अपनाई गई पद्धति में S.D.R. का मूल्य 5 बड़े निर्यातक देशों की मुद्राओं के आधार पर निर्धारित किया गया। इन देशों को मुद्राओं को पिटारी नाम दिया गया। इन देशों की मुद्राएं है-

1. अमरीकी डॉलर 40 प्रतिशत, जापानी येन 17 प्रतिशत, फ्रांसीसी फ्रेंक व 11 प्रतिशत।
2. जर्मन मार्क 21 प्रतिशत, ब्रिटिश पाउण्ड 11 प्रतिशत।

9.6 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की संगठनात्मक संरचना

मुद्राकोष की संगठनात्मक संरचना इसके सहमति पत्र में निर्दिष्ट की गई है। मुद्राकोष के संगठन में प्रशासक मण्डल (Board of Governors) द्वारा नीति निर्धारित की जाती है। नित्य प्रति के कार्य संचालन हेतु कार्यकारी संचालक मण्डल (Board of executive Directors) होता है जिसमें प्रबन्ध संचालक (Managing director) द्वारा सदस्य देशों के कोटा में संशोधन, संचालकों के चुनाव एवं नए सदस्यों के प्रवेश सम्बन्धी निर्णय लिये जाते है।

1. **प्रशासक मण्डल** (Board of Governors) - मुद्राकोष के सबसे उच्च अधिकारी प्रशासक मण्डल है जिसमें एक गवर्नर तथा मुद्राकोष के 151 सदस्य देशों में प्रत्येक द्वारा नियुक्त वैकल्पिक (alternate) अधिकारी होता है। गवर्नर या प्रशासक सामान्य रूप से ऐसा व्यक्ति होता है जो अपने देश का वित्तमन्त्री, केन्द्रीय बैंक का गवर्नर या अपने देश में ऐसा ही उच्च पद प्राप्त किये हो।

   1978 में संशोधित प्रस्ताव के आधार पर प्रशासक मण्डल एक कौंसिल (Council) की स्थापना करते है। यह मंत्रियों के स्तर पर एक निर्णय लेने वाली संस्था होती है एवं जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का प्रबन्ध एवं नियमन किया जाता है। यह सहमति पत्र (article at agreement) में संशोधन हेतु किसी भी सुधार को प्रस्तावित कर सकती है।

   प्रशासक मण्डल द्वारा कौंसिल की स्थापना नहीं की जाती बल्कि यह अन्तरिम समिति पर निर्भर करते हैं। अन्तरिम समिति सलाह देने वाली एक ऐसी संस्था है जिसे 1974 की वार्षिक मीटिंग में स्थापित करने का निर्णय लिया गया था। सलाह देने वाली एक द्वितीय इकाई विकासशील देशों के वास्तविक संसाधनों के हस्तान्तरण की संयुक्त मंत्री कमेटी है जिसे विकास समिति कहा जाता है।

   प्रशासक मण्डल वर्ष में एक बार वार्षिक अधिवेशन में मुद्राकोष के कार्यो का निरीक्षण करते है। प्रशासक मण्डल कार्यकारी संचालक मण्डल को काफी अधिकार देते हैं जो मुद्राकोष का प्रतिदिन का कार्य सम्हालते

2. **कार्यकारी संचालक मण्डल** (Board of Executive Directors) - कार्यकारी संचालक मण्डल नियमित रूप से प्रशासनिक, क्रियात्मक तथा नीतिगत मुद्दों पर कार्य करते हुए प्रशासनिक मण्डल को वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत होने वाली समस्याओं का अध्ययन भी कार्यकारी मण्डल द्वारा किया जाता है।

   कार्यकारी मण्डल में सन् 1991 में 22 कार्यकारी निदेशक थे। इनमें से 7 कार्यकारी निदेशक चीन, फ्रांस, जर्मनी, जापान, सऊदी अरब, ब्रिटेन तथा अमेरिका से चुने गये थे। शेष 16 सदस्य अन्य देशों से चुने गये थे। कार्यकारी मण्डल विविध प्रशासनिक कार्यो का संचालन करते हैं एवं प्रबन्ध निदेशक का चुनाव करते हैं। इनके द्वारा प्रशासक मण्डल हेतु वार्षिक रिपोर्ट भी तैयार की जाती है। समय-समय पर महत्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण व अध्ययन भी किया जाता है जबकि वर्तमान समय में 186 राष्ट्र सदस्य है तथा 24990 व्यक्ति कार्यकारी सदस्य हैं।

9.7 मुद्रा कोष के कार्य

IMF ऐसे ढंग से कार्य करता है कि **ब्रिटन-वुड्ज** समझौते के नियमों में निर्धारित अपने उद्देश्यों को पूरा कर सके। यह देखना कोष का कर्तव्य है कि सभी सदस्य देश इन नियमों का पालन करें। अर्न्तराष्ट्रीय मौद्रिक घटनाओं के कारण, मूल नियमों के कुछ प्रावधान लुप्त हो गए हैं, जैसे विनिमय दरों से संबंधित प्रावधान। तदानुसार उचित समायोजन करने के लिए कोष ने अपने समझौते के नियमों में संशोधन कर दिए है।

भुगतान-शेष के क्षेत्र में कोष को **"सदाचरण का अभिभावक"** समझा जाता है। इसका लक्ष्य सदस्य देशों के प्रशुल्क (टेरिफ) और अन्य व्यापार प्रतिबंध घटाना है। चार्टर के सातवें नियम में यह प्रावधान है कि कोई सदस्य कोष की अनुमति के बिना भुगतान करने पर प्रतिबंध नहीं लगाएगा अथवा विभेदक करेंसी प्रबंध नहीं करेगा अथवा बहु करेंसी प्रबंध नहीं करेगा अथवा बहु करेंसी व्यवहारों में संलग्न नहीं होगा। सदस्य देशों द्वारा अपनाई जा रही नीति की निगरानी करना कोष का कार्य है।

कोष अपने सदस्यों को मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के संबंध में तकनीकी सलाह भी देता है। यह शोधात्मक अध्ययन करता है और उन्हें प्रकाशित करता है। जिन देशों को भुगतान-कोष विषयक कठिनाइयां हों उन्हें कोष तकनीकी विशेषज्ञ प्रदान करता है। यह अपने केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग, राजकोषीय मामलों के विभाग, सांख्यिकीय विभाग और IMF संस्थान के माध्यम से सदस्य राष्ट्रों के कर्मचारी वर्ग के लिए राजकोषीय, मौद्रिक एवं भुगतान-शेष पर अल्प प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी चलाता है।

1 **भुगतान की असाम्यता दूर करने के लिये ऋण -** अविकसित एवं विकासशील देशों को अपनी योजनाओं को सफल बनाने के लिये पूँजीगत सामान का अधिकाधिक आयात करना पड़ता है जिससे उनका भुगतान सन्तुलन प्रायःअसाम्य में रहता है। ऐसी स्थिति में मुद्राकोष अस्थायी क्या देता है जिस पर 5 प्रतिशत से 9 प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता है। पहले तीन माह की अवधि तक कोई शुल्क नहीं लिया जाता है परन्तु 5 प्रतिशत से ब्याज लगाया जाता है। ब्याज तथा शुल्क का भुगतान SDR अथवा विदेशी मुद्रा मे करना होता है।

संकटकालीन ऋण : किसी भी देश द्वारा आकस्मिक आर्थिक संकट या राजनीतिक संकट के समय कोष से ऋण प्राप्त किया जा सकता है, जैसे 1955 में स्वेज नहर के झगड़े के समय ब्रिटेन ने मुद्रा कोष से ऋण प्राप्त किया था।

स्थायित्व ऋण - ये ऋण सदस्य देशों को आर्थिक कठिनाइयों के समय विनिमय दरों के स्थायित्व लोन के लिए दिये जाते है।

मौसमी या सामयिक ऋण - जब किसी देश को मौसमी या सामयिक निर्यातों में कमी के कारण भुगतान शेष की कठिनाइयाँ उठानी पड़ती है तब उनको भुगतान शेष की प्रतिकूलता ठीक करने के लिए अल्पकालीन अवधि (6 महीने से एक वर्ष तक) के ऋण प्रदान किये जाते हैं।

चालू भुगतान की असाम्यता दूर करने के लिए ऋण - अविकसित एवं विकासशील देशों को अपनी योजनाओं को सफल बनाने के लिए पूँजीगत सामान का अधिकाधिक आयात करना

पड़ता है जिससे उनका भुगतान सन्तुलन प्राय: असाम्य में रहता है। ऐसी स्थिति में काम चलाने के लिए मुद्रा कोष अस्थायी ऋण देता है।

अन्य कार्य :

1. मुद्रा कोष ने अनेक विशेष सहायता योजनायें प्रारम्भ की है जिनके अन्तर्गत उस सहायता को लेने के लिए योग्य सदस्य देशों को वह विशिष्ट सहायता दी जाती है।
2. मुद्रा कोष अपने सदस्यों को आवश्यकतानुसार तकनीकी सहायता प्रदान करता है। यह सहायता दो प्रकार से दी जाती है। कोष अधिकारियों द्वारा भुगतान सन्तुलन, मौद्रिक नीतियों, सांख्यिकी कार्यो पर सलाह दी जाती है तथा कोष अपने अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य देश के विशेषज्ञों को नियुक्त करके उनकी सेवायें सदस्य देशों को उपलब्ध कराता है।
3. कोष सदस्य देशों के अधिकारियों को मौद्रिक एवं राजकोषीय विषयों में प्रशिक्षण देता है, ये विषय राजस्व, आर्थिक विकास, मौद्रिक नियन्त्रण, वित्तीय साधनों का प्रबन्ध, सांख्यकीय कार्य, भुगतान सन्तुलन आदि से सम्बन्धित होते हैं। इस कार्य के लिए कोष ने एक संस्था की स्थापना सन् 1964 में की थी। संस्था द्वारा कुछ सप्ताह से लेकर ग्यारह महिने तक के पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं।
4. कोष विश्व के अन्य संगठनों से निकट का सम्पर्क रखता है। उदाहरणार्थ कोष गैट (GATT) अब विश्व व्यापार संगठन (WTO) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, आर्थिक सहयोग एवं विकास संघ आदि से सम्पर्क रखता है।
5. मुद्रा कोष ने अपने यहाँ एक सांख्यिकी की ब्यूरों की स्थापना कर रखी है जो विश्व के सभी देशों की सांख्यिकीय सूचनाओं का संकलन एंव प्रकाशन करती है।
   मुद्रा कोष के कुछ प्रमुख प्रकाशन है - (i) बैलेन्स ऑफ पेमैंटस (इयर बुक) (ii) डाइरेक्शन ऑफ ट्रेड (मासिक) फाइनेन्स एण्ड डवलपमेन्ट (त्रैमासिक) आदि।

9.8 कोटा और उनका निर्धारण

कोष के सदस्यों के आवंटित कोटों के आधार पर कोष का एक सामान्य लेखा होता है। जब कोई देश कोष में शामिल होता है, तो उसका कोटा नियत कर दिया जाता है, जो उसके चन्दे के परिमाण, मताधिकार और निकासी अधिकारों को शासित करता है। जब IMF बनाया गया था तब प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक था कि वह अपने कोटा के 25 प्रतिशत का स्वर्ण के रूप में अथवा अपने स्वर्ण तथा अमरीकी डालरों के निचल अधिकृत धारणों का 10 प्रतिशत भाग, दोनों में से जो भी कम हो, उसका भुगतान करे। कोटा का शेष 75 प्रतिशत भाग देश की अपनी करेंसी में अदा किया जाए। परन्तु यह देश के ही केन्द्रीय बैंक में रखा जाता था। कोष के पास स्वर्ण रिजर्व रखने की प्रथा अप्रैल 1978 से समाप्त कर दी गई और तब से कोष को स्वर्ण रिजर्वो से अलग कर दिया गया है। अब प्रत्येक देश को यह अनुमति दे दी गई है कि वह अपनी करेंसी और कोटे के मूल्य को SDRs के रूप में रखे।

कोष की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हर पांच वर्ष के बाद कोटा का पुनरीक्षण किया जाता है और उन्हें समय-समय पर बढ़ा दिया जाता है। परन्तु कोटे तभी बढ़ाए जा सकते हैं

जब कोष के सदस्यों की कुल मतदान शक्ति के 85 प्रतिशत बहुमत से प्रस्ताव पारित हो। जब मार्च 1947 में कोष के प्रचालन शुरू हुए, तब कुल कोटे 76 बिलियन डालर थे जो 30 मार्च 1984 में बढ़कर सदर 90.1 बिलियन कर दिए गए, जब कोटों का आठवां सामान्य पुनरीक्षण (Eight general review of quotas) कार्यान्वित किया गया। नौवां पुनरीक्षण मार्च 1988 में समाप्त हो जाना चाहिए था क्योंकि 1983 में आठवां पुनरीक्षण समाप्त हुआ था। नौवां पुनरीक्षण नवम्बर 1992 में आरंभ हुआ जिसके अनुसार कोष के वित्तीय संसाधनों को SDR 146 बिलियन कोटा कर दिया गया। यह कोटा में वृद्धि करके अथवा उसके सदस्यों के कोटा में 50 प्रतिशत वृद्धि करके किया गया। एक मैम्बर देश का कोटा उसका कोष को अंशदान, उसकी सापेक्ष वोट देने की शक्ति, SDRs का आवंटन और कोष के संसाधनों तक पहुंच को निर्धारित करता है। एक मैम्बर की वोट देने की शक्ति प्रत्येक मैम्बर के 250 मूल वोट देने के अतिरिक्त, हर SDR 100,000 के लिए एक वोट पर आधारित है।

9.9 मुद्रा कोष की वित्तीय सहायता योजनाओं की प्रगति

मुद्रा कोष अपने सदस्यों को विभिन्न प्रकार की ऋण एवं सहायताएँ प्रदान करता हैं इनमें से कुछ प्रमुख ऋण एवं सहायता योजनाओं की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया गया है :

मुद्राओं का क्रय एवं पुन: क्रय (Purchases of Foreign Currencies and repurchases of Own Currencies) - मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को अपने भुगतान सन्तुलन के अस्थायी असाम्य को ठीक करने के लिए विदेशी मुद्राओं के रूप में ऋण देता है। ऋण देने के इस कार्य को सदस्य देश द्वारा विदेशी मुद्राओं के क्रय के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत एक सदस्य देश को अपने अभ्यंश के 125 प्रतिशत तक ऋण मिल सकता है जिसे पांच वर्ष में वापस करना होता है। सदस्य देश इस ऋण को वापस करता है तो उसे स्वदेशी मुद्रा के क्रय(Repurchase of own currencies के नाम से जाना जाता है।

वित्त वर्ष 1999 में सदस्य देशों द्वारा अपने अभ्यंशो के अन्तर्गत प्राप्त सुविधाओं के अन्तर्गत 24.071 बिलियन एस.डी.आर. की विदेशी मुद्रायें क्रय की जो पिछले 6 वर्षो में सबसे अधिक थी तथा 10.465 बिलियन एस. डी.आर. के तुल्य अपनी मुद्रायें वापस क्रय की अर्थात विदेशी मुद्राओं का पुन: भुगतान किया।

ऋण वचन समझौते (Standby Agreements) - कोष अपने सदस्य देशों को विपक्ष रूप से मुद्राएँ बेचने के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर विदेशी मुद्राओं के बेचने का भी वचन देता है। इस सुविधा के अन्तर्गत ऋण वचन मिलने पर एक सदस्य देश आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त मुद्रा कोष से विदेशी मुद्राएँ प्राप्त कर सकता है। ऐसे समझौते 12 माह से 18 माह की अवधि के लिए होते है। इन्हें तीन वर्ष तक की अवधि तक बढ़ाया जा सकता है। इन समझौतों में प्रत्येक निकासी का भुगतान 3 वर्ष से 5 वर्ष की अवधि में करना होता है।

विस्तार कोष की सुविधा (Extended Fund Facility) - यह सुविधा सितम्बर 1974 में सदस्य देशों के भुगतान असन्तुलन को दूर करने के लिए मध्यकालीन सहायता के रूप में प्रारम्भ की गई थी। इसके अन्तर्गत सहायता तीन वर्ष के लिए दी जाती है (जिसे चतुर्थ वर्ष तक बढ़ाया

जा सकता है) तथा इस सहायता का सदस्य देश द्वारा मुद्रा कोष को प्रत्येक निकासी के 4.5 वर्ष से 10 वर्ष की अवधि में वापस भुगतान करना होता है।

इसमें सहायता चाहने वाले देश को सहायता का उद्देश्य तथा अपनी नीतियाँ स्पष्ट करनी होती हैं तथा प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में अगले 12 महीनों में उसके द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियों तथा उपायों का विस्तृत विवरण कोष को पेश करना होता है।

1. **बफर स्टॉक वित्त पोषक सुविधा** (Buffer stock financing facility - BSFF) - सदस्य देशों के वस्तु बफर स्टॉक के वित्त की व्यवस्था करने के लिए बफर स्टॉक वित्तपोषक सुविधा 1969 में स्थापित की गई थी। यह सुविधा उधार लेने वाले सदस्य के कोटा के 30 प्रतिशत के बराबर तक है। पुन: क्रय 3 से 5 वर्षो में किए जाते हैं। परन्तु सदस्य से यह आशा की जाती है कि वह अपने देश के भीतर वस्तु कीमतें स्थिर करने मे कोष को सहयोग प्रदान करेगा।
2. **विस्तृत वित्त पोषक सुविधा** (The extended fund facility - EFF) - यह भी एक विशिष्ट सुविधा है जो 1974 में बनाई गई थी। EFF के अन्तर्गत, सदस्य देशों को कोष इस मतलब के लिए ऋण प्रदान करता है कि वे अपने अपेक्षाकृत लम्बी अवधियों के भुगतान-शेष घाटों को पूरा कर सकें और इन ऋणों की राशि सामान्य ऋण सुविधाओं के अन्तर्गत उनके निर्धारित कोटों से अधिक होती है। EFF दस वर्ष तक के लिए ऋण प्रदान करती है तथा सदस्य के कोटा के 300 प्रतिशत तक कर्जे स्वीकृत किए जाते हैं। यह निष्पादन (performance) कसौटी और निकासी किश्तों पर आधारित है। विकासशील देश इसका उपयोग कर रहे है।
3. **पूरक वित्त पोषक सुविधा** (Supplementary financing facility - SFF) - इसकी स्थापना 1977 में हुई थी। इसका उद्देश्य था कि सदस्यों को विस्तृत या उद्यत प्रबंधों के अन्तर्गत पूरक वित्तपोषक व्यवस्था प्रदान की जाए ताकि वे अपने गम्भीर भुगतान-शेष घाटों को पूरा कर सकें। इस तरह देशों की SFF के अन्तर्गत उधार लेने की लागत घटाने के लिए कोष ने 1980 में सब्सिडी लेखा खोला था जिसके माध्यम से कोष उधार लेने वाले देशों को सब्सिडी भुगतान करता है।
4. **संगठित समायोजन सुविधा** (Structural adjustment facility) - कोष ने मार्च 1966 में दरिद्रतम विकासशील देशों को रियायती समायोजन प्रदान करने के लिए SFF की स्थापना की। इसके अन्तर्गत उन्हें भुगतान-शेष समस्याओं को सुलझाने तथा मध्य अवधि समष्टि-आर्थिक एवं संगठनिक समायोजन प्रोग्रामों को कार्यान्वित करने के लिए ऋण दिए जाते' है SFF को SDR 2.7 बिलियन संसाधनों द्वारा निर्मित किया गया था जो ट्रस्ट फंड से लिये गए कर्ता पर पुनर्भुगतानों से मुख्य तौर से आते हैं। संसाधनों को अत्यधिक रियायती दरों - आधे से एक प्रतिशत ब्याज दर - पर साथ में मूल के 5.5 से 10 वर्षो में पुनर्भुगतान जिसमें पहले पांच वर्षो की छूट होती है, दरिद्रतम देशों को उपलब्ध कराए जाते हैं, वार्षिक वितरण किए जाते हैं और वे वार्षिक प्रबंधों की मंजूरी के साथ जुड़े होते हैं, जिसके अनुसार प्रथम वार्षिक प्रबंध के अन्तर्गत सदस्य 15 प्रतिशत

कोटा के बराबर ऋण प्राप्त करते हैं, 20 प्रतिशत दूसरे वार्षिक प्रबंध के अन्तर्गत तथा 15 प्रतिशत तीसरे के अन्तर्गत।

5. **वर्धित सांगठनिक समायोजन सुविधा**(Enhanced structural adjustment facility - ESAF) - कोष ने दिसम्बर 1987 में SDR 6 बिलियन के संसाधनों से निम्न आय वाले देशों की मध्य अवधि की वित्तपोषक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ESAF की स्थापना की। इसके उद्देश्य पात्रता तथा मूल प्रोग्रामों की विशेषताएं SAF के समान हैं। परन्तु पात्र सदस्य SAF की अपेक्षा ESAF के अन्तर्गत बहुत अधिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं, जो तीन वर्षीय प्रोग्राम अवधि में कोटा का 100 प्रतिशत तक तथा जिसमें विशेष परिस्थितियों में 250 प्रतिशत तक का प्रावधान है। इस सुविधा के अन्तर्गत वितरण वार्षिक की बजाय अर्द्ध-वार्षिक हैं।
6. **क्षतिपूरक एवं आकस्मिकता वित्त पोषक सुविधा**(Compensating and contingency financing facility CCFF) - क्षतिपूरक एवं आकस्मिक वित्तपोषक सुविधा अगस्त 1988 में निर्मित की गई थी। इसका उद्देश्य आयातित अनाज की लागतों में अस्थायी कमियों या आधिक्यों के लिए समय पर क्षतिपूर्ति प्रदान करना है जो सदस्यों के नियंत्रण के बाहर कारकों के कारण होती है। आकस्मिक वित्तपोषक का उद्देश्य बाह्य झटकों के होने पर कोष--समर्थित समायोजन प्रोग्रामों की गति कायम रखने के लिए सदस्यों को सहायता करना है जो सदस्यों के नियंत्रण के बाहर कारकों के कारण उत्पन्न होते हैं। 1990 में, कोष ने खाड़ी युद्ध संकट को पार करने हेतु सदस्यों की सहायता के लिए 1991 के अंत तक की अस्थायी अवधि के लिए में CCFF आयात अंश शामिल किया। तेल आयात सुविधा के अन्तर्गत क्रय प्रवेश CCFF के लिए कोटा की कुल प्रवेश सीमा के 95 प्रतिशत के अन्दर प्रदान की गई थी। कोष ने CCFF के क्षेत्र का भी प्रसार करने का निश्चय किया। यात्रा प्राप्तियों एवं वर्करों द्वारा प्रेषित धनराशियों के अलावा, अन्य सेवाओं में कमियां जैसे पैट्रोल नलियों, नहरों, जहाजों, परिवहन, निर्माण एवं बीमा से प्राप्तियों को क्षतिपूरक वित्तपोषक के अन्तर्गत निर्यात-कमियों की गणना में भी शामिल किया गया।

9.10 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलताएं

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी स्थापना से अब तक अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति की है तथा अनेक सफलताये प्राप्त की हैं जिनमें से प्रमुख सफलतायें निम्न प्रकार से है

1. मुद्रा कोष की स्थापना के समझौता-पत्र पर 30 देशों द्वारा हस्ताक्षर किये गये थे जो कि वर्तमान में 186 देश कोष के सदस्य है।
2. मुद्रा कोष की स्थापना के समय इसकी अधिकृत पूँजी 1000 करोड़ डॉलर रखी गई थी जो कि वर्तमान में 325 बिलियन डॉलर हो गई है।
3. मुद्रा कोष प्रारम्भ में सदस्यों को उनके भुगतान सन्तुलन के अल्पकालीन असाम्य को ठीक करने के लिए मुद्राओं के क्रय के रूप में ऋण देता था परन्तु वर्तमान में विभिन्न

प्रकार की परिस्थितियों जैसे : ऋण वचन समझौते, क्षतिपूरक वित्त व्यवस्था आदि में वित्तीय सहायता उपलब्ध कराता है।

4. मुद्रा कोष, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट तक स्थिर विनिमय दरों की व्यवस्था कुछ बाधाओं के बावजूद बनाये रख सका तथा अप्रैल, 1978 से लागू द्वितीय संशोधनों के अन्तर्गत सदस्य देशों को परिवर्तनशील विनिमय व्यवस्था को अपनाने की स्वतन्त्रता दे दी है। वर्तमान समय में, सदस्यों का दायित्व है कि वे मुद्रा कोष के व्यवस्थित विनिमय दरों की व्यवस्था विनिमय स्थायित्व के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये सहयोग करेंगे। कोष के कारण विनिमय दरों की व्यवस्थित प्रणाली कार्यशील है।
5. कोष ने अपनी पूँजी साधनों मे वृद्धि करके तथा SDRsकी योजना प्रारम्भ करके एवं उसका विस्तार करके अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि की है। वर्तमान आवंटित- SDRs की संख्या 2144.87 करोड़ हो गई है।
6. कोष ने विकासशील देशों एवम् अविकसित देशों को मौद्रिक तथा प्रशुल्क नीति पर महत्वपूर्ण तकनीकी सहायता प्रदान की है तथा हजारों अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया गया है ।
7. कोष, विश्व के विभिन्न देशों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण आर्थिक सूचनाओं का संकलन एवं प्रकाशन करता है जो कि नीति-निर्धारण एवं विश्लेषण में सहायक होती है।
8. मुद्रा कोष ने विश्व के विभिन्न देशों में परस्पर आर्थिक सहयोग की भावना का विकास किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश की आलोचनायें (Criticism of IMF) :

IMF ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था के रूप में अच्छा कार्य किया है। यह विभिन्न देशों को विभिन्न करेंसियां इसलिए प्रदान करता रहा है ताकि वे अपेक्षाकृत अधिक लम्बी अवधियों तक अपने भुगतान-शेषों में समायोजन कर सकें। विकसित और विकासशील दोनों ही प्रकार के देश इसके संसाधनों का व्यापक प्रयोग करते हैं। इसने अपने समझौते के नियमों में समुचित संशोधन कर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या हल करने की चेष्टा की है। इस प्रकार परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थितियों के साथ चलकर इस कोष ने अपनी लोचात्मकता प्रमाणित कर दी है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कुल मिलाकर वह अपने उद्देश्य पूरे करने में सफल हुआ है। इस पर की गई आलोचनाओं मे से कुछ पर आगे विचार किया जा रहा है -

1. कोष शुरू से ही सावधान रहा है। इसने सदस्यों को उधार देने के संबंध में बड़ी कठोर शर्तें लगा रखी है। यह ऊंची ब्याज दर से ऋण देता है।
2. कोष ने पिछले तीन दशकों में शर्त सम्बन्धी प्रथाएं चला दी है। कोष से उधार लेने वाले देश को वे शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं। 1970 के दशक से पहले कोष इस बात पर बल देता था कि कोई देश अपने भुगतान-शेष असंतुलन को दूर करने के लिए व्यय घटाए। 1970 के दशक में कोष की शर्तबन्दी के अन्तर्गत यह भी मान लिया गया कि कोष के संसाधनों से उधार मांगने वाले सदस्यों की भुगतान-शेष विषयक कठिनाइयों के कारणों, उनकी आर्थिक प्राथमिकताओं तथा उनकी सामाजिक एवं राजनैतिक आवश्यकताओं पर विचार करने की जरूरत है। 2 मार्च 1979 को, पिछली शर्तबन्दी प्रथाओं के अतिरिक्त,

कोष के संसाधनों के प्रयोग के मार्गदर्शन के लिए नए नियम बनाए गए। इनके अन्तर्गत सदस्य देश के उन समायोजन कार्यक्रमों के संबंध में अनुभवों का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाता है जिनके लिए वित्तपोषण कोष के संसाधनों से किया जाता है। अब उत्पादकता बढाने और कोष के संसाधनों से समर्पित प्रोग्रामों में संसाधन आवंटन सुधारने से संबंधित नीतियों पर नया बल दिया गया है। फिर इस बात पर भी बल दिया जाता है कि सदस्य देश विश्व-बैंक के साथ अपने सहयोग को मजबूत बनाए। उदाहरणार्थ, 1979 में भारत को 5.6 बिलियन डालर तथा 1991 में 3.2 बिलियन डालर का IMF ऋण दिया गया था, परन्तु उसमें कोष की ओर से कड़ी शर्तें अथवा कार्यकरण कसौटी रखी गई थी, जैसे बचतों, निर्यातों तथा आयातों से संबंधित उन प्रोग्रामों, नीतियों और उपायों को कार्यान्वित करना जिन्हें कोष ने निर्धारित किया था। प्रत्येक किश्त देने के समय उनका पुनरीक्षण होता था। इस प्रकार कोष अपने सदस्यों की विनिमय एवं सम्बद्ध नीतियों की कड़ी निगरानी रखता है जिससे यह कहना एक मजाक सा जान पड़ता है कि कोष की नीति यह है कि वह अपने सदस्य देशों के भीतरी आर्थिक मामला मे हस्तक्षेप नहीं करता।

3. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संबंधों में कोष प्रमुख भूमिका निभाने की बजाय गौण कार्य ही करता रहा है। यह अल्पावधिक ऋण प्रबंधों के लिए सुविधाएं प्रदान नहीं करता। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रमुख विकासशील देशों में से दस देशों के वर्ग के केन्द्रीय बैंकों ने आपस में विनिमय प्रबन्ध कर लिये। इन प्रबन्धों के अन्तर्गत ये देश अपनी करेंसियों का विनिमय भी करते हैं और अपने भुगतान-शेष विषयक अस्थाई असंतुलनों पर काबू पाने के लिए एक-दूसरे को अल्पावधिक साख भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार विनिमय प्रबन्धों से यूरोपीय करेंसी बाजार की वृद्धि हुई है। इस सबसे कोष का महत्व घट गया है।
4. कोष विनिमय स्थिरता को बढ़ावा देने और अपने सदस्यों में सुव्यवस्थित विनिमय प्रबन्ध बनाए रखने के उद्देश्य को पूरा करने में भी असफल रहा है। कोष के मूल समझौते के अन्तर्गत विनिमय दर अधिकृत कीमत से 1 प्रतिशत अधिक या 1 प्रतिशत कम हो सकती थी। यह "समायोजन आधार" (adjustable peg) प्रणाली कहलाती थी। प्रत्येक सदस्य देश की विनिमय दर "स्वर्ण डालर" के रूप में नियत की गई थी। धीरे-धीरे अमरीकी स्वर्ण स्टॉक घटता गया और अमरीकी भुगतान-शेष की स्थिति बिगड़ती चली गई। परिणामस्वरूप 15 अगस्त 1971 को ब्रेटेन- वुड्ज प्रणाली समाप्त हो गई, जब अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने यह घोषणा की, कि अब अमरीका डालरों को सोने में नहीं बदलेगा और न ही वह विनिमय दर स्थिरता बनाए रखने के लिए विदेशी विनिमय बाजारों में हस्तक्षेप करेगा। तब से मिली जुली विनिमय दर प्रणालियां चली आ रही है। जिनमें कोई राष्ट्रीय स्तर पर व्यस्थित, कोई संयुक्त रूप से चालित, और कोई आधारित विनिमय दरों की प्रणाली है। इस प्रकार, समुचित समायोजन प्रक्रिया के अभाव में ब्रेटन-वुड्ज प्रणाली 1971 में समाप्त हो गई।

5. कोष का एक उद्देश्य यह भी है कि जो विदेशी विनिमय प्रतिबन्ध विश्व व्यापार की वृद्धि में बाधक हैं उन्हें समाप्त किया जाए। कोष इस उद्देश्य को पूरा करने में सफल नहीं हुआ है। विश्व व्यापार अनेक विनिमय नियंत्रणों तथा बहुमुखी विनिमय प्रथाओं से बाधित है।
6. कोष की यह आलोचना भी की गई है कि यह विकासशील देशों के विरूद्ध और विकसित देशों के पक्ष में विभेदात्मक नीतियां अपनाता है। इसलिए इसे धनी देशों का क्लब कहा गया है। यद्यपि इसके अधिकांश सदस्य एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के विकासशील देश हैं तथापि इस पर धनी देशों का और विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमरीका का प्रभुत्व है। कोष के संसाधनों को बढ़ाने और विकासशील देशों को कर्जे मंजूर करने से संबंधित मामलों में संयुक्त राज्य अमरीका प्रायः बहुत ही कठोर रूख अपना लेता है। उदाहरणार्थ, कोटा के नौवें पुनरीक्षण के अन्तर्गत विकासशील देशों के कोटा में 36.89 प्रतिशत से 36.43 प्रतिशत कमी हुई तथा भारत में 2.45 प्रतिशत से 2.26 प्रतिशत की।

इन आलोचनाओं के बावजूद IMF अपने को बदलती अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थितियों के अनुरूप ढालने में पर्याप्त रूप से लचीला रहा है। समझौते के मूल नियमों में 1978 में संशोधन किया गया जिसके अनुसार लचीली ब्याज दरों को कानूनी ठहराया गया, कोष के संसाधन बढ़ाने के लिए कोटे बढ़ाए गए और कोष के लेन-देनों में सोने का प्रभुत्व समाप्त किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या हल करने के लिए कोष ने SDR की प्रणाली चलाई। अपने सदस्यों को उनके भुगतान-शेष घाटों पर काबू पाने में सहायता देने के लिए कोष क्रमशः उनकी उधार लेने की सीमा बढ़ाता रहा है जो कि आज उनके नियतांशों के 450 प्रतिशत के बराबर है। कोष CFF, BSFE, EFF, SFF इत्यादि जैसी संस्थाओं के माध्यम से भुगतान-शेष एवं अन्य समस्याओं में विकासशील देशों की सहायता करता रहा है। अन्तिम बात, कोष की उपयोगिता और सफलता का प्रमाण यह है कि इसके सदस्यों की संख्या जो 1947 में 44 थी, 1992 में बढ़कर 173 हो गई।

9.11 विशेष आहरण अधिकारी

1970 के प्रारम्भ में IMF ने विशेष आहरण अधिकार (SDRs) के निर्माण और जारी करने की एक स्कीम चलाई SDRs को कागजी सोना भी कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्यों को उनके कोटे के अनुसार विशेष आहरण अधिकारों का वार्षिक वितरण करता है। समायोजन अथवा अन्य उद्देश्यों हेतु कोषों की आवश्यकता पड़ने पर अपने विशेष आहरण अधिकार का प्रयोग कर सकता है। संक्षेप में विशेष आहरण अधिकारों का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में विधिवत तथा नियमित वृद्धि करना है।

9.12 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं भारत

भारत उन प्रांरभिक 44 देशों में से है जिन्होंने -

1. ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन में भाग लिया।
2. शुरू में भारत उन देशों में से एक था जिनके अभ्यंश सबसे अधिक थे अतः भारत को I.M.F. के संचालक मण्डल में स्थाई स्थान दिया गया था। किन्तु 1970 के बाद

I.M.F. में अन्य देशों का कोटा अधिक हो जाने के कारण संचालक मण्डल में भारत की स्थाई सदस्यता समाप्त हो गई।

3. भारत का प्रारंभिक अभ्यंश 400 मिलियन डीलर था जो नवंबर 1992 में 3.555 मिलियन SDR हो गया।
4. भुगतान शेष की कठिनाईयों को दूर करने के लिए भारत ने मुद्रा कोष से समय समय पर ऋण लिये हैं। प्रारंभ में भारत ने 100 मिलियन डॉलर का ऋण लिया। 1957 में 200 मिलियन डॉलर का ऋण लिया। इस प्रकार से अभी 63 मिलियन डॉलर वापिस करना बचा हुआ ही था लेकिन 1961 में कोष से 250 मिलियन डॉलर अतिरिक्त ऋण लेने का समझौता किया क्योंकि उस समय भारत का विदेशी विनिमय भण्डार खतरनाक ढ़ग से कम हो गया था। 1965-68 में एक बार फिर 300 मिलियन डॉलर का ऋण देकर I.M.F. ने हमें संकट से उबारा।
5. 1975 में I.M.F. ने तेल सुविधा के अंतर्गत 210.3 मिलियन SDR का ऋण दिया। 1978, 1977 में भी 200 मिलियन का SDR ऋण दिया।
6. 1981 में भारत ने अपनी भुगतान शेष की समस्या का समाधान करने के लिए 5000 मिलियन का विशाल ऋण लिया। यह भुगतान शेष की समस्या तेल निर्यातक देशों द्वारा पैट्रोलियन पदार्थो की कीमतों में भारी वृद्धि से हुई थी। यह रकम I.M.F. द्वारा किसी देश को दिया गया सबसे बड़ा ऋण था।
7. 1988-89 में भारतीय भुगतान शेष एक बार फिर दबाव मे आया और भारत एक बार फिर मुद्रा कोष के पास गया। वही उसे 1.2 मिलियन डॉलर का ऋण निम्न शर्तों पर दिया गया।
   - रूपये का 22 प्रतिशत-अवमूल्यन करे।
   - आयात शुल्क में भारी कटौती की जायेगी।
   - उत्पाद शुल्क में वृद्धि।
   - लोक-व्यय में कटौती।

वर्ष 1991-31 मार्च को I.M.F. से लिया गया ऋण 4301 मिलियन डॉलर था जो 2001 में 5565 मिलियन अमरीकी डॉलर हो गया।

9.13 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता

इस तरलता का संबंध अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान से है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वे सब साधन शामिल होते हैं जो देश के मौद्रिक अधिकारियों के पास भुगतान शेष के घाटे की पूर्ति करने हेतु उपलब्ध होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के तीन प्रमुख साधन हैं -

1. स्वर्ण
2. आधारभूत मुद्राएँ
3. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अथवा बहुपक्षीय समझौते के माध्यम से प्राप्त साख

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के दो पहलू है -

1. परिमाणात्मक
2. गुणात्मक

1. परिमाणात्मक का अर्थ पर्याप्तता से है
2. गुणत्मकता से तात्पर्य तरलता के लिए आवश्यक रिजर्व की प्रकृति और उसकी सांचना से है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के दीर्घकालीन उपाय -

1. स्वर्ण उत्पादन में वृद्धि।
2. स्वर्ण कोषों का समान वितरण।
3. विनिमय दरों को लोचपूर्ण बनाना।
4. स्वर्ण मूल्यों में हो रही कमी पर नियंत्रण।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न योजनाएँ समय समय पर प्रस्तुत की गई है जिनमें प्रमुख हैं -

Hareod, Triffin, Stamp, Moulding & Musa Plan etc.

Special Drawing Rights

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को हल करने के लिए I.M.F. ने एक नई मौद्रिक योजना पेश की जिसे S.D.R नाम दिया गया व 1971 में लागू किया गया। S.D.R का मूल्य निर्धारण उन 5 देशों की मुद्राओं द्वारा होता है जिनके निर्यात का मूल्य 1985-89 की अवधि में सर्वाधिक रहा।

9.14 सारांश (Conclusion)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जिसे कोष भी कहते हैं, एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी मौद्रिक संस्था है जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहभागिता सहयोग को प्रोत्साहित करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार विमर्श और सहयोग की मशीनरी प्रदान करती है। कोष, विनिमय स्थिरता को बढ़ावा देता है तथा सदस्यों में सुव्यवस्थित विनिमय प्रबन्ध बनाये रखना और प्रतियोगी विनिमय मूल्य हास से बचना है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलित विकास सम्भव हो पाता है तथा बहु-पक्षीय भुगतानों की व्यवस्था करके विनिमय प्रतिबंधों को समाप्त करना तथा न्यूनतम करता है। कोष अपने सदस्य देशों के प्रतिकूल भुगतान संतुलनों को अनुकूल बनाने के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करता है तथा कोष की सहायता से असंतुलन की मात्रा एवं अवधि में यथासंभव कमी की जा सकती है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आज विश्व की जरूरत बन गया है जो मौद्रिक सहायता के साथ-साथ तकनीकी एवम् प्रशिक्षण सेवायें भी उपलब्ध कराता है।

9.15 शब्दावली

कागजी सोना (Paper Gold) : विशेष आहरण अधिकार को कागजी सोना कहते हैं।

Reserve Tranche- एक मुद्राकोष की नियमित आधारभूत उधार देने की नीति है।

बफर कोष वित्तीय सुविधा (Buffer Stock Financing): सदस्य देशों की भुगतान संतुलन की आवश्यकता के आधार पर बफर स्टाक हेतु वित्त उपलब्ध कराया जाता है।

भुगतान सन्तुलनः किसी देश विशेष की विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण माँग एवं पूर्ति की परिस्थिति से है तथा किसी देश द्वारा एक वर्ष में किये गये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों की प्राप्तियों ओर भुगतानों का व्यवस्थित रिकार्ड होता है।

प्रशुल्कः प्रशुल्क वह कर है जो आयातों पर लगाया जाता है। प्रशुल्क और आयात शुल्क या सीमा शुल्क एक दूसरे के पर्याय शब्द है।

कोटा - कोटा वस्तु के आयात या निर्यात पर लगाया गया भौतिक प्रतिबन्ध है।

Scarce Currencies - वो मुद्रा जो माँग से कम मात्रा में पूर्ति की गई हो।

9.16 स्वपरख प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना क्यों की गई? मुद्राकोष के प्रमुख उद्देश्यों व उपलब्धियों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. उन विधियों को स्पष्ट कीजिये जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में साम्य बनाये रखने का प्रयास करता है। इन विधियों की सफलता का मूल्यांकन कीजिए।
3. "मुद्राकोष केवल अस्थायी भुगतान सन्तुलन को सुधारने का प्रयास करता है।" व्याख्या कीजिए।
4. विनिमय दरों में स्थायित्व हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका को समझाइए।
5. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यो की व्याख्या करते हुये इसकी सफलताओं एवं असफलताओं को समझाइये।

9.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय - फ्रांसिस
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त और विदेशी विनिमय - एस.के. माथुर
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय अजामी वित्त सिद्धान्त एवं अभ्यास - बी.ए. अवधानी

इकाई - 10 : विश्व व्यापार संगठन
(World Trade Organisation)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 विश्व व्यापार संगठन एवम् गैट में अन्तर

10.3 विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य

10.4 विश्व व्यापार संगठन के कार्य

10.5 विश्व व्यापार संगठन का प्रशासन

10.8 विश्व व्यापार संगठन का संगठनात्मक ढाँचा

10.7 विश्व व्यापार संगठन के लाभ

10.8 विश्व व्यापार संगठन के दोष

10.9 विश्व व्यापार संगठन और भारत

10.10 भारत को विश्व व्यापार संगठन से खतरे

10.11 विश्व व्यापार संगठन और भारत से सम्बन्धित विवाद

10.12 उरूग्वे चक्र

10.13 गैट नियम

10.14 व्यापार सम्बन्धी निवेश उपाय - ट्रिम्स

10.15 व्यापार सम्बन्धी बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार - ट्रिप्स

10.16 सारांश

10.17 शब्दावली

10.18 स्वपरख प्रश्न

10.19 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् समझ सकेंगे कि -

- विश्व व्यापार संगठन की स्थापना क्यों की गई है?
- विश्व व्यापार संगठन और गैट में क्या अन्तर है?
- विश्व व्यापार संगठन विश्व में व्यापार वृद्धि के लिए किस प्रकार सहयोग करता है?
- विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक विवादों के निपटारे की क्या प्रक्रिया है?
- विश्व व्यापार संगठन से विकासशील देशों पर क्या प्रभाव उत्पन्न होंगे?

10.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने, व्यापार में परिमाणात्मक प्रतिबंधों को हतोत्साहित करने तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित विभिन्न समस्याओं को सुलझाने हेतु जिस गेट (GATT-General agreement on Tariffs and Trades) की स्थापना 30.10.1947 को 23 देशों द्वारा हस्ताक्षर करके की गई थी। तथा जब अन्य देशों (30) ने भी इस पर हस्ताक्षर कर दिये थे तो 1 जनवरी,1948 को गेट लागू हुआ था, उसका अस्तित्व 12.12.1995 को समाप्त हो गया था और उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में एक अधिक शक्तिशाली संगठन विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना की गई।

गेट के आठवें चक्र की वार्ता के डंकल प्रस्तावों को स्वीकार करते हुये 15.04.1974 को मोरक्को के मराकन नगर में गेट के 124 सदस्य देशों ने इस पर हस्ताक्षर किये जिसके परिणामस्वरूप 01.01.1995 को विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गई। 30.12.1994 को इस समझौते पर हस्ताक्षर करके भारत, विश्व व्यापार संगठन का संस्थापक सदस्य बन गया। गेट के सभी सदस्यों द्वारा 01.01.1995 तक विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता को ग्रहण कर पाने के कारण गेट का अस्तित्व दिसम्बर 95 तब बनाये रखने का निर्णय लिया गया। अंततः 5 दशक तक विश्व व्यापार पर निगरानी रखने वाले इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अस्तित्व 12.12.95 को समाप्त हो गया। विश्व व्यापार संगठन का मुख्यालय गेट की ही भाँति जेनेवा में है। नवम्बर 1999 तक इसकी सदस्य संख्या 135 थी। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना सदस्य देशों की संसदों द्वारा अनुमोदित एक अन्तर्राष्ट्रीय संधि के आधार पर की गई है। अत: गेट की अस्थाई प्रकृति के विपरीत विश्व व्यापार संगठन एक स्थाई संगठन है। भारत गेट तथा विश्व व्यापार संगठन दोनों का ही संस्थापक सदस्य रहा है।

10.2 विश्व व्यापार संगठन एवम् गैट में अन्तर

1. गैट की प्रकृति अस्थाई थी जबकि विश्व व्यापार संगठन की प्रकृति स्थाई है।
2. विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य गैट के उद्देश्यों से अधिक व्यापक, सार्थक एवं प्रभावी हैं। यद्यपि विश्व व्यापार संगठन के तीन उद्देश्य (जीवन स्तर में सुधार, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति एवं वस्तुओं के उत्पादन एवं व्यापार का विस्तार करना) गैट के भी उद्देश्य रहे हैं, लेकिन इस संगठन के इन तीन उद्देश्यों के अलावा और पांच उद्देश्य भी हैं।
3. विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्यों में तथा गैट के उद्देश्यों में संख्यात्मक अन्तर होने के साथ-साथ गुणात्मक अन्तर भी है।
4. विश्व व्यापार संगठन की प्रस्तावना में विकासशील देशों के लिये सकारात्मक प्रयासों की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है जबकि गैट ने विकासशील देशों की समस्याओं पर सिर्फ विचार ही किया था।
5. गैट की कार्यप्रणाली की गति धीमी रही थी जबकि विश्व व्यापार संगठन की कार्यप्रणाली तीव्र गति से कार्य करती है।

6. गैट, विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करता रहा है, जबकि विश्व व्यापार संगठन में साधनों के अनुकूलतम उपयोग को सुस्थिर विकास तथा पर्यावरण की सुरक्षा एवं संरक्षण जैसे जीवन्त और सामयिक विषयों के साथ सम्बद्ध किया गया है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है विश्व व्यापार संगठन गैट का विस्तृत, व्यापक, प्रभावी, सार्थक, सुसंगत रूप है क्योंकि गैट की व्यवस्था और कार्यकरण अनेक दोषों से ग्रसित रही - विशेषकर यह विकासशील राष्ट्रों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं थी। यह विकसित राष्ट्रों की हित पोषक तथा एक जेबी संस्था बन कर रह गई जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन विकासशील राष्ट्रों का हित पोषक बना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित नीतियों, वैधानिक व्यवस्था और उनके क्रियान्वयन को और अधिक तार्किक सुसंगत तथा प्रभावी बनाने में सहयोग प्रदान करता है।

10.3 विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य

विश्व व्यापार संगठन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

1. वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं व्यापार को बढ़ावा देना।
2. प्रभावपूर्ण मांग एवं रोजगार में व्यापक एवं प्रभावी वृद्धि करना।
3. विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना।
4. सतत तथा सुस्थिर विकास की प्रक्रिया जारी रखना।
5. सदस्य राष्ट्रों के जीवन-स्तर में वृद्धि या सुधार करना।
6. पर्यावरण का संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान करना।
7. विकास के अनुरूप निरन्तर चलते रहने के लिये साधनों में वृद्धि करना।

10.4 विश्व व्यापार संगठन के कार्य

1. **एक मंच के रूप में कार्य करना:** विश्व व्यापार संगठन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रथम कार्य अंतरराष्ट्रीय समझौते से सम्बन्धित विचार-विमर्श के लिये तथा व्यापार एवं शुल्क से संबधित किसी भी मसले पर सदस्य देशों के बीच विचार विमर्श हेतु सामूहिक संस्थागत मंच के रूप में कार्य करना है।
2. **विश्व व्यापार समझौते हेतु सुविधायें उपलब्ध कराना:** विश्व व्यापार संगठन का दूसरा अति महत्वपूर्ण कार्य है विश्व व्यापार समझौते के क्रियान्वन परिचालन एवं प्रशासन हेतु सुविधायें उपलब्ध कराना है।
3. **विवादों के निपटारे हेतु कार्य करना:** संगठन अपने सदस्य राष्ट्रों के बीच व्यापार तथा इससे सम्बन्धित विवादों के निपटारों से संबंधित नियमों एवं प्रक्रियाओं को प्रायोजित करता है।
4. **व्यापार नीति समीक्षा के प्रावधानों को लागू करना -** विश्व व्यापार संगठन का यह भी कार्य है कि व्यापार नीति समीक्षा तंत्र से संबंधित नियमों एवं प्रावधानों को लागू करता है।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक से सहयोग करके कार्य करना:** संगठन आर्थिक नीति निर्माण में पहले से अधिक सामंजस्य स्थापित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व बैंक से सार्थक एवं प्रभावी सहयोग स्थापित करता है।
6. **विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग करना -** विश्व व्यापार संगठन का अन्तिम कार्य विश्व के सीमित संसाधनों के अनुकूलतम प्रयोग को प्रोत्साहित करना है ताकि सदस्य राष्ट्रों का समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सके।

10.5 विश्व व्यापार संगठन का प्रशासन

संगठन के कार्य संचालन के लिए एक सामान्य परिषद है। जिसमें प्रत्येक सदस्य देश का एक स्थाई प्रतिनिधि होता है। इसकी बैठक सामान्यत: माह में एक बार जिनेवा में होती है। विश्व व्यापार संगठन में सर्वोच्च अधिकारी प्राप्त इसका मंत्रीस्तरीय सम्मेलन है। इस सम्मेलन का आयोजन प्रत्येक 2 वर्ष बाद होता है। दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यो के संचालन हेतु संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी महानिदेशक होता है जो सामान्य परिषद द्वारा चार वर्ष के लिए चुना जाता है। महानिदेशक की सहायता के लिए सदस्य देशों द्वारा चार निदेशक भी चुने जाते है।

विश्व व्यापार संगठन के सम्मेलन -

1. **प्रथम सम्मेलन 1996 में सिंगापुर 09-13 दिसम्बर** तक हुआ इसमें विचारणीय प्रमुख मुद्दों में मानकों
   निवेश तथा प्रतिस्पर्धा को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जोडने के विषय सम्मिलित किये गए। इसके अतिरिक्त टैक्सटाईल तथा सूचना प्रौद्यौगिकी के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी विचारणीय मुद्दे भी शामिल थे।
2. **द्वितीय सम्मेलन 1998 जेनेवा में -** जिसमें 130 देशों के वाणिज्य मंत्रियों ने भाग लिया। इसमें भारत ने क्षेत्रीय व्यापारिक गुटों के फैलाव का विरोध किया।
3. **तृतीय सम्मेलन - अमरीका में 1999** में हुआ। इसमें 135 सदस्यों ने भाग लिया। इस सम्मेलन को लोगों के विरोध का सामना करना पड़ा। प्रदर्शनकारियों का आरोप था कि मानवाधिकार से लेकर पर्यावरण संरक्षण तक के अनेक मुद्दों पर नागरिक संस्थाओं के विचारों को यह संगठन अनदेखा कर रहा है।
4. **चतुर्थ सम्मेलन - 2001 में दोहा,** में आयोजित हुआ। इसमें भारत ने सक्रिय भूमिका निभाई। इसमें जन स्वास्थ्य नीतियों व कृषि जैसे मुद्दों पर विचार किया गया।

10.6 विश्व व्यापार संगठन का संगठनात्मक ढाँचा

विश्व व्यापार संगठन का चार-स्तरीय संगठनात्मक ढाँचा है जिससें प्रथम स्तर पर मन्त्री स्तरीय सम्मेलन, दूसरे स्तर पर सामान्य परिषद, तीसरे स्तर पर विशिष्ट समझौते से सम्बन्धित कार्यदल तथा अन्तिम स्तर पर सचिवालय है।

1. **मंत्री स्तरीय सम्मेलन** (Ministeri at Conference) संगठन के शीर्ष स्तर पर इसके सभी सदस्य राष्ट्रों के मंत्रियों का सम्मेलन है जो विश्व व्यापार संगठन का सर्वोच्च नीति-निर्माता निकाय है। इसकी बैठक कम से कम दो वर्ष में एक बार होना अनिवार्य है। बीच की अवधि में मंत्री स्तरीय सम्मेलन का कार्य सामान्य परिषद् करती है। मंत्री

स्तरीय सम्मेलन द्वारा विभिन्न विषयों जैसे व्यापार एवं विकास, व्यापार एवं पर्यावरण, भुगतान सन्तुलन, प्रशुल्क आदि से सम्बन्धित अलग-अलग समितियाँ बनाई जा सकती है जिनकी सदस्यता सभी राष्ट्रों के लिये खुली होती है।

2. **सामान्य परिषद्** (General Council) - संगठन के द्वितीय स्तर पर सामान्य परिषद् होती है जिसके प्रतिनिधि सभी सदस्य राष्ट्रों से होते हैं। यह समिति उस अवधि में भी कार्यरत रहती है जिस समय मन्त्री स्तरीय सम्मेलन कार्यरत नहीं होती है। सामान्य परिषद के कार्यो में तीन क्षेत्रवार परिषदें सहयोग करती है- वस्तु व्यापार परिषद, सेवा व्यापार परिषद् तथा बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार से सम्बन्धित पहलुओं के लिये परिषद्। सामान्य परिषद् के कार्यो में से उसका एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि विवाद निपटान प्रक्रिया की निगरानी करना
   या विवाद निपटारा निकाय के रूप में कार्य करना।
3. **विशिष्ट समझौतों से सम्बन्धित कार्यदल** (Goods Council, Service Council and Intellectual Property Council): विश्व व्यापार संगठन के तृतीय स्तर ढाँचे पर गठित समिति विशिष्ट समझौतों तथा विषयों के लिये गठित की हुई है जैसे - निवेश विषयों सम्बन्धी उपाय परिषद, व्यापार सम्बन्धी सम्पदा अधिकार परिषद, वस्तु व्यापार व सेवाओं में व्यापार पर सामान्य समझौता। इन समितियों का कार्य अपने से सम्बन्धित समझौतों के संचालन की देखभाल करना है।
4. **सचिवालय** (Secretariat): विश्व व्यापार संगठन के संगठनात्मक स्तर के चतुर्थ स्तर पर एक सचिवालय है। संगठन चूँकि एक पूर्ण निकाय और वैधानिक अस्तित्व वाला संगठन है; इसलिए इसके कार्यो के निष्पादन हेतु एक सचिवालय, इसका मुख्य कार्यकारी अधिकारी तथा अधिकारियों एवं कर्मचारियों का होना आवश्यक है, जो इसके पास है। सचिवालय का प्रमुख अथवा शीर्ष कार्यकारी अधिकारी महानिदेशक (Director-General) होता है, जो सदस्य राष्ट्रों के मंत्री स्तरीय सम्मेलन में चुना जाता है। संगठन का सचिवालय महानिदेशक की देखरेख में कार्य करता है।

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के समय गैट (GATT) के तत्कालीन महानिदेशक पीटर सदरलैण्ड को इसका कार्यकारी महानिदेशक नियुक्त किया गया। तत्पश्चात इटली के पूर्व व्यापार मंत्री रिनेटो रूगेरो को विश्व व्यापार संगठन का प्रथम महानिदेशक चुना गया। विश्व व्यापार संगठन के संगठनात्मक ढाँचे को अग्रांकित चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है -

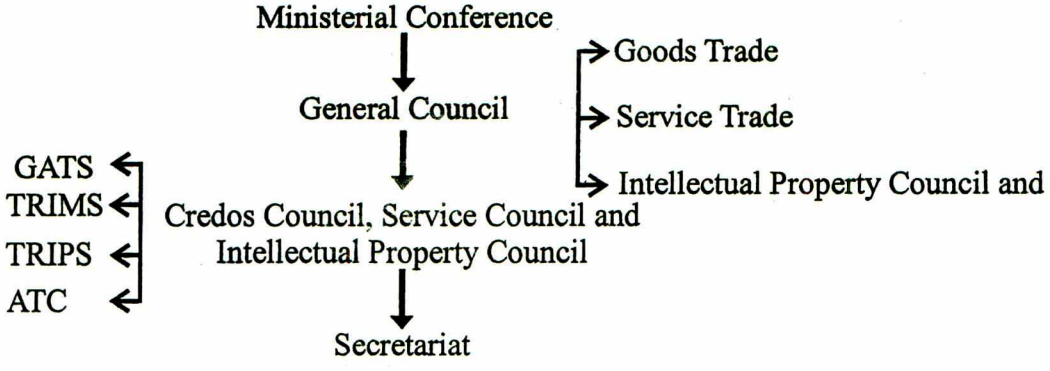

10.7 विश्व व्यापार संगठन के लाभ

1. विश्व व्यापार संगठन की स्थापना से सभी राष्ट्रों को विश्वव्यापी बाजार उपलब्ध हो रहा है तथा इसकी अच्छी बाजार पहुँच है जिससे आय की वार्षिक वृद्धि होने की सम्भावना होती है।
2. विश्व व्यापार संगठन बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था को प्रोत्साहन देता है जिससे निर्यातों में तीव्र वृद्धि की सम्भावनायें प्रबल हो गयी है।
3. विश्व व्यापार संगठन व्यवस्था के तहत विकसित देश अपने औद्योगिक उत्पादों के तटकरों में कमी करने की सम्भावना में वृद्धि होती है।
4. विश्व व्यापार संगठन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर आधारित होता है जिससे विश्व संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग हो सकेगा, साथ ही विश्व के व्यापारिक लाभों में भी वृद्धि होगी।
5. विश्व व्यापार संगठन व्यवस्था के कारण विकासशील देशों के निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा और उनकी व्यापार शर्तों में सुधार हो सकेगा।
6. विश्व व्यापार संगठन के द्वारा गैर-तटकर बाधाओं के तटकरीयकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि उत्पादों को शत-प्रतिशत सुरक्षा प्राप्त हो सकेगी।
7. विश्व व्यापार संगठन के कारण उपभोक्ता को अच्छी व सस्ती वस्तुयें उपलब्ध हो सकेगी।
8. विश्व व्यापार संगठन खुली प्रतिस्पर्धा का पक्षधर है इसलिये उत्पादन लागतों में कमी होगी और उनकी गुणवत्ता में सुधार होगा।
9. तकनीकी सुधार सम्भव हो सकेगा।
10. विकसित देशों द्वारा आयात शुल्कों में कमी करना।
11. विश्व संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना।
12. व्यापार वृद्धि से विश्व के सभी राष्ट्रों का लाभ प्राप्त होगा।

10.8 विश्व व्यापार संगठन के दोष

यद्यपि विश्व व्यापार संगठन की स्थापना अपने आप में एक अद्भुत घटना है परन्तु इससे सम्पूर्ण विश्व को लाभ पहुँचने की जगह गैट की तरह इस पर भी विकसित राष्ट्रों का प्रभुत्व हो गया जिसके कारण सबसे अधिक खतरा विकासशील राष्ट्रों को हो गया है इसलिये अभी तक अनेक राष्ट्र इसके सदस्य नहीं बन पाये हैं। विकासशील राष्ट्रों को इन संगठन से निम्न खतरों की आशंका बनी हुई है -

1. विकासशील राष्ट्रों को बहुपक्षीय समझौते के उल्लंघन करने पर दण्डात्मक कार्यवाही का भय बना रहता है।
2. विकासशील राष्ट्रों को अपनी घरेलू आर्थिक नीतियों को विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों व व्यवस्थाओं के अनुरूप समायोजित करने की बाध्यता उत्पन्न हो गयी है जिससे उनके स्वतन्त्र नीति निर्धारण का अधिकार प्रतिबन्धित हो जाने की स्थिति बन गयी है।

3. विकासशील देशों के अनुसार विश्व व्यापार संगठन व्यवस्थाओं के अनुरूप चलने के लिये बाध्य करता है तथा उनके साथ पक्षपातपूर्ण रूख अपनाता है।
4. विश्व व्यापार संगठन विकासशील देशों पर अपने वैधानिक प्रावधानों में परिवर्तन करने के लिये दबाव डालता हैं।
5. विश्व व्यापार संगठन के समक्ष विवाद बढ़ रहे है। जिसके कारण इसकी उपादेयता पर प्रश्न चिन्ह लग गया है।
6. पर्यावरण के नाम पर विकसित राष्ट्र प्रदूषण नियंत्रण की प्रविधियों को ऊँचे दाम पर बेचकर विकासशील देशों का आर्थिक शोषण करते हैं।
7. विश्व व्यापार संगठन की आड़ में विकसित राष्ट्र, विकासशील राष्ट्रों पर गैर-व्यापार सम्बन्धी सामाजिक मुद्दों के नाम पर मजदूरी दरें बढ़ाने के लिये दबाव बनाये रहते हैं। विकसित देश अपना उल्लू सीधा करने के लिये दोहरी नीति और मनमानापन कर रहे हैं।
8. विश्व व्यापार संगठन की सहायता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का हस्तक्षेप बढ़ गया है तथा इनके वर्चस्व का भय है जिसके परिणाम स्वरूप विकासशील राष्ट्रों का आर्थिक शोषण बढ़ जायेगा।

10.9 विश्व व्यापार संगठन और भारत

भारत 1947 में स्थापित गैट तथा 1995 में स्थापित विश्व व्यापार संगठन का संस्थापक सदस्य रहा है। भारत का विश्व व्यापार में अपेक्षाकृत स्वल्प भाग होने के बावजूद भी विश्व व्यापार संगठन में भारत की भूमिका अत्यधिक प्रभावी रही है।

1. अगले आठ वर्षो तक पेटेन्ट कानून में छूट मिलने के कारण प्राकृतिक उत्पादों के पेटेन्ट की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह मार्च 2005 में लागू किया गया था।
2. प्रशुल्कों में छूट प्रदान की गई है जिससे उपभोक्ताओं को भारत की अच्छी वस्तुओं के उपयोग का सुअवसर प्राप्त होगा। वस्तुओं पर 25 प्रतिशत, औद्योगिक वस्तुओं पर 40 प्रतिशत तथा कृषि वस्तुओं पर 100 प्रतिशत प्रशुल्क की छूट प्रदान की गई है।
3. मई 1997 में भारत सरकार ने 9 साल तक के लिये सभी वस्तुओं एवम् सेवाओं से प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये है परन्तु कुछ आयातित देशों द्वारा यह समय स्वीकार नहीं किया गया अपितु 6 वर्ष के लिये ही प्रतिबन्ध हटाया गया है।
4. भारत के निर्यातों में प्रतिवर्ष 150 से 200 करोड़ डीलर के समकक्ष वृद्धि होने की आशा है।
5. विश्व व्यापार संगठन के कारण भारत को विकसित राष्ट्रों में भी अपने माल के बेचने के लिये अच्छे बाजार पहुँच के अवसर प्राप्त हो रहे हैं।
6. विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता के फलस्वरूप भारत में विदेशी पूँजी निवेश में भारी वृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो रहा है।
7. उन्नत प्रौद्योगिकी का उपयोग सम्भव हो सका।
8. विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि हो सकी।

9. विश्व व्यापार संगठन के सदस्य के नाते भारत वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार तथा इनसे सम्बन्धित विवादों के निपटारे हेतु संगठन में शिकायत दर्ज करवा सकता है और वहां अपना पक्ष प्रभावी ढंग से रखकर उनका उपयुक्त समाधान निकलता सकता है।

10.10 भारत को विश्व व्यापार संगठन से खतरे

भारत को विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता से जहाँ अनेक फायदे है वहाँ कुछ हानि होने की आशंका भी है। भारत को इस संगठन से निम्नलिखित खतरे हो सकते हैं:

1. भारतीय बाजार विदेशी वस्तुओं के लिये खुले रखने की विवशता के कारण देश विदेशी वस्तुओं का डम्पिंग ग्राउण्ड बन जायेगा जिससे स्वदेशी उद्योगों का पतन होने लगेगा।
2. मुक्त व्यापार नीति तथा विदेशी वस्तुओं पर प्रतिबन्ध के अभाव में भारतीय औद्योगिक जगत को विकसित राष्ट्रों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा।
3. विश्व व्यापार संगठन के समझौते के अनुसार भारत को भी खाद्यान्नों का आयात करना पड़ेगा जबकि भारत खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर देश है।
4. विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्थाओं के कारण भारत को विदेशी कम्पनियों को सेवा क्षेत्र में भी प्रवेशाज्ञा देनी होगी जिसके परिणामस्वरूप विदेशी कम्पनियों के आधिपत्य का भय बना रहेगा।
5. विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के अनुसार भारत के कृषि एवं अन्य क्षेत्रों में सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता में कमी करनी होगी।
6. व्यापार सम्बन्धी बौद्धिक सम्पदा अधिकारों की योजना के क्रियान्वयन के कारण भारत को ट्रेडमार्क, पेटेन्ट राइट आदि के उपयोग के लिये भारी रायल्टी का भुगतान करना पड़ेगा।
7. भारत को आन्तरिक आर्थिक नीतियों के निर्धारण में स्वतन्त्रता का अभाव रहेगा।
8. विश्व व्यापार संगठन द्वारा गैर-व्यापार सामाजिक मुद्दों के नाम पर विकासशील राष्ट्रों जैसे भारत का शोषण किया जाता है।
9. 1998-1999 के बजट में भारत के आयातों पर 4 प्रतिशत का विशेष शुल्क लगाने पर स्वदेशी के विचार को धक्का लगा है जिसकी शिकायत विश्व व्यापार संगठन के अनेक उन्नत राष्ट्रों ने की है जैसे अमरीका, कनाडा, जापान आदि।

10.11 विश्व व्यापार संगठन और भारत से संबन्धित विवाद

विश्व व्यापार संगठन के समक्ष अब तक 14 शिकायतें दर्ज हुई हैं जिनमें से 5 शिकायतें भारत ने दर्ज करवाई है। इन शिकायतों के बारे ने वर्तमान स्थिति का वर्णन यहीं किया जा रहा है:

1996 में भारत और पोलैण्ड के बीच स्वचालित वाहनों के आयातों के बारे में उत्पन्न विवाद, जुलाई 1996 में द्वि-पक्षीय समझौता हो गया था।

अमरीका ने भारत से आयात किये जाने वाले महिलाओं और लड़कियों के गर्म कोटों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस मामले को भारत द्वारा विश्व व्यापार संगठन में उठाये जाने के कारण 1 अप्रैल, 1996 से अमेरिका ने इन वस्तुओं के आयातों से प्रतिबन्ध उठा लिया और इसी के साथ

यह मामला समाप्त हो गया। मई 1997 की विवाद निपटारा समिति (DSB) की बैठक में अमेरिका द्वारा भारत से आयात किये जाने वाले गर्म कमीजें तथा ब्लाउजों पर लगाये गये सुरक्षात्मक उपायों को विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों का उल्लंघन माना।

वस्त्रों तथा कपड़ा उत्पादों (Textiles & Clothing Products) के भारत से आयातों पर तुर्की द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का विवाद अभी विचाराधीन है। भारत (मलेशिया, थाइलैण्ड तथा पाकिस्तान सहित) और अमेरिका के बीच जो विवाद कुछ Shrimp तथा अन्य उत्पादों पर उसके द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाये गये, उसे विवाद पेनल ने अमेरिका के खिलाफ तथा भारत व अन्य राष्ट्रों के पक्ष में निर्णय दिया।

अमेरिका तथा यूरोपीय समुदाय ने अपनी अलग-अलग शिकायतों में भारत पर औषध तथा कृषिजन्य रसायनों, उत्पादों पर भारत के पेटेन्ट प्रतिबन्धों को बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के व्यापार से सम्बन्धित पहलुओं वाले समझौते के अन्तर्गत असंगत माना है। अमेरिका के साथ विवाद के मामले में पेनल का निर्णय भारत के खिलाफ गया है और उसने इसके विरूद्ध अपीलेट निकाय (appellate Body) में अपील दायर कर दी, लेकिन अपीलेट निकाय ने पेनल के मुख्य निष्कर्षों को सही ठहराया जिसे विवाद निपटान समिति ने संशोधित रूप में स्वीकार कर लिया। अब भारत और अमेरिका की आपसी सहमति से विवाद निपटान समिति के निर्णय को 19 अप्रैल, 1999 से लागू किया जायेगा। यूरोपीय समुदाय का मामला अभी भी पेनल प्रक्रिया के अन्तर्गत चल रहा है।

भारत के विरूद्ध 6 अलग-अलग मामले ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, यूरोपीय समुदाय, न्यूजीलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड तथा अमेरिका द्वारा भारत में उनसे होने वाले आयातों पर भुगतान सन्तुलन की दृष्टि से लगाये गये मात्रात्मक प्रतिबन्धों को लेकर विश्व व्यापार संगठन के पास उठाये गये हैं। इस मामले में अमेरिका को छोड़कर शेष सभी देशों के साथ नवम्बर, 1997 में परस्पर सहमति द्वारा समाधान निकाल लिया गया है। जापान जो इस मामले में तीसरा पक्षकार था, उससे भी आपसी सहमति द्वारा समाधान निकाल लिया गया है। अमेरिका के साथ विवाद के बारे में अमेरिका की प्रार्थना पर संगठन ने विवाद निपटारा पेनल का गठन कर दिया है। अभी भी यह मामला विचाराधीन है। यूरोपीय समुदाय ने भी भारत की नवीन निर्यात-आयात नीति (1997-2002) में अनेक वस्तुओं को निर्यात की नकारात्मक सूची (Negative List) में डालने, विशेषकर कच्ची खालें तथा चमड़ों (Raw hides & Skins) के कारण विवाद निपटारा प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी।

10.12 उरूग्वे चक्र

उरूग्वे चक्र (1986-94) विश्व व्यापार संगठन का आठवां चक्र था जिसकी महत्वपूर्णता इसके द्वारा किये गये समझौतों से है: इसके द्वारा कई प्रकार के व्यवधान की समाप्ति की गई। गैट वार्ताओं के आठ वक्र (दौर) सम्पन्न हुये तथा अन्ततः 15 अप्रेल, 1994 को मोरक्को के नगर मराकेश में 117 देशों के मंत्रियों के सम्मेलन में उरूग्वे वक्र के डंकल प्रस्तावों (Dunckle Proposal) को स्वीकृति की मुहर लगा दी गयी। डंकल प्रस्तावों की स्वीकृति के फलस्वरूप

1947 में स्थापित गैट के स्थान पर 1 जनवरी,1995 को विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में आया।

1964 में विकासशील देशों के लाभ हेतु गैट ने जो सहमतियॉ (Part IV में) की थी उन्हें विकासशील देशों द्वारा तटस्थ भाव से देखा गया। भाग VI की सहमतियों एवं उरूग्वे वार्ता (Uruguay Round) में उठाये गये मुद्दों से ऐसा लगता है कि अधिकांश विकासशील एवं विकसित देश एक तटस्थ भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं।

गैट के आठवें समझौते के प्रस्ताव हेतु बैठक उरूग्वे (Uruguay) में प्रारम्भ हुई थी। तीसरी दुनिया के देशों का प्रतिनिधित्व उरूग्वे में भारत ने किया। उत्तर दक्षिण सम्बन्धों में पहली बार आशाप्रद सम्बन्ध स्थापित होने की प्रवृत्ति दिखाई दी।

गैट की आठवीं वार्ता इसलिए महत्वपूर्ण है कि क्योंकि यह विनिर्मित वस्तुओं के व्यापार तक ही सीमित नहीं रही बल्कि सेवाओं (Services) के व्यापार एवं बुद्धिजीवी सम्पत्ति (पेटेंट एवं कापी राइट) व विदेशी विनियोग के नियमों पर भी विचार करने में सफल रही। पिछले चार दशकों में गैट वार्ताओं में प्रशुल्कों को कम किए जाने एवं गैर प्रशुल्क बाधाओं जैसे सब्सिडी और बाजार को बांटने के प्रबन्धों पर अधिक ध्यान दिया गया।

इस समझौते में सेवाओं के व्यापार के अन्तर्गत बैंकिंग, बीमा, विनिर्माण, दूर संचार, पर्यटन, यातायात, कन्सलटेंसी इत्यादि को सम्मिलित किया गया। सेवा व्यापार के बिन्दु पर विकसित एवं विकासशील देशों ने एक दूसरे का विरोध किया। औद्योगिक रूप से समृद्ध देशों में अमेरिका के नेतृत्व में गैट समझौते में सेवाओं को सम्मिलित करने का विचार रखा जबकि भारत और ब्राजील ने इसका विरोध किया।

विश्व व्यापार संगठन के सदस्य राष्ट्रों को उरूग्वे चक्र द्वारा निम्न लाभ या सुविधा प्राप्त हुई -

1. यह समझौता व्यापार एवं भुगतान की बहुपक्षीय व्यवस्था के उद्देश्य को लेकर किया गया अर्थात् यह स्वतन्त्र व्यापार का पक्षधर है।
2. स्वतन्त्र व्यापार की नीति को क्रियान्वित करने के लिए आधारभूत नियम भेदभाव की नीति का परित्याग है।

   इसके अधीन सभी पार्टियाँ परमानुग्रहित राष्ट्र सन्धि के सिद्धान्त (Most Favoured Nation's Principle) को स्वीकार करने पर सहमत होगी।
3. वह समझौता एक अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक संहिता (International Commercial Code) स्थापित करता है जो राशिपातन एवं अनुदान जैसे महत्वपूर्ण पक्षों पर नियमों की रूपरेखा बनाता है, इनमें सबसे महत्वपूर्ण नियम मात्रात्मक संरक्षणों के प्रयोग पर रोक लगाना है। उदाहरण के लिए कोटा केवल भुगतान सन्तुलन के कारणों से लगाया जा सकता है।
4. व्यापार पर कस्टम शुल्क एवं अन्य नियन्त्रणों में कमी के लिए समझौते किए जाने सम्भव होते हैं।
5. प्रशुल्क दरों में कटौती।
6. प्रशुल्क सम्बन्धी वार्तायें आदान प्रदान (Reciprocity) के सिद्धान्त पर चलते हुए प्रत्येक वस्तु हेतु की जाती है।

7. उच्च प्रशुल्क दरों को कम करना एवं प्रशुल्क के निम्न स्तर को बनाए रखना।
8. प्राथमिकता की सीमा हेतु परमानुग्रहित राष्ट्र सन्धि (Most Favoured Nation's Clause) की स्थापना करना जिसमें एक देश द्वारा किसी भी प्रकार की छूट जो दूसरे देशों को प्रदान की जाती है। वह स्वत: ही अन्य सदस्य देशों को भी प्राप्त होती है।
9. बंधी हुई दर अनुसूची में शामिल कर ली गई प्रशुल्क की ऐसी दर है जिसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की जाती। अनुसूची एक निश्चित अवधि के लिए लागू होती है। नई अवधि प्रारम्भ होने पर सभी पक्षों को यह अवसर प्रदान किया जाता है कि वह प्रशुल्क दरों में संशोधन हेतु विचार विमर्श कर सकें।
10. सदस्यों के मध्य व्यापार बिना किसी भेदभाव के होना।
11. घरेलू उद्योगों का मात्रा प्रशुल्क द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया। इसके लिए वाणिज्यिक रीतियों का आश्रय नहीं लिया जाना चाहिए।

सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता - गैट्स (General Agreement on Trade in Services- GATS) सेवाओं के क्षेत्र में, डंकल प्रारूप इस बात पर बल देता है कि सेवाओं पर राष्ट्रीय नियम सुस्पष्ट हों। विदेशी सेवा उपक्रमों का घरेलू उपक्रमों के साथ समान राष्ट्रीय स्तर पर बर्ताव किया जाएगा। व्यक्तियों को मुक्त सीमा पार गति की इजाजत नहीं दी जाएगी। सेवाओं में व्यापार का कोई भी उदारीकरण स्वरूप में क्रमिक होगा। यह प्रक्रिया राष्ट्रीय नीतियों और कानूनों के अधीन होनी चाहिए। इसमें सापेक्ष आदान-प्रदान के नियम लागू होने चाहिए।

इसकी आलोचनाएं (Its Criticisms) - गैट्स विकासशील देशों के हितों के विरूद्ध जाता है। डंकल प्रारूप वित्तीय, जहाजरानी, परिवहन और संचार, स्वास्थ्य, शिक्षा-संबंधी, व्यावसायिक और टीवी. रेडियो, समाचार-पत्र एवं प्रसार जैसी सेवाओं के उदारीकरण पर बल देता है जिनमें विकसित देशों में सेवाओं के उत्पादन और प्रयोग के ऊपर नियंत्रण करना ही उद्देश्य है फिर विकासशील देशों में सेवाओं के क्षेत्र को विकसित देशों की फर्मों को प्राप्त विशाल साधनों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा। बहुत से विकासशील देशों को प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित श्रम में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। परन्तु उनकी मुक्त गति विकसित देशों के कड़े आप्रवास कानूनों द्वारा नियंत्रित है। सेवाओं के क्षेत्र में इस पहलू के बारे में डंकल प्रस्ताव में कुछ भी नहीं प्रस्तावित किया गया, क्योंकि विकसित देशों को विकासशील देशों से चयनात्मक बौद्धिक शक्ति (brain drain) के निष्कासन से लाभ होता है।

10.13 गैट नियम

डंकल प्रस्ताव गैट नियमों के अनुच्छेद 18--बी को बहुत कम करता है। यह अनुच्छेद विकासशील देशों द्वारा भुगतान शेष कठिनाइयों को दूर करने के लिए मात्रात्मक प्रतिबंधों के प्रयोग से संबद्ध है। डंकल प्रारूप में यह धारा प्रभावहीन कर दी गई है,क्योंकि इसे केवल न्यूनतम विकासशील देशों के लिए रखा गया है। विकासशील देशों के लिए मात्रात्मक प्रतिबंध को समाप्त कर दिया जाएगा और कीमत-आधारित उपायों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाएगा। केवल न्यूनतम विकासशील देश ही मात्रात्मक प्रतिबंध लागू करेंगे परन्तु इनको अस्थायी समझा जाएगा। तो देश ऐसे प्रतिबंध लागू करते हैं उन्हें जल्दी से जल्दी हटाने की समय सारणी की सार्वजनिक तौर से घोषणा करनी होगी।

प्रारूप की धारा आर-4 विकासशील देशों के अधिकार को कायम रखती है कि वे गैर- जरूरी वस्तुओं की अत्यधिक आयातों को हतोत्साहित करने हेतु विभिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न शुल्क दरों का प्रयोग कर सकेंगे। इससे विकासशील देशों को आवश्यक आयतें और पूंजी पदार्थ आयात करने की सुविधा होगी, जबकि गैर-आवश्यक वस्तुओं के आयात पर रोक लगेगी।

इस प्रकार, डंकल प्रारूप विश्व व्यापार में असमान भागीदार को समान बर्ताव का नियम लागू करने का प्रयत्न करता है जिससे विकासशील देशों के हितों का और नुकसान होता है।

10.14 व्यापार सम्बन्धी निवेश उपाय - ट्रिम्स

डंकल प्रस्ताव पांच वर्षो में व्यापार संबंधी निवेश उपायों को दूर करने के लिए कहता है। ये उपाय मात्रात्मक प्रतिबंध और राष्ट्रीय व्यवहार तक सीमित है। विशेषकर, ये पहचाने गए क्षेत्रों, राष्ट्रीय कंपनियों को विदेशी कंपनियों के बराबर बर्ताव करने के लिए विदेशी ओर निवेश के स्तर, निर्यात दायित्वों, तथा स्थानीय कच्चे मालों के प्रयोग जैसे उपायों से संबंधित है। डंकल प्रस्ताव विदेशी विनिमय अर्जनों, विदेशी इक्विटी साझेदारी, और प्रौद्योगिकी के स्थानांतरण से संबद्ध विदेशी निवेशकों पर किसी भी अनुपालन धाराओं को थोपने पर रोक लगाता है। यह विदेशी कंपनियों को राष्ट्रीय कंपनियों के बराबर व्यवहार की अपेक्षा रखता है। यह निवेश के क्षेत्रों पर प्रतिबंध लगाने पर रोक लगाता है। यह कच्चे मालों, घटकों और मध्यवर्तियों के मुक्त आयात की अपेक्षा रखता है।

इनके बावजूद, प्रारूप का अनुच्छेद 4 यह व्यक्त करता है कि विकासशील देश अस्थायी तौर से ऊपर दी गई धाराओं से हट सकते हैं हटने की सीमा और ढंग, अनुबंध करने वाले देशों की व्याख्या पर निर्भर करेंगे। इस बचाव धारा के अन्तर्गत विदेशी कंपनियों के नियमन का अधिकार और व्यापार संतुलित करने वाले उपायों को किसी भी तरह से कम नहीं किया गया है, यदि प्रतिकूल भुगतान शेष जैसे ठोस कारण हों।

इन सुरक्षाओं के दिए होने पर, ट्रिम्स समझौता विदेशी निवेशों पर रूकावटें समाप्त कर देगा। यद्यपि डंकल प्रारूप में विदेशी प्रत्यक्ष निवेशों का उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी यह भय है कि बहु राष्ट्रीय कंपनियां विकासशील देशों में उच्च प्राथमिकता क्षेत्रों पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करेंगी।

10.15 व्यापार सम्बन्धी बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार - ट्रिम्स

ट्रिप्स के बारे में डंकल प्रारूप यह व्यक्त करता है कि वस्तु और विधि संरक्षण, वनस्पतियों और जंतुओं तथा सूक्ष्मजीव विज्ञान संबंधी विधियों को छोडकर, सभी को प्रदान किया जाएगा। वनस्पति किस्मों को या तो पेटेंट प्रणाली अथवा वैकल्पिक अपनी किस्म की प्रणाली द्वारा संरक्षित किया जाएगा। प्रारूप यह वर्णन करता है कि पेटेंट किसी भी आविष्कार के लिए उपलब्ध होंगे चाहे वे वस्तुएं हो अथवा विधियां। आविष्कार के स्थान, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र और वस्तुएं आयातित अथवा स्थानीय तौर से उत्पादित के किसी भी प्रकार के भेद के बिना पेटेंट अधिकार का उपयोग किया जाएगा। समझौते का अनुच्छेद-27 दवाइयों, रसायनों, अन्त, कृषि पदार्थो, वनस्पतियों और जंतुओं, जिनमें प्रयोग किए गए सूक्ष्मजीव और जैव प्रौद्योगिकीय विधियों में

उत्पादित एवं अणु प्रौद्योगिकी सामग्री सम्मिलित हैं के क्षेत्रों में वस्तु पेटेंट आरंभ करने पर बल देता है। इस प्रकार, सभी आविष्कारों के लिए वस्तु पेटेंट लेने होंगे। पेटेंट संरक्षण की अवधि 20 वर्ष होगी। डंकल प्रारूप विधि से वस्तु पेटेंट प्रणाली पर शिफ्ट करने के लिए विकासशील देशों को 10 वर्ष की संक्रमण अवधि प्रदान करता है। संक्रमण अवधि 5 वर्ष की होगी, यदि देश विधि पेटेंट प्रणाली रखने का निर्णय लेता है। यदि देश विधि से वस्तु प्रणाली में परिवर्तित करने का निर्णय लेता है तो रसायन के अलावा सभी क्षेत्रों के लिए संक्रमण अवधि 5 वर्ष होगी। ट्रिप्स समझौता 1 जनवरी 2003 से क्रियाशील होगा जिन सभी आविष्कारों के लिए पेटेंट आवेदन-पत्र 1 जनवरी 1993 के बाद दाखिल किए जाएंगे उन्हें संरक्षित किया जाएगा। डंकल प्रारूप के अनुसार, यदि एक विधि पेटेंट धारक एक पेटेंट द्वारा संरक्षित वस्तु उत्पादित करता है तो उसके लिए यह बाध्य होगा कि वह प्रमाणित करे कि विधि नयी है। इस प्रकार अनुच्छेद 34 "प्रमाण के बोझ का उलटाव" (reversal of the burden of proof) प्रदान करता हैं। ट्रिप्स समझौते का अनुच्छेद 31 एक पेटेंट के "कार्यकरण" का वर्णन करता है। यदि वस्तु आयातित अथवा स्थानीय तौर से उत्पादित होती है। फिर भी, अधिकार समाप्त किया जा सकता हैं। यदि परिस्थितियाँ जिनके द्वारा लाइसेंस प्रदान किया गया था विद्यमान नहीं होती और उनके पुन: होने की संभावनाएँ नहीं होती। वस्तुओं अथवा विधियों की अनिवार्य लाइसेंसिंग बहुत प्रतिबंधक अवस्थाओं में समय होगी। विधियों अथवा वस्तुओं की स्वत: लाइसेंसिंग समाप्त हो जाएगी।

इसकी आलोचनाएं (Its Criticisms) - ट्रिप्स समझौता प्रत्यक्ष तौर से विभेदात्मक है। यह विकसित देशों के पक्ष में और विकासशील देशों के हितों के विरूद्ध निम्न कारणों से जाएगा -

1. यह पेटेंट प्रणाली के क्षेत्र को दवाइयों, कृषि, जंतु और वनस्पतियों आदि की ओर बढ़ाएगा। क्योंकि विकसित देशों और उनकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पास विशाल साधन और R&D सुविधाएं हैं इसलिए वे निवेश करने तथा विधियों और वस्तुओं को पेटेंट करवाने की लाभदायक स्थिति में होंगे। ऐसे सभी क्षेत्रों में विकासशील देशों को रायल्टी देनी पड़ेगी। ऐसी वस्तुओं, विशेषकर, ओषधियों की घरेलू कीमतें बढ़ेगी ओर उपभोक्ताओं पर उनका भार बढ़ेगा। विकासशील देशों को पेटेंट की गई वस्तुओं और कच्चे मालों के अधिक आयात करने पड़ेंगे। निर्यात कम हो जाएंगे। परिणामस्वरूप, भुगतान शेष की स्थिति और खराब हो जाएगी।
2. भारत जैसे कई विकासशील देश औषधियों, फार्म वस्तुओं, रसायनों आदि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में R&D प्रोग्रामों में संलग्न हैं जो ट्रिप्स के आग होने से ठप गे जाएंगे। ऐसा इसलिए के 10 वर्ष की संक्रमण अवधि के पश्चात पेटेंट नियम बदल जाएंगे।
3. ट्रिप्स समझौते के अनुसार विकासशील देशों के पेटेंट कानूनों में परिवर्तन से बौद्धिक शक्ति का और निष्कासन होगा जो ऐसे देशों के लिए बहुत महंगा सिद्ध होगा।
4. ट्रिप्स समझौते के अनुसार विकासशील देशों के पेटेंट कानूनों में परिवर्तन से बौद्धिक शक्ति का और निष्कासन होगा जो ऐसे देशों के लिए बहुत महंगा सिद्ध होगा।
5. पेटेंट अधिकार के 20 वर्ष तक बढ़ाने से विकासशील देशों के हितों की और हानि होगी। केवल विकसित देशों में ही पेटेंट अधिकार 20 वर्ष की अवधि के लिए पाए जाते है। यद्यपि

विकासशील देशों को अपने वर्तमान कानून बदलने में 10 वर्ष दिए जाएंगे। परन्तु डंकल प्रारूप इस छूट को अनुच्छेद 70.8 की धारा "क्लासिकी नलतंत्र संरक्षण" द्वारा वापिस ले लेता है। इस अनुच्छेद के अनुसार, औषधीय और कृषि वस्तुओं के लिए पेटेंट प्रार्थनापत्र संबद्ध प्राधिकारियों द्वारा 1 जनवरी 1993 से समझौता लागू हो जाने के बाद भी स्वीकृत किए जाएंगे, चाहे राष्ट्रीय कानून में वस्तु पेटेंटों को प्रदान करने की व्यवस्था है या नहीं। उदाहरणार्थ, एक औषधीय वस्तु के बारे में साधारणतया एक पेटेंट के लिए प्रार्थनापत्र देने की तिथि से लेकर उसे मार्केट में लाने तक 10 वर्ष लगते हैं। परिणामस्वरूप, ऐसी वस्तु को पेटेंट संरक्षण की आवश्यकता 2003 वर्ष के बाद ही पडेगी। जब पेटेंट केवल 20 वर्षो के लिए वैध होगा- तो नयी वस्तु पर कोई भी निवेश नहीं करेगा।

6. फिर, प्रारूप समझौता एक आवेदक को दूसरे देश में "पूर्ण मार्केटिंग अधिकार" अधिकतम 5 वर्षो की अवधि के लिए प्रदान करता है। ऐसे नवप्रवर्तन से संबंधित जानकारी को पेटेंट प्रदान किए बिना भी गुप्त रखा जाएगा। यह धारा विकासशील देशों के हितों के विरूद्ध है, क्योंकि यह पेटेंटी को अधिकार प्रदान करता है कि वे अपनी पेटेंट वस्तु अथवा विधि के प्रयोग को निर्यात मार्केट के लिए रोक सकती है। इस प्रकार पेटेंट की गई प्रौद्योगिकी एक बहुराष्ट्रीय कंपनी द्वारा एक विकासशील देश की स्थानीय मार्केट के शोषण के लिए प्रयोग की जा सकती है।
7. एक पेटेंट के कार्यकारण के बारे में, पेटेंटो को दूसरे देश में वस्तु इकाई स्थापित करने के बजाय वस्तु को अपने देश से आयात करने की स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार, विकसित देश और उनकी बहुराष्ट्रीय कंपनियां "कार्यकरण' 8 की आवश्यकता को पूरा करने के लिए विकासशील देशों को अपनी प्रौद्योगिकियाँ स्थानांतरण करने हेतु किसी बंधन में नहीं होगी। बल्कि उनकी वस्तुओं के लिए विकासशील देशों को मार्केट के रूप में प्रयोग किया जाएगा।
8. "प्रमाण के बोझ का उलटाव'' धारा का ट्रिप्स समझौते में शामिल करना न्याय के सभी सिद्धान्तों के विरूद्ध है, अब नयी वस्तुओं और विधियो के उत्पादकों को अपने पेटेंट अधिकारों के न उल्लंघन होने को स्वयं सिद्ध करना होगा, इस प्रकार, यह पेटेंटी को अपनी वस्तु अथवा विधि के उल्लंघन के प्रमाण को पेश करने से भारमुक्त करता है। यह न्यायसंगत नहीं है।

10.16 सारांश

व्यापार की बाधाओं एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विभेदपूर्ण नीति को दूर करते हुए विश्व व्यापार संगठन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जीवन स्तर की वृद्धि, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति वास्तविक आय एवं समर्थ माँग की मात्रा में सतत् विस्तार, विश्व के साधनों का पूर्ण प्रयोग एवं अंततः उत्पादन एवं व्यापार में वृद्धि के उद्देश्य रखता है। विश्व व्यापार संगठन के अधीन अप्रत्यक्ष रूप से इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समझौते एवं प्रबन्ध किए जाते हैं जो मुख्यतः स्वतंत्र एवं बहुपक्षीय व्यवहार के विस्तार से सम्बन्धित है।

विश्व व्यापार संगठन के अनिवार्य प्रावधानों के कारण, भारत को भी उदारीकरण एवम् वैश्वीकरण की नीति अनिवार्य रूप से अपनानी पड़ रही है। भारत को सेवा क्षेत्र के उदार व्यापार में सम्मिलित होने के बिन्दु पर निराशावादी दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए। भारत में सेवा क्षेत्र तेजी

से विकास कर रहा है जिसमें भारतीय इकाइयाँ वैधानिक एवं चिकित्सीय सुविधाएँ बैंक एवं विनिर्माण क्षेत्र में काफी लाभ प्राप्त करने में सफल हो सकती है। सातवीं योजना अवधि में भी भारतीय सेवा क्षेत्र में तेजी से वृद्धि हुई है।

10.17 शब्दावली

पेटेंट (Patent): यह एक मोनोपोली (Monopoly) अधिकार है जो कानून द्वारा प्राप्त होता है।

डम्पिंग (Dumping): जब कोई वस्तु का निर्यात, घरेलू मूल्य से कम मूल्य में किया जाता हो।

उदारीकरण (Liberalization): इसका तात्पर्य कानून तथा नियमों में ढील डालने से है।

वैश्वीकरण (Globalization): विदेशी कम्पनियों के स्वदेश में प्रवेश देना साथ ही सेवा क्षेत्र में भी प्रवेश देने से है।

10.18 स्वपरख प्रश्न

1. विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के उद्देश्य स्पष्ट कीजिये तथा उसके प्रमुख कार्यो का वर्णन कीजिये।
2. विश्व व्यापार संगठन की भारत के विषय मे आलोचनात्मक वर्णन कीजिये।
3. विश्व व्यापार संगठन का संगठनात्मक ढाँचा समझाइये।
4. विश्व व्यापार संगठन और गैट के अन्तर बताइये।
5. विश्व व्यापार संगठन से भारत को प्राप्त होने वाले लाभों का वर्णन कीजिये।

10.19 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय - फ्रांसिस
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त और विदेशी विनिमय - एस.के. माथुर
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय अजामी वित्त सिद्धान्त एवं अभ्यास - बी.ए. अवधानी

इकाई - 11 : अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
(Problem of International Liquidity)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की धारणा का विकास

11.3 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ एवं परिभाषा

11.4 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकता तथा महत्व

11.5 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख अंग तथा स्त्रोत

11.6 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के कारण

11.7 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान के सुझाव

11.8 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का मार।

11.9 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता वृद्धि में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका

11.10 विशेष आहरण अधिकार

11.11 सारांश

11.12 शब्दावली

11.13 स्वपरख प्रश्न

11.14 सन्दर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

- अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ, आवश्यकता एवं महत्व की जानकारी प्रदान करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख अंगों से अवगत करवाना।
- अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के कारण और समाधान के उपाय सुझाने की जानकारी देना।
- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में भूमिका से अवगत करवाना।
- विशेष आहरण अधिकारों की जानकारी प्रदान करना।

11.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सुचारू रूप से संचालन तथा नियमित वृद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पुन: बढ़ावा देने के उद्देश्य से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया। गत वर्षो में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तीव्र गति से वृद्धि, विकासशील राष्ट्रों में विदेशी मुद्रा की बढ़ती माँग, भुगतान सन्तुलन की समस्याएँ, मौद्रिक संकटों से डालर, येन आदि मुद्राओं में टूटता विश्वास तथा तेल संकट आदि ने पारस्परिक रूप से

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को ओर उजागर किया है। यद्यपि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के योगदान से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के प्रयास सफल रहे है फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का पूर्ण तरीके से निवारण नहीं हो रहा है।

11.2 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की धारणा का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात समस्त देशों के आयात और निर्यात में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी, परन्तु इस वृद्धि के अनुरूप आवश्यक वित्त के लिए विभिन्न देशों के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की समस्या उत्पन्न हो गई इस समस्या के निवारण के लिए सभी देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकता महसूस की। इस समस्या पर विश्व के अनेक देशों में विचार विमर्श हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की धारणा का सूत्रपात सर्वप्रथम 1930 में केर्नीज ने किया। उन्होंने स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण कोषों को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रमुख अंग मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का आधार बनाया।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को समस्या बराबर बनी रही। इस सन्दर्भ में जुलाई 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई जिसने 1 मार्च,1947 से विधिवत् कार्य प्रारम्भ कर दिया। स्वर्ण का उत्पादन विश्व व्यापार में वृद्धि के अनुरूप नहीं बढ़ रहा था। पौण्ड के अवमूल्यन, डालर की ख्याति में गिरावट, स्वर्ण मूल्यों में वृद्धि आदि परिस्थितिवश विश्व की मौद्रिक व्यवस्था लगभग बिगड़ गई थी।

अत: 1967 में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए विशेष आहरण अधिकार योजना के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। 1 जनवरी,1967 को इस योजना को प्रारम्भ कर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है;

11.3 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभिप्राय स्वर्ण मुद्रा तथा स्वर्ण कोषों की उस व्यवस्था से है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का निपटारा किया जाना संभव हो। सामान्यतया प्रत्येक देश द्वारा व्यापार के बदले स्वर्ण सहर्ष स्वीकार किया जाता है तथा स्वर्ण के अभाव में डालर, जर्मन मार्क, येन, पौण्ड आदि मुद्राएँ भी पारस्परिक विश्वास के कारण स्वीकार की जाती हैं। अत: स्वर्ण सहित ये सभी मुद्राएँ अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख अंग हैं।

फिज - मैंचलप के अनुसार - "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शीघ्र भुगतान करने की क्षमता अथवा भुगतान क्षमता की तत्परता से लगाया जाता है"। **पाल स्वीट्जर ने अन्तर्राष्ट्रीय** तरलता में उन सब वित्तीय साधनों और सुविधाओं का समावेश किया जो व्यक्तिगत राष्ट्रों में मौद्रिक अधिकारियों को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान घाटों के लिए उपलब्ध हैं। **श्री कीथ कोर्स फील्ड** के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता शब्द का प्रयोग विश्व के उन स्वर्ण साधनों तथा विदेशी मुद्रा दोषों की पूर्ति के लिए किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग योग्य हैं", जैसे डालर पौण्ड-स्टर्लिंग तथा इन्हें उधार लेने की सुविधा इसमें सम्मिलित है। जबकि **जे. एम्यूज़गर** ने अपने एक लेख में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को इस प्रकार परिभाषित किया है, '**अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से अभिप्राय उन समस्त सम्पत्तियों व साधनों के योग से है जो राष्ट्रों को उनके अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय दायित्वों के निपटारे के लिए उपलब्ध हो सकते है।**'

इन परिभाषाओं के विश्लेषण से हम देखते है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत निम्न वित्तीय साधनों व सुविधाओं का समावेश होता है -

(1) सरकार तथा मौद्रिक अधिकारियों के पास स्वर्ण कोषों की मात्रा

(2) विदेशी विनिमय कोष

(3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के (a) स्वर्ण जमा कोष (b) विभिन्न कोषों की मुद्राएं तथा (c) निकासी अधिकार

(4) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विशेष आहरण अधिकार

(5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋण सहायता समझौते।

(6) अदला-बदली तथा द्विपक्षीय उधारी समझौते।

11.4 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकता तथा महत्व

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन के असाम्य की समस्याओं के निराकरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की बढ़ती बाधाओं को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में शीघ्रता, नियमितता तथा पर्याप्तता हेतु अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की जरूरत होती है। इससे न केवल विदेशी व्यापार विकास में सहायता मिलती है वरन् सभी राष्ट्रों के आर्थिक विकास व मौद्रिक सहयोग का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति तक विश्व के स्वर्ण कोषों का 70% भाग अमेरिका के पास केन्द्रित हो जाने से तथा निरन्तर अनुकूल भुगतान सन्तुलन से अन्य राष्ट्रों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के निपटारे की समस्या उत्पन्न हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में 1950-65 की अवधि में प्रति वर्ष लगभग 80% की वृद्धि हुई जबकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में केवल 2.4% वार्षिक वृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्या विषम बनी। अत: अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व उसकी सहयोगी संस्थाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त स्रोतों में अभिवृद्धि के लिए विशेष आहरण अधिकारों का सृजन व सहायता तथा उधार समझौतों की व्यवस्था की। विकासशील राष्ट्रों की बढ़ती आवश्यकताओं, डालर संकट तथा रहे-सहे तेल संकट ने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्याओं को और विषम बनाया है। अत: संक्षेप में हम कह सकते है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बढ़ती आवश्यकता के पीछे निम्न कारण रहे हैं -

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तुलना में तरलता की अपर्याप्तता -** पिछले दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तरल कोषों की अपेक्षा तीव्र गति से वृद्धि हुई है।

(2) **डालर सहायता में कमी -** 1971 के पूर्व प्रायः सभी विकासशील देशों को डालर सहायता उदारतापूर्वक दी जाती थी जिससे तरल कोष में वृद्धि होती थी पर डालर संकट के बाद अमेरिका के कड़े रूख से डालर सहायता की कमी ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की वृद्धि को आवश्यक बनाया।

(3) **विकासशील राष्ट्रों की भुगतान समस्याएँ -** विकासशील राष्ट्रों में विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए तथा अनिवार्य आयातों का भुगतान करने की विषम समस्याएँ उत्पन्न हुई जिसके कारण भुगतान असन्तुलन के संकट निवारण करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की आवश्यकता बढ़ गई।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की अनेक नवीन योजनाओं** के प्रस्तुत किये जाने से तरलता की समस्या उजागर हुई और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तरलता बढ़ाने के प्रयास तेज किये गये।

11.5 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख अंग तथा स्त्रोत

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत उन समस्त वित्तीय साधनों एवं सुविधाओं का समावेश होता है जो सभी राष्ट्रों के मौद्रिक अधिकारियों को अपने भुगतान शेषों के घाटे के निपटारे के लिए उपलब्ध होते हैं। अत: मोटे रूप में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख अंग एवं स्रोत इस प्रकार हैं -

1. **सरकार तथा मौद्रिक अधिकारियों के पास जमा स्वर्ण कोष -** विश्व के सभी देशों की सरकारों व उनके केन्द्रीय बैंकों के पास रखे हुए समस्त स्वर्ण कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के मुख अंग हैं क्योंकि स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में सहर्ष एवं स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किया जाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के निपटारे का सर्वाधिक लोकप्रिय साधन माना जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत केवल सरकार अथवा मौद्रिक अधिकारियों के पास जमा स्वर्ण कोषों का ही समावेश होता है। देश में जनता के पास उपलब्ध स्वर्ण कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का निर्माण नहीं करते जब तक कि उन्हें सरकार के अधिकार में नहीं ले लिया जाता।
2. **विदेशी विनिमय कोष -** बहुत्से देश स्वर्ण कोषों के अतिरिक्त अपने केन्द्रीय बैंकों के पास ऐसी दुर्लभ मुद्राओं के कोष बनाते हैं जिन्हें अन्य देश स्वर्ण के समान ही भुगतानों से स्वीकार करने को तत्पर रहते हैं। जैसे अमरीकी डालर, ब्रिटेन का पौण्ड-स्टर्लिंग, जर्मन-मार्क, जापानी येन, आदि - आदि। ये न केवल देश में पत्र-मुद्रा निर्गमन के आधार हैं वरन् देश की अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान क्षमता के मापदण्ड भी हैं। देश के पास विदेशी विनिमय कोषों की मात्रा जितनी ही अधिक होती है, उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान क्षमता एवं वित्तीय स्थिति उतनी ही अच्छी एवं सुदृढ़ मानी जाती है।
3. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास जमा स्वर्ण तथा निकासी अधिकार -** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने स्वर्ण जमा की सीमा तक बिना शर्त ऋण ले सकते हैं तथा उस सीमा के बाद ऋण उदार शर्तों पर लिया जा सकता है। अत: सदस्य राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए मिल सकने वाले ऋण अथवा निकासी अधिकार भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के मुख्य भाग हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास जमा विदेशी विनिमय कोष भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के ही भाग है।
4. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋणों से सहायता, समझौते एवं सुविधाएँ -** अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकटों व तेल संकट से निपटने के लिए मुद्रा कोष ने अपनी ऋण सुविधाओं में काफी विस्तार किया है, इन ऋण सहायता समझौतों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं -
   (i) **ऋण वचन व्यवस्था -** जिसमें कोष सदस्य राष्ट्रों को सामान्यत: एक वर्ष की अवधि के लिए विदेशी मुद्रा बेचने का वचन देता है। पारस्परिक समझौतों से यह अवधि बढ़ाई जा सकती है।
   (ii) **तेल सुविधा -** अरब राष्ट्रों द्वारा तेल के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि से सदस्य देशों के भुगतान सन्तुलन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए सहायता स्वरूप कोष तेल उत्पादक राष्ट्रों से उधार ली गई राशि से ऋण प्रदान करता हैं।

(iii) **विस्तार कोष सुविधा -** मुद्रा कोष ने सदस्य देशों के भुगतान असन्तुलन की कठिनाई में मध्यकालीन सहायता के रूप में यह योजना सितम्बर, 1974 में 3 वर्ष की अवधि के लिए चालू की थी जो अब तक चालू है।

(iv) **बफर स्टॉक वित्त व्यवस्था -** 1963 से कार्यान्वित इस व्यवस्था में सदस्य राष्ट्रों के निर्यातों में कमी से उत्पन्न अस्थायी भुगतान असन्तुलन को दूर करने के लिए तथा सदस्य राष्ट्रों की प्रमुख वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय बफर स्टॉक की वित्त व्यवस्था के लिए सामान्य सुविधाओं के अतिरिक्त क्रमशः कोटे का 50% तक आहरण अधिकार दिया जाता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत विभिन्न व्यवस्थाओं से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख अंग माने जाते हैं।

(v) **मुद्रा कोष** ने गरीब देशों को आसान एवं रियायती शर्तों पर वित्तीय साधन उपलब्ध करने के उद्देश्य से दो अतिरिक्त योजनाएँ प्रारम्भ की है - (A) संरचनात्मक समायोजन सुविधा (SAF), (B) वृहत् संरचनात्मक समायोजन सुविधा (ESAF)

5. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के विशेष आहरण अधिकार -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की कमी की समस्या को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य राष्ट्रों के लिए जनवरी, 1970 से प्रादिष्ट मुद्रा के रूप में विशेष आहरण अधिकारों (Special Drawing rights) अथवा SDRs का सृजन करता आया है। सदस्य राष्ट्र अपने अभ्यंश के अनुपात में आवंटित विशेष आहरण अधिकारों के तहत प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान निपटा सकते है।
6. **अदला-बदली तथा द्वि-पक्षीय उधार समझौते -** विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं से ऋण, सहायता एवं वित्त प्राप्ति की क्षमता तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों, उन राष्ट्रों की निजी वित्त संस्थाओं, व्यापारियों अथवा पूंजीपतियों से प्राप्त हो सकने वाली वित्तीय सुविधाओं व ऋणों की क्षमता आदि सबको भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अविभाज्य अंग माना जाता है।

11.6 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के कारण

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या उसकी अपर्याप्तता एवं असमान वितरण की समस्या है। इस समस्या के विभिन्न कारण इस प्रकार हैं-

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की अपर्याप्तता -** पिछले तीन दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तीव्र गति से वृद्धि हुई है जबकि उसकी तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की दर बहुत धीमी रही है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुकाबले तरलता में अपर्याप्तता का अन्तराल बढ़ गया है। जहाँ 1950 में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अनुपात विश्व आयातों का 84% था, वह 1975 में घटकर 20% ही रह गया है जबकि 1979 में वह 22% ही था। वर्तमान में स्वर्ण कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि से तरलता का अनुपात 34% है।

(2) **विश्व के स्वर्ण उत्पादन तथा विश्व मौद्रिक कोषों में नाम मात्र की वृद्धि -** विश्व के स्वर्ण उत्पादन में पिछले दो दशकों में नाम मात्र की वृद्धि हुई है। जहाँ 1951 में विश्व का स्वर्ण

उत्पादन 130 करोड़ डालर था, वह 1958 में 105 करोड़ डालर ही रहा, 1982 में यह बढ़कर पुन: 130 करोड़ डालर तुल्य हो गया। 1978 में भी 186.6 करोड़ डालर तथा 1983 में 280 करोड़ डालर तुल्य ही था। कुल उत्पादन का 75% भाग तो अकेले दक्षिणी अफ्रीका में होता है। इस कुल उत्पादन का केवल नगण्य भाग ही केन्द्रीय बैंकों के मौद्रिक कोष में आता है। उसकी दर भी बहुत धीमी है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने वाले स्वर्ण कोषों में वृद्धि भी बहुत धीमी रही है, किन्तु 1980 से स्वर्ण के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि से कुल तरल कोषों में स्वर्ण का अनुपात 13% से बढ़कर 60% हो गया। अब यह 25% है।

(3) **डालर तथा स्टर्लिंग संकट-** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में 1958 के पूर्व डालर तथा पौण्ड स्टर्लिंग अपनी अर्जित ख्याति व विश्वसनीयता के कारण अनेक राष्ट्रों के मौद्रिक कोषों के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे, किन्तु इसके बाद डालर एवं स्टर्लिंग संकटों ने उनमें विश्व के विश्वास को डगमगा दिया। 1971 के डालर अवमूल्यन व मौद्रिक अस्थिरता तथा पुन: अवमूल्यन से उनके व्यापक प्रयोग में कमी हुई है परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में कमी की समस्या उत्पन्न हुई।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों का वितरण असमान है -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या केवल मात्रात्मक ही नहीं वरन् उनके असमान वितरण की भी है। स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों का लगभग 65% भाग तो औद्योगिक विकसित राष्ट्रों के पास केन्द्रित है जबकि मुख्य तेल निर्यातक देशों तथा अन्य विकासशील देशों के पास केवल 35% कोष है।

1970 के बाद तेल निर्यातक देशों के तरल कोषों में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य कारण तेल कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि होना है, अत: उनके तरल कोषों में से साधनों को विकासशील देशों में हस्तान्तरण की समस्या उत्पन्न हुई है।

(5) **विकासशील देशों की बढ़ती आवश्यकताएँ -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का एक प्रमुख कारण यह है की विकासशील राष्ट्र अपने विकास कार्यो को क्रियान्वित करने में विदेशी सहायता की माँग करते है उनके आयात, निर्यातों से कहीं अधिक बढ़ गए है। उन्हें विदेशी पूँजी व ऋणों की वापसी व ब्याज भुगतान के लिए भी विदेशी मुद्रा की माँग काफी तेज गति से बढ़ रही है और उनके पास अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का नगण्य भाग ही है अत: उसकी बढ़ती आवश्यकता ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को काफी नाजुक बनाया है।

(6) **तेल संकट -** विश्व के तेल उत्पादक राष्ट्रों ने अरब-इजराइल युद्ध में तेल को अस्त्र के रूप में प्रयोग की दृष्टि से पेट्रोलियम व पेट्रोलियम पदार्थो के मूल्यों में अप्रत्याशित लगभग 15 गुनी वृद्धि कर दी है। जिससे न केवल विकसित राष्ट्रों के सामने वरन् विकासशील राष्ट्रों के सामने नयी चुनौतियों उत्पन्न हो गई है। सभी तेल आयातकर्ता देशों के सामने भुगतान सन्तुलन की समस्या ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को काफी बढ़ा दिया है।

(7) **विकसित राष्ट्रों का कड़ा रूख -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का एक प्रमुख कारण यह है कि विकसित राष्ट्रों ने अल्प-विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों को दी जाने वाली उदार सहायता, ऋणों व ऋणों की वापसी व व्याज भुगतान व्यापारिक छूट व सुविधाओं आदि के प्रति कठोर रूख अपनाना प्रारम्भ किया है। विकासशील देशों में राजनीतिक स्वतन्त्रता की बढ़ती भावना ने विकसित राष्ट्रों में खिन्नता उत्पन्न कर दी है।

11.7 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान के सुझाव

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विशेष महत्व के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समय-समय पर इसकी अभिवृद्धि के प्रयास किये जा रहे हैं। पिछले तीन दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सापेक्षिक तीव्र वृद्धि, विकासशील देशों के लिए ऋणों की बढ़ती माँग एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के हर सम्भव उपायों को खोजा जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने कई विशेषज्ञ समितियों से जाँच करवाई। पहली समिति का प्रतिवेदन 1958 में तथा दो समितियों के प्रतिवेदन 1963 में प्रस्तुत हुए। उस समय तक तरलता की समस्या उतनी जटिल नहीं थी, अत: उसकी वृद्धि के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाए गए। पर बाद में स्टर्लिंग संकट, डालर संकट, डालर सहायता में कमी व विकासशील राष्ट्रों की बढ़ती भुगतान असन्तुलनों की समस्या आदि से स्थिति बिगड़ी। तब से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के उपायों पर ध्यान दिया गया है, जो निम्नलिखित है -

(1) **स्वर्ण उत्पादन में वृद्धि -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए स्वर्ण के उत्पादन में वृद्धि का सुझाव यद्यपि ऊपर से आकर्षक लगता है, किन्तु उत्पादन में वृद्धि से तरलता में वृद्धि उतनी व्यावहारिक नहीं क्योंकि स्वर्ण के उत्पादन वृद्धि की दर बहुत धीमी है। लागत में वृद्धि से स्वर्ण महँगा पड़ता है और स्थिर कीमतों में अधिक उत्पादन की कल्पना अनुपयुक्त है। स्वर्ण का समस्त उत्पादन तरलता वृद्धि नहीं करता। इस उत्पादन का केवल वही भाग तरलता वृद्धि में सहायक होता है जो सरकारी अधिकृत कोष में जमा होता है। लोगों में स्वर्ण के निजी उपयोग व संग्रह की बढ़ती माँग, स्वर्ण की व्यावसायिक एवं औद्योगिक माँग में वृद्धि तथा ब्लैक अर्जित आय को स्वर्ण में बदलने की प्रवृत्ति के कारण स्वर्ण उत्पादन में वृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की वृद्धि की कल्पना अधिक उपयोगी नहीं है।

(2) **स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य में वृद्धि -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि का दूसरा महत्त्वपूर्ण सुझाव हेरोड योजना के अनुसार स्वर्ण कोषों का पुनर्मूल्यांकन करना था, उसके अनुसार अगर स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औस से बढ़ाकर 70 डालर प्रति औंस कर दिया जाये तो स्वर्ण कोषों का मूल्य 75 अरब डालर तथा 100 डालर प्रति औंस कर देने पर उन्हीं कोषों का मूल्य 100 अरब डालर होगा और उस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हो जायेगी।

इस ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के प्रति विभिन्न देशों में परस्पर विरोधी विचार है। स्वर्ण मूल्य में वृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने के पक्ष में ब्रिटेन, फ्रांस, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, रूस तथा विकासशील राष्ट्र हैं क्योंकि ब्रिटेन एवं फ्रांस अपने स्वर्ण कोषों के मौद्रिक मूल्य में वृद्धि के लिए उत्सुक हैं, अफ्रीका एवं ऑस्ट्रेलिया जैसे स्वर्ण उत्पादक देशों में अपने उत्पादन का अधिक मूल्य प्राप्त करने की लालसा है, रूस अपने स्वर्ण कोषों से पूँजीवादी राष्ट्रों से अधिक पूँजीगत माल प्राप्त कर सकेगा तथा विकासशील राष्ट्र स्वर्ण तस्करी को बन्द करने के लिए आतुर हैं।

जबकि सबसे अधिक स्वर्ण कोषों का स्वामी अमेरिका है, स्वर्ण मूल्यों की वृद्धि के पक्ष में नहीं है, क्योंकि उसके मतानुसार इससे डालर का अवमूल्यन होगा, मुद्रा स्फीति का भय

बढ़ेगा, काले धन को सोने में संग्रह करने वालों को आकस्मिक लाभ मिलेगा तथा स्वर्ण के सट्टे में सटोरियों को लाभ मिलेगा।

पिछले वर्षो में स्वर्ण बाजार में स्वर्ण की कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। स्वर्ण की कीमतों में वृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हो गई है, किन्तु इसका ज्यादा लाभ 12 विकसित राष्ट्रों को ही मिला जिनके पास कुल स्वर्ण कोषों का लाभ लगभग 85% भाग है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जारी करना -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि का एक उपाय यह भी सुझाया गया है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) को सब सदस्य राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों के एक सुपर केन्द्रीय बैंक का स्थान प्रदान किया जाए तथा वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जारी करे। इस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का नाम बैंकोर (Boncor) या अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक इकाई (International Monetary Unit) रखा जाए। इस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का समता मूल्य (Parity) स्वर्ण में निर्धारित कर दिया जाए और सब सदस्य देशों की मुद्रा की विनिमय दरें भी इसी मुद्रा में निश्चित कर दी जाएँ। प्रारम्भिक अवस्था में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को उसकी व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का एक निर्धारित अभ्यंश (Quota) आवंटित कर दिया जाए और समय-समय पर उधार देने की व्यवस्था हो। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सौदों के निपटारे में बिना रोकटोक स्वीकार की जाए।

यद्यपि यह सुझाव बड़ा आकर्षक लगता है पर आधुनिक परिस्थितियों में अव्यावहारिक प्रतीत होता है क्योंकि कोई भी देश अपनी प्रभुसत्ता का हनन नहीं होने देना चाहता। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा भुगतान में जटिलताएँ हैं।

(4) लोचदार विनिमय दरें लागू करना - कुछ विद्वानों का मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का स्थायी हल निश्चित विनिमय दरों की व्यवस्था के परित्याग तथा उसके स्थान पर परिवर्तनशील विनिमय दरों की व्यवस्था अपनाने में है। माँग एवं पूर्ति पर आधारित ये दरें स्वचालित हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करेंगी। **किन्तु अब परिवर्तनशील विनिमय दरों की व्यवस्था चालू है, किन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्या विद्यमान है।**

(5) **अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन-गृह के रूप में कार्य करे-** इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा कोष अनुकूल भुगतान सन्तुलन वाले देशों की आवश्यकता से अधिक निधि में से अनिवार्यतः भाग लेकर बदले में स्वर्ण गारण्टी बॉण्ड दे दिया जाए तथा इस प्रकार प्राप्त निधि का प्रयोग प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले देशों को उनके अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान शेष के घाटों को निपटारे के लिए उपलब्ध किए जाए। विशेष आर्थिक अथवा राजनीतिक संकट के समय विशेष आवेदन पर घाटे वाले राष्ट्रों को विशेष रियायत पर अधिक ऋण दिए जाए। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि होगी।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अभ्यंशो व विशेष आहरण अधिकारों के सृजन में वृद्धि -** अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि का एक उपाय यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्र अपने अभ्यंशो (Quota) में वृद्धि करें। इसी प्रकार तरलता वृद्धि के लिए विशेष आहरण अधिकारों (Special Drawing Rights) का अधिक मात्रा में सृजन किया जाए तथा उसका अपेक्षाकृत अधिक भाग विकासशील राष्ट्रों को आवंटित किया जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता वृद्धि सम्बन्धी योजनाएँ

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता समस्या के समाधान के लिए समय-समय पर अर्थशास्त्रियों ने अपनी अलग-अलग योजनाऐं प्रस्तुत की हैं, जिनमें निम्न उल्लेखनीय हैं -

(1) **ट्रिफिन योजना (Triffin Plan) -** येल विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रो. रोबर्ट ट्रिफिन की योजनानुसार विश्व के सभी राष्ट्रों के विदेशी तरल कोषों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करके अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक का रूप दे दिया जाये। यह कोष बदले में सदस्य राष्ट्रों को कोष की चलन मुद्रा प्रदान करे जो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में प्रयुक्त हो। इस कोष में विश्व की विकास दर के अनुरूप साख सृजन की भी व्यवस्था थी, किन्तु यह योजना अव्यावहारिक लगी क्योंकि इसमें प्रभुसत्ता का हनन, मुद्रा प्रसार का भय तथा उसकी सफलता संदिग्ध थी।

(2) **हेरोड योजना (Harrod Plan) -** इस योजना के अन्तर्गत स्वर्ण के मूल्य को 35 डालर प्रति औंस से बढ़ाकर 70 डालर प्रति औंस करने की व्यवस्था थी। इसके अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की कल्पना थी, किन्तु स्वर्ण मूल्यों में अनिश्चितता का भय, स्वर्ण उत्पादक देशों को अत्यधिक लाभ, स्वर्ण के सट्टे में वृद्धि तथा स्वर्ण कोषों का 85 प्रतिशत भाग विकसित देशों के पास केन्द्रित होने से उन्हें अधिक लाभ की सम्भावना से यह योजना भी अनुप्रयुक्त लगी। इस योजना को स्वर्ण पुनर्मूल्यांकन योजना भी कहा जाता है।

(3) **जैकबसन योजना (Jacobson Plan) -** इस योजना के अन्तर्गत मुद्रा कोष के माध्यम से आधिक्य भुगतान शेष राष्ट्रों से उधार बचत अनुबन्ध करके प्राप्त विदेशी मुद्रा जरूरतमन्द राष्ट्रों को उधार दी जाए जिससे संकट को टाला जा सके। इसमें भुगतान आधिक्य वाले देशों की चयनित मुद्राओं को एकत्रित करके मुद्रादाता देशों की शर्तों के अनुसार संकटग्रस्त देशों को उपलब्ध किया जा सके, किन्तु इसमें अनिश्चितता, अपर्याप्तता व असफलता की सम्भावना निहित थी।

(4) **स्टाम्प योजना (Stamp Plan) -** इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष साख-पत्र निकालकर सहायता की माँग करने वाले देशों को वितरित कर दे ताकि वे विकसित राष्ट्रों से माल खरीद कर इन साख पत्रों से भुगतान कर दे व विकसित राष्ट्र इन साख-पत्रों को स्वर्ण के समान अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक में जमा करा सकते हैं। एक निश्चित अवधि के बाद जब साख-पत्रों को भुगतान के रूप में प्रयोग करने वाला राष्ट्र स्वर्ण या विदेशी मुद्रा में भुगतान करेगा तो कोष भी अधिकारी राष्ट्रों को उनके रखे साख-पत्रों के बदले स्वर्ण या विदेशी मुद्रा प्रदान कर देगा।

(5) **विविध -** इसके अतिरिक्त कीन्स योजना, रोसाकी स्वर्णपूल योजना तथा लूट्ज योजना (Lutz Plan) आदि भी थी।

11.8 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का मापना

किसी भी देश विशेष के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों की पर्याप्तता का अनुमान लगाने के लिए देश की आर्थिक परम्पराओं, विदेशी मुद्रा की बचत की शक्ति एवं आदत तथा व्यापारिक एवं पूँजीगत तत्वों पर ध्यान देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक नीति में भिन्नता के कारण जहाँ

बचत के बजट में कम तरल कोष भी देश के लिए पर्याप्त हो सकते है वहाँ हीनार्थ प्रबन्ध के अन्तर्गत काफी बड़ी मात्रा में तरल कोष भी अपर्याप्त लगते हैं। अत: किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता का माप करते समय दो अलग-अलग उद्देश्यों पर ध्यान देना पड़ता है -

(1) **राष्ट्रीय उद्देश्य -** (i) देश के मौद्रिक अधिकारी अपने पत्र-मुद्रा निर्गमन के पीछे धरोहर रूप में स्वर्ण कोष तथा विदेशी विनिमय कोषों की कितनी मात्रा रखते हैं तथा (ii) मुद्रा-व्यवस्था में लोच बनाये रखने के लिए कितने तरल कोष रखे जाने चाहिए। ये दोनों तत्व तरल कोषों की आन्तरिक माँग का अनुमान लगाने में सहायक होते हैं।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य -** अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए तरल कोषों पर्याप्तता का अनुमान लगाने में निम्न घटकों पर ध्यान देना पड़ता है

(i) **आयातों की मात्रा -** विदेशी विनिमय की आवश्यकता आयातों के भुगतानों के लिए होती है। अन्य बातों के समान रहते हुए आयातों की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, तरल कोषों की माँग भी उतनी ही अधिक रहेगी।

(ii) **भुगतान शेष का आकार एवं स्वरूप -** अगर देश का भुगतान शेष अनुकूल और काफी अधिक हो तो तरल कोषों की आवश्यकता कम ही रहेगी और उसके विपरीत अगर भुगतान शेष प्रतिकूल एवं बड़ी मात्रा में हो तो अधिक तरल कोषों की जरूरत होगी।

(iii) **विनिमय दरों में उचित स्थायित्व बनाने** के लिए अथवा विनिमय नियन्त्रण की नीति के लिए तरल कोषों की मात्रा पर्याप्त होना जरूरी है।

(iv) **देश की मुद्रा में विदेशियों का विश्वास** बनाये रखने तथा देश में विदेशी भुगतान की सार्थकता के तत्व पर भी तरल कोषों की मात्रा पर ध्यान देना पड़ता है।

(v) **उचित वितरण -** तरल कोषों की पर्याप्तता इस बात पर भी निर्भर करती है कि इन कोषों का वितरण विभिन्न देशों में किस प्रकार से है। असन्तुलित वितरण तथा केवल विश्व के समृद्ध राष्ट्रों के पास ही विश्व के तरल कोषों का लगभग 70 प्रतिशत भाग केन्द्रित हो जाने पर अन्य राष्ट्रों में तरल कोषों की पर्याप्तता की कल्पना निरर्थक है।

(vi) **अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की सुविधा -** जितनी ही अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों की सुविधा अधिक होगी उतनी ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के निपटारे की व्यवस्था बिना विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव के सम्भव होगी और लेन-देन की सुविधाओं के अभाव में देश को अधिक तरल कोषों की आवश्यकता होगी।

11.9 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता वृद्धि में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान एवं तरल कोषों में वृद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। मुद्रा कोष की स्थापना का उद्देश्य ही सदस्य राष्ट्रों के विदेशी व्यापार में वृद्धि के लिए विदेशी विनिमय नियन्त्रणों को कम करना, अल्पकालीन भुगतान असाम्य को दूर करने के लिए अल्पकालीन वित्त व्यवस्था करना तथा संकट की दशा में सदस्य देशों को राहत प्रदान करना है। मुद्रा कोष ने निम्न प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता समस्याओं के समाधान में योगदान किया है-

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्वर्ण कोष एवं निकासी अधिकार -** मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्र अपने अभ्यंशो का लगभग 25 प्रतिशत SDRs अथवा किसी परिवर्तनशील मुद्रा में जमा

करते हैं और शेष वास्तविक मुद्रा में। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को उनके अभ्यंश के 25 प्रतिशत के बराबर तो बिना शर्त ऋण प्रदान कर देता है जबकि अभ्यंश के 50 प्रतिशत तक ऋण सशर्त स्वीकार किए जाते हैं। विशेष परिस्थितियों में तो सम्पूर्ण अभ्यंश के बराबर ऋण प्रदान कर दिए जाते हैं।

(2) **अभ्यंशों में वृद्धि -** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की अपर्याप्तता को देखते हुए समय-समय पर अपने सदस्य देशों के अभ्यंशों में वृद्धि की है। 1959 में अभ्यंशों में 50 प्रतिशत की वृद्धि,1965 में 25 प्रतिशत वृद्धि हुई तथा 1970 में 30 प्रतिशत वृद्धि के परिणामस्वरूप मुद्रा कोष की पूँजी 1,000 करोड़ डालर से बढ़कर 1959 में 1,500 करोड़ डालर, 1966 में बढ़कर 2,130 करोड़ डालर तथा 1970 में 2,921 करोड़ डालर हो गयी। 1978 में अभ्यंशों में 335 प्रतिशत वृद्धि से कोष की अभ्यंश पूँजी 3,900 करोड़ SDRs हो गई है। इसी प्रकार 1981 तथा 1984 में मुद्रा कोष के अभ्यंशों में क्रमशः: 50 प्रतिशत 47.5 प्रतिशत वृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में भी वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अभ्यंश पूँजी 1931 के 6106 करोड़ से बढ़कर 1984 में 9003 करोड़ SDR's हो गई। नवें अभ्यंश वृद्धि के अन्तर्गत मुद्रा कोष के लगभग 175 सदस्यों की अभ्यंश पूँजी बढ़कर 14595.83 करोड़ SDR कर दी गई है। 30 अप्रेल 2007 तक अभ्यंश बढ़कर 21670 करोड़ SDR हो गई।

(3) **विशेष आहरण अधिकारों का सृजन (Creation of Special Drawing Rights) -** रीयोडीजैनिरो में 1967 के अन्तर्राष्ट्रीय तरलता सम्बन्धी विचार-विमर्श को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए मुद्रा कोष ने जनवरी,1970 से विशेष आहरण अधिकारों (Special Drawing Rights) की योजना प्रारम्भ की। 1971 से 1972 की अवधि के लिए 9.5 अरब SDR तुल्य विशेष आहरण अधिकार (SDR) का सुजन किया गया उसमें से 31 दिसम्बर,1978 तक 9.3 अरब SDR 128 देशों को आवंटित किये जा चुके थे जो कुल अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों का लगभग 5 प्रतिशत भाग था। 1979-61 की अवधि में 12 अरब SDR का सृजन कर आवंटन करने से अब कुल 21.50 अरब SDRs 155 सदस्य राष्ट्रों को आवंटित हो चुके हैं। सदस्य देशों ने 1970-92 की 22 वर्षो की अवधि में लगभग 20950.5 करोड़ SDR का हस्तानतरण किया। वित्त वर्ष 1992 में हस्तान्तरण लगभग 1345 करोड़ SDR था जबकि 1984 में 2267 करोड़ SDR का रिकार्ड हस्तान्तरण हुआ। अब विशेष आहरण अधिकारों में 15 अरब SDR तुल्य वृद्धि का प्रस्ताव प्रगति पर है।

(4) **विशेष सहायता योजनाएँ -** मुद्रा कोष के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन की आकस्मिक समस्याओं से निपटने के लिये विशेष व्यवस्थाएँ कर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान में योगदान किया है जैसे **(i) तेल सुविधा (Oil Facility) -** सदस्य देशों को पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि से उत्पन्न भुगतान असन्तुलन के दुष्प्रभावों का सामना करने के लिए मुद्रा कोष ने तेल सुविधा के अन्तर्गत सहायता की व्यवस्था की थी। जून, 1974 में स्थापित इस सुविधा के तहत तेल उत्पादक सदस्यों ने 6,903 मिलियन SDR की सहायता दी। **(ii) ऋण वचनबद्धता व्यवस्था (Stand-by**

Arrangements) - कोष के सदस्य देशों में अगर कोई यह महसूस करे कि उसे वर्ष में कभी भी विदेशी मुद्रा की जरूरत हो सकती है तो मुद्रा कोष में सामान्यत: एक वर्ष की अवधि के लिए वचनबद्धता का दूरदर्शी समझौता कर लिया जाता है। इससे सदस्य देश की अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान क्षमता बढ़ जाती है। 1953 से 1992 तक इसके तहत वचनों से सदस्य देशों को 7532.3 करोड़ SDR की सहायता दी है। **(iii) विस्तार सुविधा (Extended Facility)** - 5 सितम्बर, 1974 से कोष ने भुगतान सन्तुलन कठिनाइयों में सदस्य देशों की मध्यकालीन सहायता की विस्तार योजना लाग की है। ऋण वचनबद्धता की अवधि सामान्यतः एक हर्ष होती है जबकि विस्तार सुविधा की अवधि तीन वर्ष है। इससे 29 विकासशील राष्ट्रों को 45713 मिलियन SDR सहायता स्वीकृत हुई। **(iv) उधार की सामान्य व्यवस्था (General Arrangements to Borrow-GAB)** - 1962 में प्रारम्भ की गई इस व्यवस्था के अन्तर्गत दस औद्योगिक देशों ने 6 अरब डालर तुल्य राशि कोष की कार्यप्रणाली में गतिरोध को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली को संकट से बचाने के लिए उसे ऋण देने के लिए उपलब्ध की, बाद में इसका ग्यारह बार नवीनीकरण किया। 1993 में कोष ने इस व्यवस्था को 1998 तक अगले पाँच वर्षो तक बढ़ दिया और कोष को सऊदी अरब तथा दस औद्योगिक राष्ट्रों से 18.5 अरब SDR तुल्य राशि उधार मिली, जिससे उसके साधनों में अभिवृद्धि व अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का मार्ग प्रशस्त हुआ। **(v) क्षतिपूरक तथा बफर स्टॉक वित्त व्यवस्था (Compensatory and Buffer Stock Financing) -** कोष ने 1962 में ही सदस्य राष्ट्रों के निर्यातों में आकस्मिक कमी हो जाने से उत्पन्न भुगतान शेष के अस्थायी असन्तुलन के निराकरण के लिए सामान्य सहायता के अतिरिक्त उसके कोटे के 50 प्रतिशत तक क्षतिपूर्ति के लिए ऋण सहायता की व्यवस्था की है। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय बफर स्टॉक की वित्त व्यवस्था के लिए भी सदस्य राष्ट्रों को उनके कोटे से 45 प्रतिशत तक ऋण सहायता दी जा सकती है।

(5) **सहायक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं का विस्तार -** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए अदला-बदली तथा द्विपक्षीय व बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के लिए विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम आदि के साथ-साथ अन्य वित्तीय संस्थाओं के विकास में सहयोग दिया है। इन वित्तीय संस्थाओं ने ऋण देकर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की है।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का अध्ययन -** मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के अध्ययन तथा समाधान के उपाय सुझाने के लिए समय-समय पर अध्ययन दलों व समितियों की नियुक्ति की है। 1958 और 1983 में कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय कोषों व तरलता का अध्ययन किया। कोष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधारों को मूर्त रूप दिया जा चुका है।

इस प्रकार यह संक्षिप्त विवरण स्पष्ट करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

11.10 विशेष आहरण अधिकार

पिछले तीन दशकों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अपेक्षाकृत तीव्र वृद्धि, स्वर्ण उत्पादन की धीमी गति और निजी क्षेत्र में स्वर्ण की संग्रह प्रवृत्ति, अमेरिकी डालर एवं ब्रिटिश पौण्ड की डांवाडोल स्थिति, विकासशील देशों में विदेशी सहायता की अनिवार्यता और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अभाव की समस्याओं ने विश्व की सम्पूर्ण मौद्रिक व्यवस्था को झकझोर दिया। लोचदार विनिमय दरों की कठिनाइयों व स्वर्ण के स्वतन्त्र बाजार में भीषण वृद्धि आदि ने संकट को और बढ़ा दिया। ऐसी विषम परिस्थितियों में 1967 की वार्षिक बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए आहरण अधिकार योजना को अन्तिम रूप दिया।

विशेष आहरण अधिकार SDRs एक प्रादिष्ट मुद्रा की भाँति एक नई अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति है जिसके माध्यम से कोष की पुस्तकों में प्रविष्टि मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का निपटारा किया जा सकता है। इसमें हिस्सा लेने वाले देशों में इन विशेष आहरण अधिकारों का आवंटन उनके अभ्यंशों के अनुपात में होता है। इन SDRs का सृजन बिना स्वर्ण कोषों के करने की व्यवस्था की गई है। इसका प्रयोग प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने तथा तरल कोषों में अप्रत्याशित कमी होने पर उन्हें सामान्य स्तर पर लाने के लिए हो सकता है। इसे कागजी सोना भी कहा जाता है।

विशेष आहरण अधिकारों की योजना की प्रमुख विशेषताएँ:-

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कोई भी सदस्य स्वेच्छा से योजना का सदस्य बन सकता है।
2. विशेष आहरण अधिकार एक प्रकार से कागजी सोना है। यह कोई बैंक नोट अथवा ट्रेजरी बिल की तरह कागजी प्रपत्र नहीं है।
3. सितम्बर 1998 तक 2140 करोड SDRs का आवंटन सदस्य देशों में किया गया।
4. एक सदस्य देश SDRs का प्रयोग अपने भुगतान असाम्य को ठीक करने अथवा अपने तरल कोषों में कमी को दूर करने के लिए मनोनयन, आपसी समझौते के द्वारा या कोष के सामान्य खाते के जरिये कर सकता है।
5. अगर कोई देश इसका प्रयोग अवांछित तथा अनुचित रूप से करता है तो मुद्रा कोष को निरीक्षण करने तथा चेतावनी देने का अधिकार है।
6. किसी देश के लिए मुद्रा कोष के अपने अभ्यंश के तीन गुण से अधिक के SDRs रखना आवश्यक नहीं है। स्वेच्छा से कोई भी देश इससे अधिक SDRs अपने कोष में रख सकता है।
7. SDRs के लिए ब्याज का प्रावधान है। वे देश जिनके खातों में निर्धारित मात्रा से अधिक SDRs जमा रहते हैं, वे ब्याज प्राप्त करते हैं तथा जिनके खातों में निर्धारित मात्रा से कम SDRs रहते है, वे ब्याज देते हैं।
8. प्रत्येक देश को अपने आवंटित SDRs का 15% भाग न्यूनतम रूप से अपने खाते में अवश्य जमा रखना होगा।

यद्यपि इस योजना में कमियाँ है, फिर भी यह लाभप्रद सिद्ध हुई है तथा विकासशील राष्ट्रों को भुगतान सन्तुलन घाटे को कम करने में सहायता मिली है। योजना को और अधिक लोकप्रिय

बनाने के लिए विकासशील राष्ट्रों को और अधिक भाग आवंटित किया जाना चाहिए तथा SDRs के प्रयोग की अवधि व क्षेत्र को बढ़ाया जाना आवश्यक है।

11.11 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की बढ़ती पेचीदगियों व उत्पन्न व्यापारिक बाधाओं को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में शीघ्रता और नियमितता हेतु अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की सभी राष्ट्रों द्वारा आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस समस्या के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विशेष आहरण अधिकार योजना बनाई है। SDRs का प्रयोग स्वर्ण का क्रय करने के लिए नहीं, वरन् संकट से मुक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। मुद्रा कोष द्वारा सदस्य देशों के खातों में उनके अभ्यंशों के अनुपात में SDRs का आवंटन करके उनकी प्रविष्टियाँ कर दी गई है। किसी भी सदस्य देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्य होने अथवा उसके तरलता कोषों में अप्रत्याशित कमी होने पर इसे दूर करने के लिए प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। SDRs के प्रयोग से विकासशील देशों के विकास में और अधिक सहयोग मिल रहा है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का समाधान हुआ है।

11.12 शब्दावली

अंतर्राष्ट्रीय तरलता (International Liquidity) - स्वर्ण मुद्रा तथा स्वर्ण कोषों की मात्रा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता कहलाता है।

विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights) - यह एक प्रकार का कागजी सोना और नयी अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति है, जिसके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का निपटारा होता है।

11.13 स्वपरख प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से क्या आशय है? इसकी आवश्यकता और महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या क्या है? इस समस्या के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने जो विशेष आहरण योजना अपनाई है, उसके मुख्य तत्त्वों का वर्णन कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के मुख्य अंगों को समझाइए।
4. विशेष आहरण अधिकार की मुख्य विशेषताएँ बताइये। क्या इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का समाधान हुआ है

11.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अग्रवाल, सिंह, गुप्ता : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त।
2. Mithani D.M. : International Economics.
3. Mithani D.M. : Money, Banking International Trade and Public Finance.

इकाई- 12 : क्षेत्रीय आर्थिक संगठन (Regional Economic Organisations)

इकाई की रूपरेखा-

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 क्षेत्रीय आर्थिक संगठन का अर्थ

12.3 क्षेत्रीय आर्थिक संगठन का स्वरूप

12.4 विभिन्न क्षेत्रीय आर्थिक संगठन

12.5 यूरोपीयन मुद्रा बाजार

12.6 यूरोपियन व्यापार संघ

12.7 यूरोपियन भुगतान संघ

12.8 लेटिन अमेरिका मुक्त व्यापार संघ

12.9 उत्तर अमेरिका मुक्त व्यापार समझौता

12.10 दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग

12.11 विकासशील अर्थव्यवस्था में क्षेत्रीय आर्थिक संगठन की भूमिका

12.12 क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के लाभ

12.13 क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग में कठिनाईयाँ

12.14 सारांश

12.15 शब्दावली

12.16 स्वपरख प्रश्न

12.17 सन्दर्भ ग्रंथ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

- क्षेत्रीय आर्थिक संगठन का अभिप्राय व अध्ययन की आवश्यकता की जानकारी लेना।
- क्षेत्रीय आर्थिक संगठन के प्रकारों की जानकारी लेना।
- विश्व के प्रमुख क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों के विवरण की जानकारी।
- विकासशील अर्थव्यवस्था में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग की भूमिका (भारत के संदर्भ में)
- क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के लाभ
- क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग की हानियॉ।

12.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोप के देशों में सैनिक राजनैतिक एवं आर्थिक एकीकरण की भावना विकसित हुई। पश्चिम यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि अमेरीका व रूस जैसे आर्थिक देशों के साथ उनमें से कोई भी स्वतंत्र नीति अपनाने में सक्षम नहीं था। साथ यह भी

अनुभव किया गया कि इनमें से कोई भी राष्ट्र इतना बड़ा नहीं कि उत्पादन के बड़े पैमाने की बचतों का लाभ उठा सके। पश्चिमी यूरोप के एकीकरण आन्दोलन के फलस्वरूप युद्धोतर काल के प्रारंभिक वर्ष में सैनिक समन्वय स्थापित करने के। दृष्टिकोण से North Atlantic Treaty Organisation (NATO) की स्थापना हुई। फिर भी सैनिक क्षेत्र में एकीकरण में उतनी प्रगति नहीं हुई जितने की आर्थिक क्षेत्र में। विश्व में तकनीकी प्रगति से राष्ट्रों की दूरियाँ कम हो गई है इससे व्यापार का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। अत: अन्र्तराष्ट्रीय व्यापार में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग की धारण का जन्म हुआ।

आर्थिक संगठन इसमें चाहे जो भी रूप ले पर इसकी तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं:-

प्रथम - सदस्य देशों के बीच व्यापार की बाधाओं को दूर करना, दूसरी - गैर सदस्य देशों के विरूद्ध भेदभाव पूर्ण व्यापार सम्बन्धी तरीके अपनाना, तीसरी-सदस्य देशों के बीच आर्थिक नीति के कुछ उपकरण साझे रूप में अपनाना।

12.2 क्षेत्रीय आर्थिक संगठन का अर्थ

विश्व की क्षेत्रीय आर्थिक समस्याओं को समझने तथा उन पर विचार करने की दृष्टि से आर्थिक संगठन बनाये जाते है। ये संगठन अपने क्षेत्र की समस्याओं व उन पर विचारों का प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं तथा उन्हे सुलझाने का प्रयास करते हैं।

12.3 क्षेत्रीय आर्थिक संगठन का स्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विश्व स्तर पर बनाने में क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों में सन्धियाँ एवं समझौते किये जाकर उनके नियम एवं प्रक्रिया के कानून बनाये जाते है। आर्थिक संगठनों को इस आधार पर निम्न वर्गो में रखा जा सकता है -

क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों को मुख्य रूप से 5 भागों में बाँटा जा सकता है-

(1) दीर्घकालीन व्यापार संघ (Long Term Trade Union)

(2) आर्थिक सहयोग संघ (Economic Co-operative Union)

(3) क्षेत्रीय संघ (Regional Union)

(4) चुंगी संघ (Custom Union)

(5) मुक्त व्यापार संघ (Free Trade Union)

(1) **दीर्घकालीन व्यापार संघ (Long Term Trade Union):** ये ऐसे संघ होते हैं जिनमें दीर्घकालीन व्यापार संतुलन के लिए द्विपक्षीय अनुबन्ध होते हैं। इनमें जिन वस्तुओं का आयात-निर्यात निर्धारित करने हेतु जो समझौता होता है, वह एक वर्ष या अधिक अवधि के लिए होता है।

(2) **आर्थिक सहयोग संघ (Economic Co-operative Union):** इसमें ऐसे राष्ट्र सम्मिलित होते हैं जो आपस में एक दूसरे में अपनी अर्थव्यवस्थाएं एकीकृत कर सके। इसमें सभी सदस्य राष्ट्र स्वतंत्र रूप से पूंजी, श्रम, सेवा, वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में ला एवं ले जा सकते हैं। इसके लिए यूरोपियन साझा बाजार एवं बेनेलक्स का सर्वोत्तम उदाहरण है। ऐसे आर्थिक संघों में भुगतान संतुलन में सुधार के प्रयास किये जाते हैं। बेनेलेक्स में बेल्जियम, नीदरलेण्ड, लक्समबर्ग, ने सामूहिक परिवहन, कृषि नीति, आर्थिक नीति बनाई गई है।

(3) **क्षेत्रीय-संघ (Regional Union):** ये ऐसे संगठन होते हैं जिसमें कुछ वस्तुओं का साझा बाजार स्थापित किया जाता है। इसका उदाहरण यूरोप में कोयला एवं इस्पात का आयात-निर्यात करने हेतु एक समुदाय बनाया गया है। जिसे यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय **(European Coal & Steel Community- ECSC)** कहते हैं।

(4) **चुंगी-संघ (Custom Union):** चूंगी संघ के अन्तर्गत दो या अधिक सीमाओं के स्थान पर एक कस्टम सीमा का निर्धारण किया जाता हे। इनकी स्थापना के निम्न उद्देश्य रहे -

(1) विदेशी व्यापार में विद्यमान प्रशुल्क-दरों तथा अन्य नियमों को समाप्त करना।

(2) संघ के बाहर वाले देशों पर प्रशुल्क की वसूली करना।

(5) **मुक्त-व्यापार-संघ (Free Trade Union):** आर्थिक संघ व चुंगी संघ से भिन्न मुक्त व्यापार संघ होता है। जिसमें दो या अधिक देश परस्पर होने वाले समस्त व्यापार को प्रशुल्क देशों से मुक्त कर लेते हैं। मुक्त व्यापार क्षेत्र का प्रत्येक सदस्य देश बाहरी देशों के लिए इच्छानुसार प्रशुल्क नीति अपनाने को स्वतंत्र है। मुक्त व्यापार क्षेत्र के उदाहरणों में यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ **(European Free Trade Association-EFTA)** तथा लेटिन अमेरिकी व्यापार संघ **(Latin American Free Trade Association- LAFTA)** को शामिल किया जा सकता है।

विश्व के प्रमुख क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग संघों अथवा संगठनों को दो भागों में बांटा गया है -

(अ) क्षेत्रीय आर्थिक आयोग

(ब) विशिष्ट संस्थाएँ

(अ) क्षेत्रीय आर्थिक आयोग

(1) आर्थिक एवं रोजगार आयोग,

(2) अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग,

(3) निद्राकारी औषधि आयोग,

(4) स्त्री अधिकार आयोग,

(5) मानव अधिकार आयोग,

(6) यूरोपीय आर्थिक आयोग,

(7) एशिया एवं सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग,

(8) लेटिन अमेरिका आर्थिक आयोग,

(9) अफ्रीकी आर्थिक आयोग,

(10) परिवहन एवं संचार आयोग,

(11) जनसंख्या आयोग,

(12) सांख्यिकी आयोग,

(13) सामाजिक आयोग,

(ब) विशिष्ठ संस्थाएँ- इन संस्थाओं द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ठता रखी जाती है। इसी कारण इन्हें विशिष्ठ संस्थाओं के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है -

(1) खाद्य एवं कृषि संघ,

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ तथा व्यापार प्रशुल्क पर सामान्य समझौता,

(3) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन,

(4) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष,

(5) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक,

(6) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम,

(7) विश्व स्वास्थ्य संघ,

(8) अन्तर्राष्ट्रीय दूरसंचार संघ,

(9) विश्व मौसम विज्ञान संघ,

(10) अन्तर - राज्य सामुदायिक परामर्श संघ,

(11) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन,

(12) शिक्षा, विज्ञान, एवं संस्कृति संघ,

(13) विश्व डाक संघ,

(14) संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन,

(15) संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम

(16) संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन।

इसके अतिरिक्त अन्य संस्थाऐं भी विश्व स्तर पर सहयोग के कार्य में कार्यरत हैं।

12.4 विभिन्न क्षेत्रीय आर्थिक संगठन

विश्व की क्षेत्रीय आर्थिक समस्याओं को समझने तथा उन पर विचार करने की दृष्टि से चार आर्थिक आयोगों की संरचना की गई। यह आर्थिक आयोग आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के निर्देशन में कार्य करते हैं।

ये संगठन इस प्रकार से है-

(1) एशिया एवं सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग, यूरोपीय आर्थिक आयोग,

(2) यूरोप क्षेत्रीय आयोग,

(3) लेटिन अमेरिका आर्थिक आयोग, एवं

(4) अफ्रीकी आर्थिक आयोग।

विकासशील देशों के मध्य आर्थिक सहयोग को बढ़ाने की दृष्टि से तथा उन्हें अन्य राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा में खड़े रहने के लिए एशिया एवं पैसिफिक आर्थिक एवं सामाजिक आयोग का गठन किया गया।

एशिया एवं पैसिफिक आर्थिक एवं सामाजिक आयोग

इस आयोग की स्थापना मई, 1947 में की गई थी तथा इसके अन्तर्गत भारत, श्रीलंका, वर्मा, (म्यांमार), ईरान, अफगानिस्तान, मलेशिया, इण्डोनेशिया, फिलिपीन्स, ऑस्ट्रेलिया व न्यूज़ीलैण्ड आदि विकासशील राष्ट्रों को सम्मिलित किया गया है। 1975 में इस आयोग का एक सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित किया गया था। विकासशील राष्ट्रों द्वारा क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को विकसित करने की दृष्टि से आर्थिक संघों का गठन किया गया। इनके द्वारा गठित संगठन निम्नलिखित हैं -

(अ) **अफ्रीकी साझा बाजार -** यूरोप का अनुसरण कर कुछ अफ्रीकी देशों द्वारा भी पारस्परिक सहयोग में वृद्धि करने के लिए इस बाजार का गठन अप्रेल, 1963 में किया गया था। इन देशों द्वारा एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गए जिसके अनुसार प्रथम वर्ष में प्रशुल्क दरों में 25 प्रतिशत की कमीं करना तथा आगामी चार वर्षो में इसे पूर्ण रूप से समाप्त करने का निर्णय लिया गया।

(ब) **मध्य अमेरिका साझा बाजार -** जून, 1958 में मध्य अमेरिका के पाँच राष्ट्रों कोस्टारिक डोर, ग्वाटेमाल, हाण्डोरस तथा निकारागोआ ने हाण्डोरस में इस बाजार का गठन किया। 1959 तथा 196 में इसी संदर्भ में दो और संधियॉ की गई। पाँच राष्ट्रों के मध्य मुक्त व्यापार एवं औद्योगिक विकास की बात रखी गई।

(स) **एशियाई - अफ्रीकी साझा बाजार -** एशिया तथा अफ्रीका के देशों ने यूरोपीय देशों की गुटबंदी के प्रभाव, को समाप्त करने के उद्देश्य से एशिया और अफ्रीका के देशों के बीच मुक्त व्यापार क्षेत्र का गठन किया।

(द) **एशियाई साझा बाजार -** एशियाई देशों के द्वारा भी अन्य राष्ट्रों की तरह पारस्परिक सहयोग के आधार पर इस प्रकार के बाजार गठित करने का विचार किया गया है। भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, म्यांमार (वर्मा) थाइलैण्ड, वियतनाम, मलेशिया, इण्डोनेशिया, फिलिपीन्स, जापान, ईराक आदि देश इस गुट के सम्भावित सदस्य हैं।

12.5 यूरोपीय मुद्रा बाजार

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात यूरोपीयन साझा बाजार की स्थापना संभवतः सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक थी। इसकी स्थापना वर्ष 1955 में हुई इससे यूरोप के राष्ट्रों में जागृति उत्पन्न हुई। इससे पूर्व यूरोपियन कोयला एवं इस्पात समुदाय में 1952 में तथा यूरोपीय भुगतान संघ का 1955 में निर्माण हो चुका था। 1957 में रोम संधि संपन्न हुई। जिसके अर्न्तगत युरेनियम आणविक शक्ति समुदाय या युरेटम (Euratom) की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य 6 देशों के बीच आणविक टेक्नालॉजी एवं अनुसंधान क्षेत्र से सहयोग को बढ़ाना था। 1958 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) की स्थापना की गई। 1 जुलाई 1967 में कोयला व इस्पात समुदाय साझा बाजार तथा युरेटम का उच्चस्तरीय प्रबन्ध सामुहिक रूप से निम्न संस्थाओं में निहित हो गया इसमें कार्यकारी आयोग, मंत्री परिषद, यूरोपीय संसद, दूसरा न्यायालय, मंदिर समिति, एविनान कमेटी आदि का गठन किया गया। इन देशों के विदेशी व्यापार में क्रमशः 1964 में 38% वृद्धि हुई तथा 1975 में 58% की वृद्धि हुई। इस समय साझा बाजार में कुल 25 सदस्य हैं।

यूरोपीय साझा बाजार व ब्रिटेन का प्रवेश (Britain's Entry ECM)

ब्रिटेन ने 1961 में यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता के लिए आवेदन किया था किन्तु फ्रांस के प्रतिकूल दृष्टिकोण के कारण उसे स्वीकार नहीं किया गया। अनेक लंबी मंत्रणाओं के बाद 1 जनवरी, 1973 को ब्रिटेन को साझा बाजार का सदस्य बना लिया गया।

ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रदेश में इतना अधिक विलम्ब राष्ट्रमंडल के देशों को ब्रिटेन द्वारा दी गई प्रशुल्क प्राथमिकताओं के प्रश्न को लेकर हुआ। दूसरी बात यह भी थी कि वह यह चाहता था

कि साझा बाजार के देश चाहते थे कि ब्रिटेन-फ्रांसीसी कृषि उत्पादकों के लिए अपना बाजार खोल दे तथा सभी वस्तुओं के आयात पर समान प्रशुल्क लगाए। तीसरी, बात यह भी थी कि यह चाहता था कि ब्रिटेन को यूरोपीय साझा बाजार में सदस्यता प्राप्त हो। अंत में जनवरी 1973 को ब्रिटेन को यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सदस्यता प्राप्त हुई।

ब्रिटेन के प्रवेश का भारत पर प्रभाव

यूरोपीय साझा बाजार के ब्रिटेन में प्रवेश के बाद ब्रिटेन व भारत में मध्य ओटावा (टौर) संधि (1939) समाप्त हो गई। टौर साम्राज्ञी अधिमान (Imprical Prefrance) भी समाप्त हो गया है। अब ब्रिटेन सामान्य बाह्य प्रशुल्क (Comman External Traiff) की नीति को अपनायेगा। इन दोनों का भारत के विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और यूरोपीय साझा बाजार भारत को समय-समय पर महत्वपूर्ण सहायता देता रहा है। इस बाजार को भारत चाय, पटसन, सूती कपड़ा, कालीन, चमड़े का सामान इत्यादि का काफी मात्रा में निर्यात करके विदेशी पूंजी प्राप्त करता रहा है। निर्यात के ऑकड़ों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साझा बाजार देश के कुल निर्यात का 30% भाग भारत से खरीदते हैं, किन्तु यह मूल व्यापार का केवल 1% से अधिक नहीं है।

12.6 यूरोपीय व्यापार संघ

जब यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना के लिए वार्तालाप चल रहा था तभी यूरोप के भीतर ही प्रशुल्क की दोहरी नीति एवं उसके विदेशी व्यापार पर होने वाले प्रतिकूल प्रभावों को रोकने के लिए ब्रिटेन ने "एक मुक्त व्यापार क्षेत्र" की योजना बनाई। नवम्बर 1959 में ब्रिटेन के अतिरिक्त आस्ट्रिया, डेनमार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन, तथा स्वीटजरलेण्ड, ने मुक्त व्यापार क्षेत्र के प्रारूप पर स्टॉकहॉम में हस्ताक्षर कर दिये। साझा बाजार की भाँति इन देशों ने भी आपसी व्यापार पर प्रशुल्क हटाने का निर्णय लिया। प्रस्तुत अन्य देशों के साथ स्वतंत्र प्रशुल्क नीति अपनाने का निर्णय लिया।

वस्तुतः मुक्त व्यापार क्षेत्र ब्रिटेन ने अपने लाभ के लिए ही बनाया था। ब्रिटेन अपनी कच्चे माल तथा खाद्य सामग्री की आवश्यकता का अधिकांश भाग बाहर से मंगवाता था तथा दूसरा यह प्रयास करता था कि वस्तुएं उसे न्यूनतम मूल्य पर मिले। ब्रिटेन में अपने हितों के पोषण के लिए ही मुक्त व्यापार क्षेत्र की स्थापना की किन्तु ब्रिटेन साझा बाजार में सम्मिलित होने के बाद यूरोपीय मुक्ता व्यापार क्षेत्र का महत्व अत्यंत गौण हो गया।

12.7 यूरोपियन भुगतान संघ

यूरोपियन भुगतान संघ (EPU) की स्थापना सितम्बर,1950 में की गई थी। यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन की परिषद प्रतिवर्ष भुगतान संघ के कार्य संचालन हेतु एक प्रबन्ध मण्डल सदस्य देशों में से बनाती है। यह संगठन किसी भी देश के निरन्तर चल रहे भुगतान असंतुलन (घाटा व अतिरेक) को ठीक करने हेतु समुचित उपाय बताता है। दूसरा मुख्य आधार ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिससे सदस्य देश के भुगतान-संतुलन का घाटा या अतिरेक पूर्ण रूप से स्वयंमेव ठीक हो जाय। प्रारंभ में यूरोपियन भुगतान संघ की स्थापना दो वर्ष के लिए की गई तथा यह निर्णय लिया गया कि प्रत्येक दो वर्ष बाद इसका नवीनीकरण किया जाएगा। नवीनीकरण के साथ-

साथ संघ के समझोतों मे भी समायोजन का प्रावधान रखा गया। 1952 में निपटारे की व्यवस्था में भी संशोधन किया गया। 1954 में भुगतानों के निपटारे में फिर संशोधन किये गये। 1958 में यह संगठन के अनेक देशों ने विभिन्न सीमाओं तक अपनी मुद्राओं में परिवर्तनशीलता की घोषणा करे।

पारस्परिक आर्थिक सहायता कौन्सिल (Council for Mutual Economic Aid)

पूर्वी यूरोप के देश न तो EETA और न EEC के सदस्य हैं। पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों को मिलाकर आर्थिक संघ बनाया गया जिसे रूसी भाषा में Comecon तथा अंग्रेजी में Council for Mutual Economic Aid कहते है। इस संघ की स्थापना 1948 में हुई थी। सन 1962 में बाह्य मंगोलिया भी दूसरा सदस्य हो गया।

12.8 लेटिन अमेरिका मुक्त व्यापार संघ

अन्य अर्द्धविकसित राष्ट्रों के समान लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों के सामने भी विश्व व्यापार में उनके गिरते हुए हिस्से की समस्या थी। अत लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों में व्यापार वृद्धि के उपायों पर विचार विमर्श चल रहा था। लेटिन अमेरिका के आर्थिक आयोग ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1960 में 7 देशों ने मांट विडियो की संधि पर हस्ताक्षर किये। सन 1961 में यह संघ कार्यशील हुआ।

माटविडियो की संधि में औद्योगिक विकास के लिए कुछ उद्योगों को कुछ क्षेत्रों के लिए सुरक्षित रखने का प्रावधान है। श्री लुई एस्कोबर के अनुसार ''लेटिन अमेरिका देशों में स्वतंत्र व्यापार संघ की स्थापना के" पश्चात् उनके आपसी व्यापार में दुगनी वृद्धि हुई। जबकि इन देशों के शेष विश्व के देशों के साथ व्यापार में इसी अवधि में केवल 25 प्रतिशत ही वृद्धि हुई है।

छठा शिखर सम्मेलन

छठा दक्षेस शिखर सम्मेलन भारी शंकाओं के बीच 21 दिसम्बर 1991 में श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में सम्पन्न हुआ। पहली बार यह शिखर सम्मेलन एक दिवसीय रहा। सम्मेलन में सभी शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। सम्मेलन का अध्यक्ष मेजबान राष्ट्र के राष्ट्रपति प्रेमदास को चुना गया। दक्षेस शासनाध्यक्षों ने आशा की कि शांति की स्थितियों में धनराशि का उपयोग तीसरी तीसरी दुनिया के देशों के भावी विकास के संवर्धन में किया जायेगा। दक्षेस नेताओं ने आतंकवाद की निन्दा की और इसे समाप्त करने के लिए आपसी सहयोग करने का वचन दिया। कोलम्बो घोषणा में दक्षेस देशों में प्राथमिक शिक्षा की सुविधा के विस्तार पर बल देंगे।

12.9 उत्तर अमेरिका मुक्त व्यापार समझौता

12 अगस्त, 1992 को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा मैक्सिको के मध्य एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र घोषित करने का निर्णय लिया। समझौता उत्तर अमरीकन मुक्त व्यापार समझौता (North America Free Trade Agreement) कहलाता है। इस संगठन की स्थापना में भूमिका उल्लेखनीय है। नाफ्टा के लिए ''क्षेत्रीय मूल के नियम" (Role of the Origin) का प्रतिपालन-किया गया।

तीसरी दुनिया के देशों पर प्रभाव

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संसार की नई व्यापार व्यवस्था क्षेत्रीय आर्थिक गुटों में बँटती जा रही है। एशियाई देशों ने भी अपने क्षेत्रीय सगठन बना लिये हैं। किन्तु इन सबका प्रभाव तीसरी दुनिया के देशों पर ही पड़ेगा।

12.10 दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग

दक्षिणी एशिया में सात राष्ट्रों के मध्य आपसी सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से नवम्बर 1985 में प्रथम सार्क सम्मेलन ढाका में आयोजित किया गया। ये देश हैं भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका भूटान तथा मालदीव सार्क सम्मेलन यद्यपि प्रतिवर्ष आयोजित किये जाने का प्रावधान है किन्तु विभिन्न प्रकार के प्रतिरोधों के कारण ये आयोजित नहीं किये जा सके। 13वाँ सार्क सम्मेलन ढाका (बांग्लादेश) तथा 14वाँ सार्क सम्मेलन नई दिल्ली (भारत) में हुआ। सार्क देशों की सम्मिलित जनसंख्या 150 करोड़ है अत: इसके पास विस्तृत बाजार है। यदि ये देश आपसी शक-संदेहों को भूला दे तो संगठित रूप से बेरोजगारी व निर्धनता को दूर कर आपसी व्यापार को बढ़ाने का दिल से प्रयास करें तो यह संगठन भी यूरोप साझा बाजार जैसा महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। सार्क का स्वरूप एक साझा बाजार के अनुरूप न होकर एक ऐसे संगठन के रूप में है जिसके सदस्य देश आपसी विवादों को परस्पर सौहार्द के साथ निपटाना चाहते हैं। पारस्परिक आर्थिक सहयोग, तकनीकी ज्ञान का आदान-प्रदान तथा व्यापार बढ़ाने के लक्ष्यों को सार्क के अन्र्तगत उच्च प्राथमिकता दी गई है। आधुनिक विश्व में अनेक क्षेत्रीय संघ व संगठन जैसे एकता संगठन, यूरोपीय आर्थिक समुदाय, अमरीकी राष्ट्र संघ, दक्षिण-पूर्व एशियाई संगठन इत्यादि।

12.11 विकासशील अर्थव्यवस्था में क्षेत्रीय आर्थिक संगठन की भूमिका

वर्तमान समय में उत्पादन का पैमाना काफी विस्तृत हो गया है जिससे उत्पादक इकाइयों को न केवल बड़े बाजार की आवश्यकता पड़ती है वरन् क्रय शक्ति का वितरण भी इस प्रकार किया जाये कि बड़े पैमाने पर माल को बेचा जा सके। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक देश निकटवर्ती देशों के साथ आर्थिक सहयोग करे। विश्व-युद्धों की धारणा ने इस बात पर बल दिया है एशियाई विकास बैंक के उद्घाटन भाषण में जापान के प्रधानमंत्री ने कहा था की, बैंक एशियाई राष्ट्रों की परिवर्तनशील महत्वाकांशाओ की पूर्ति बिन्दु है और एशियाई राष्ट्रों की स्व-सहायता भावना और समन्वय का संकेतांक है।

12.12 क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के लाभ

विकासशील राष्ट्रों के मध्य वर्तमान में जो आर्थिक सहयोग हो रहा है इसकी इन राष्ट्रों के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन राष्ट्रों में आर्थिक सहयोग से निम्नांकित लाभ हुए है -

(1) **पूंजी नियोजन -** आर्थिक सहयोग के कारण विकासशील राष्ट्रों को अपने विकास कार्यो के लिए आवश्यक पूँजी आसान किश्तों तथा कम व्याज पर शीघ्र उपलब्ध हो जाती है।

(2) **उपलब्ध साधनों का सदुपयोग -** आर्थिक सहयोग द्वारा विकासशील राष्ट्र अपने उपलब्ध साधनों का "इस प्रकार से प्रयोग करते हैं कि सन्पूर्ण सहयोग वाले देशों में सामंजस्यपूर्ण तथा

सुव्यवस्थित आर्थिक विकास हो सके तथा छोटे एवं कम विकसित देशों को विशेष सहायता मिल सके।

(3) **विकास में मार्ग प्रशस्त करना -** आर्थिक सहयोग द्वारा विकासशील राष्ट्र सामूहिक तथा पृथक आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करते हैं।

(4) **विकास नीतियों में सहयोग -** आर्थिक सहयोग द्वारा इन देशों को अपनी प्रयोजनाओं तथा नीतियों में समन्यय स्थापित करने के लिए सहायता प्राप्त होती है ताकि इनकी अर्थव्यवस्था अधिक सन्तुलित बन सके और विदेशी व्यापार का सम्यक् विस्तार हो सके।

12.13 क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग में कठिनाईयॉ

आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में एशियाई विकासशील राष्ट्र सफल नहीं हो सके हैं। यहाँ तक कि संगठन के गठन का कार्य पूर्ण नहीं हो सका है तथा अपनी समस्याओं को आपसी सहयोग से सुलझाने में असफल रहे हैं।

(अ) **व्यापारिक सहयोग का अभाव -** व्यापार में वृद्धि कर तीव्र आर्थिक विकास करना एशिया एवं सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग की स्थापना का मुख्य उद्देश्य था, लेकिन निरन्तर प्रयास होने के उपरान्त भी व्यापारिक सहयोग का अभाव रहा है।

(ब) **निम्न स्तरीय आर्थिक विकास -** एशियाई देशों में आर्थिक विकास के स्तर में भिन्नता के साथ-साथ इसका स्तर भी निम्नकोटि का है। इसके साथ ही एशियाई देशों में राष्ट्रवाद की भावना परिपक्वास्था पर नहीं आ पाई है। जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक एकीकरण स्थापित करना कठिन रहा है।

(स) **आधारभूत संरचना की कमी -** किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए बिजली, पूँजी, परिवहन आदि आधारभूत सेवाओं का होना अत्यन्त आवश्यक है। एशियाई देशों में इन सुविधाओं का विकास उचित स्तर पर नहीं हो सका है अत: आर्थिक सहयोग अथवा एकीकरण के लिए आवश्यक है कि इन देशों में आर्थिक सुविधाओं का विकास हो। एशियाई विकास बैंक द्वारा इस प्रकार के विकास के लिए वित्तीय सुविधायें दी जा रही है।

12.14 सारांश

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि तकनीक उन्नति से उत्पादन का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। उत्पादन में वृद्धि से उनके उपभोगों हेतु विस्तृत बाजार भी आवश्यक हो जिसमें उत्पादित वस्तुओं को उपभोक्ता तक पहुँचाया जा सके। इन आर्थिक प्रक्रियाओं उपभोग, उत्पादन, बाजार, मांग, पूर्ति आदि कार्य के लिए सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। विश्व की तकनीकी प्रगति से राष्ट्रों की दूरियाँ कम हो गई है। इससे व्यापार का क्षेत्र भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का हो गया है। विश्वयुद्धों की त्रासदी ने इस क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग की भावना को बल दिया। यूरोप में शक्ति संतुलन स्थापित हो। इस प्रक्रिया में साम्यवादी शक्तियों को दबाने हेतु राजनैतिक आर्थिक घटना चक्र ने आर्थिक सहयोग को बहुपक्षीय बना दिया।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आगे आने वाली अर्थव्यवस्थाएँ इन्हीं से संचालित होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

12.15 शब्दावली

- **क्षेत्रीय-आर्थिक संगठन** (Regional Economic Organisation) -। क्षेत्रों द्वारा अपने हितों की पूर्ति हेतु संगठनों का निर्माण करना ही क्षेत्रीय आर्थिक संगठन कहलाता है।
- **चुंगी-संघ** (Custom Union) - इस संघ के अन्तर्गत न केवल सदस्य देशों के मध्य व्यापार प्रतिबन्धों को समाप्त किया जाता है। वरन् असम्बद्ध देशों के साथ भी समान व्यापार-नीति का उपयोग किया जाता है।
- **मुक्त-व्यापार क्षेत्र** (Free Trade Area) - ब्रिटेन यूरोपीय आर्थिक समुदायों में शामिल नहीं हुआ और इसी के समानान्तर यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ बना लिया। ये यूरोपीयन आर्थिक संघ के चारों और फैला हुआ है। इन देशों को outer Sanin के नाम से जाना जाता है।
- **ECM-** यूरोप के राष्ट्रों में जागति पैदा करने के लिये यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना हुई।
- **EPU-** यूरोप के सदस्य राष्ट्रों के निरन्तर चल रहे भुगतान असंतुलन (घाटा व अतिरेक) को ठीक करने हेतु बनाया गया संघ।
- **LAFTA-** लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों में व्यापार वृद्धि के उपायों पर विचार विमर्श हेतु गठित संगठन।
- **NAFTA-** उत्तर अमेरिका महाद्वीप को एक मुक्त व्यापार क्षेत्र घोषित करने के लिए किया गया समझौता।
- **SARC-** दक्षिण एशिया की विभिन्न समस्याओं के निराकरण हेतु आपसी सहोग बढ़ाने हेतु बनाया गया संगठन।

12.16 स्वपरख प्रश्न

(1) "द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की बढ़ी हुई मात्रा ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत किया गया है।" उपर्युक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(2) क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं?

(3) यूरोपीय साझा बाजार पर एक संक्षिप्त टिप्पणीं लिखिये।

(4) "दक्षिण एशिया क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

12.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अग्रवाल, सिंह, गुप्ता : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त।
2. Mithani D.M. : International Economics.
3. Mithani D.M. : Money, Banking, International Trade and Public Finance.

इकाई - 13 : प्रलेखीय साख (Documentary Credit)

इकाई की रूपरेखा -

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 प्रलेखीय साख का अर्थ
13.3 प्रलेखीय साख की विशेषतायें
13.4 प्रलेखीय साख के विभिन्न पक्षकार
13.5 प्रलेख साख खोलने एवं प्रचलन की प्रक्रिया
13.6 प्रलेखीय साख के प्रकार
13.7 प्रलेखीय साख का महत्व/लाभ
13.8 प्रलेखीय साख में प्रयुक्त प्रलेख
13.9 प्रलेखीय साख की सीमाएँ/बाधाएँ
13.10 सारांश
13.11 शब्दावली
13.12 स्वपरख प्रश्न
13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़कर आप समझ पायेंगे कि-

- प्रलेखीय साख क्या है?
- प्रलेखीय साख में प्रमुख विशेषतायें कौन-कौन सी होती हैं?
- प्रलेखीय साख के प्रमुख पक्षकार कौन-कौन होते हैं?
- प्रलेखीय साख संचालित करने की प्रक्रिया कैसे होती है?
- प्रलेखीय साख का अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान व्यवस्था में क्या महत्व है?
- प्रलेखीय साख में किन प्रलेखों का प्रयोग किया जाता है एवं उसमें क्या सावधानी रखनी चाहिए?

13.1 प्रस्तावना

विदेशी व्यापार में सामान्यतया निर्यातकर्ता एवं आयातकर्ता एक दूसरे के बारे में एवं उनकी आर्थिक स्थिति के संबंध में ज्यादा परिचित नहीं होते हैं। जहाँ एक और निर्यातकर्ता माल के निर्यात के तुरन्त पश्चात् भुगतान प्राप्त करने की अपेक्षा रखता है वहीं दूसरी और आयातकर्ता माल प्राप्त होने एवं पूर्ण संतुष्टि के पश्चात् भुगतान करने में रूचि रखता है। इस स्थिति में विदेशी व्यापार व्यवस्था में संलग्नक बैंक आयातकर्ता एवं निर्यातकर्ता के मध्य मध्यस्तथा करते हैं, इस हेतु विदेशी विनिमय बिल एवं साख पत्रों का उपयोग किया जाता है एवं विनिमय बिल तथा साख पत्र के माध्यम से बैंकों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अल्पकालीन साख प्रदान की

जाती है। प्रलेखीय साख पत्र एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा बैंकों की सहायता से वैज्ञानिक तरीके से एक देश से दूसरे देश में सुविधाजनक रूप में भुगतान भेजा जा सकता है। एक ओर इस व्यवस्था द्वारा जहाँ भुगतान संप्रेषण का कार्य पूर्ण होता है वहीं दूसरी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस व्यवस्था द्वारा साख प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य भी किया जाता है। साख-पत्र के माध्यम से बैंकों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अल्पकालीन साख प्रदान करने की इस विधि के चलन में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रलेखीय साख को वित्त प्राप्त करने का सबसे सरल, सस्ता, सुरक्षित, सुविधाजनक एवं लोकप्रिय साधन माना जाता है।

बैंकों की विश्वभर में फैली शाखाओं एवं प्रतिनिधि बैंकों की शाखाएं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रीढ़ की हड्डी का काम करती है। उनके माध्यम से यह सुविधा प्रदान की जाती है।

13.2 प्रलेखीय साख का अर्थ

''प्रलेखीय साख'' अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साख प्रदान करने का वह तरीका है जिसमें 'प्रलेख' के आधार पर साख प्रदान की जाती है अर्थात 'प्रलेख' साख का आधार होते हैं एवं बिना प्रलेखों के साख सम्भव नहीं होती है। अन्य शब्दों में प्रलेखीय साख में 'प्रलेख' एवं 'साख' में महत्वपूर्ण अन्तर सम्बंध होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक एवं उद्योग चैम्बर के अनुसार, ''प्रलेखीय साख वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत साख सम्बंधी उल्लेखीय सभी शर्तों की पूर्ति होने अथवा सभी उल्लेखित प्रलेख प्राप्त होने पर ही साख प्रदान करने वाले बैंक द्वारा लाख प्रार्थी (आयातकर्ता) के आदेशानुसार तीसरे पक्ष (लाभ प्राप्तकर्ता) या उसके आदेशित अन्य व्यक्ति को भुगतान किया जाता है अथवा लाभ प्राप्तकर्ता द्वारा लिखे गये विनिमय बिलों की स्वीकृति, कटौती या भुगतान किया जाता है अथवा फिर किसी दूसरे बैंक को ऐसे बिलों की स्वीकृति, कटौती या भुगतान के लिए अधिकृत किया जाता है।''

'पिटमैन व्यापारिक शब्दावली कोष' के अनुसार, ''प्रलेखीय साख एक ऐसे साख-पत्र को दिया गया नाम है जिसके अन्तर्गत कुछ निश्चित प्रतिभूतियों की जमा के पश्चात् राशि अग्रिम देने की शर्त का पत्र निर्गमित किया जाता है।''

मॉरिस मेग्ना के शब्दों में ''साख-पत्र ऐसे लिखित वचन की तरह वर्णित किया जा सकता है जो माल के क्रेता के आवेदन पर, बैंक द्वारा माल के विक्रेता को दिया जाता है कि वचन-पत्र की शर्तों के अनुसार विक्रेता द्वारा लिखे विनिमय बिलों को स्वीकार किया जाये तथा भुगतान के लिए प्रस्तुतीकरण पर खरीदे गये माल के स्वामित्व सम्बंधी प्रलेख दे दिये जायें।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि ''प्रलेखीय साख ऐसी साख है जिसमें आयातकर्ता के आवेदन पर एक बैंक दूसरे बैंक को माल के प्रलेखों की सुपुर्दगी पर विनिमय बिलों के स्वीकार करने एवं भुगतान करने का निर्देश देता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आयात की प्रार्थना पर बैंक द्वारा आयातक को साख प्रदान करने की सुविधा प्रदान की जाती है। इसके अन्तर्गत आयातक अपनी बैंक से निवेदन करता है कि अमुक देश की अमुक फर्म के पक्ष में बैंक एक साख-पत्र निर्गमित करे। इस साख-पत्र में शर्तों का उल्लेख रहता है कि निर्यातक

द्वारा माल भेजने से सम्बंधित विभिन्न प्रलेखों को बैंक के सुपुर्द करने पर बैंक उस निर्यातक को भुगतान कर देगा। उन सारे प्रलेखों को बैंक आयातक को सुपुर्द कर उसके खाते में उतनी ही राशि नाम लिख देता है यह व्यवस्था ही 'प्रलेखीय साख' कहलाती है।

13.3 प्रलेखीय लाख की विशेषतायें

प्रलेखीय साख की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:-

1. यह बैंक द्वारा निर्गमित एक साख-पत्र है।
2. आयातकर्ता अपने ही देश की बैंक से साख खोलने की प्रार्थना करता है।
3. आयातक के अनुरोध पर बैंक प्रलेखीय साख खोल कर पूर्ण शर्तों सहित इसकी सूचना निर्यातकर्ता को देता है।
4. निर्यातकर्ता द्वारा साख पत्र में वर्णित शर्तों के धार पर माल का निर्यात किया जाता है एवं संबंधित समस्त प्रलेख अपनी अभिकर्ता बैंक के माध्यम से साख खोलने वाली बैंक को भेज दिये जाते हैं।
5. साख प्रदान करने वाला बैंक समस्त प्रपत्रों का अध्ययन करता है एवं संतुष्ट होने पर विक्रेता के बिल का भुगतान प्रतिनिधि बैंक के माध्यम से कर देता है या विक्रेता द्वारा लिखित विनिमय बिल पर स्वीकृति प्रदान कर देता है।
6. प्रलेखीय साख एक पृथक अनुबंध है इसका विक्रय अनुबंध से कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं होता है।

13.4 प्रलेखीय साख के विभिन्न पक्षकार

1. **आवेदनकर्ता अथवा आयातकर्ता (The Applicant Importer) -** प्रलेखीय साख व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण पक्षकार साख खुलवाने वाला अथवा आयातकर्ता होता है। इसी की प्रार्थना पर साख खोली जाती है। प्रलेखीय साख के खुलने की प्रक्रिया से उसके अन्तिम रूप से समाप्त होने तक इस पक्षकार का प्रभाव एवं महत्व रहता है। बैंक कमीशन, साख संबंधी अन्य खर्चे व साख की मूल राशि इसी पक्षकार द्वारा वहन की जाती हैं। साखपत्र खुलवाते समय साख से सम्बद्ध सभी यथोचित दायित्वों को वहन करने एवं चुकाने की यह सहमति (consent) देता है एवं अन्त में बैंक को भुगतान कर देता है।
2. **साख खोलने वाला बैंक (Credit Opening Bank)** यह बैंक आयातकर्ता के देश का बैंक होता है। इस बैंक की विदेशों में कई शाखाएँ होती हैं अथवा जिसका अन्य कई विदेशी प्रतिनिधि बैंकों से सम्पर्क होता है। यह बैंक आयातकर्ता के अनुरोध पर प्रलेखीय साख खोलता है एवं इस बात का उत्तरदायित्व लेता है कि साख पत्र की शर्तों के अनुसार प्रलेख प्राप्त किये जाने पर सभी आवश्यक रकम का भुगतान आयातकर्ता की ओर से वह स्वयं करेगा। यह बैंक साख आवेदनकर्ता से या तो अग्रिम राशि प्राप्त कर लेता है अथवा "सीमान्तर" के रूप में मूल राशि का कुछ प्रतिशत भाग प्राप्त कर लेता है अथवा आयातकर्ता यदि बैंक का जाना पहिचाना एवं प्रतिष्ठित ग्राहक है तो साख के अन्तिम भुगतान पर इनके खाते में राशि नाम (Debit) कर देता है।

3. **भुगतानकर्ता बैंक अथवा प्रतिनिधि बैंक (Paying Bank or Representative Bank)** भुगतानकर्ता बैंक अथवा साख निर्गमन करने वाले बैंक की प्रायः विदेश में शाखा होती है। यदि निर्गमन कर्ता बैंक की कोई शाखा अवस्थित न हो तो किसी अन्य विदेशी बैंक से सहयोग लिया जाता है उसे 'प्रतिनिधि बैंक' कहते हैं। साख खोलने वाला बैंक खोले गये साख पत्र की मूल प्रति हवाई डाक से इसी बैंक को भेजता है। यह बैंक निर्यातकर्ता अथवा लाभार्थी को साख पत्र के खुलने और उसकी विभिन्न शर्तों की सूचना देते हैं तथा निर्यातकर्ता द्वारा साख पत्र की शर्तों अनुरूप प्रलेख प्रस्तुत किये जाने पर विनिमय बिलों को स्वीकृति प्रदान करने या भुगतान करने का उत्तरदायित्व लेते हैं।
4. **परक्रामण बैंक (Negotiating Bank) -** 'परक्रामण बैंक वह बैंक है जो निर्यातकर्ता तथा प्रतिनिधि बैंक के बीच कड़ी का कार्य करता है। यदि प्रतिनिधि बैंक की कोई शाखा निर्यातकर्ता के देश या नगर में स्थित न हो तो निर्यातकर्ता के अनुरोध पर किसी अन्य बैंक को पराक्रमण बैंक नियुक्त किया जाता है। यह बैंक प्रतिनिधि बैंक की भूमिका का निर्वहन करता है। इसके बदले बैंक अपनी सेवाओं के लिए पराक्रमण शुल्क (Negotiation charge) वसूल करता है जो सामान्यतया निर्यातकर्ता द्वारा वहन किया जाता है।
5. **लाभार्थी अथवा निर्यातकर्ता (Beneficiary or Exporter) -** यह प्रलेखीय साख का एक महत्वपूर्ण पक्षकार होता है। यह माल का निर्यातक होता है और इसी के लाभ के लिए प्रलेखीय साख को खोलने की आवश्यकता होती है। इस पक्षकार का यह कर्तव्य है कि साख पत्र खुलने की सूचना मिलने पर माल के प्रलेखों को शर्तों के अनुसार सावधानीपूर्वक तैयार करे एवं निर्धारित शर्तों के अनुरूप माल निर्यात करके शर्तों के अनुरूप समस्त प्रलेख प्रेषित करे। यदि साख पत्र में उल्लिखित शर्तों के अनुरूप प्रलेख तैयार नहीं किये गये है या उनमें थोड़ी-सी भी कोई गलती रह गई है तो इसका प्रत्यक्ष प्रभाव लाभार्थी पर ही पड़ेगा अर्थात साख का भुगतान उसको नहीं हो पायेगा। इसके लिए निर्यातकर्ता स्वयं जिम्मेदार होगा।
6. **अन्य पक्ष (Other Parties) -** आवश्यकता पड़ने पर अन्य पक्षों के अन्तर्गत उन व्यक्तियों या फर्मों बैंकों को सम्मिलित किया जाता है जो किन्हीं कार्यवश या विशिष्ट उद्देश्य से पक्षकार बन जाते हैं जैसे यदि निर्यातकर्ता द्वारा लिखे गये बिल पर स्वीकृति मिलती है तथा इन विनिमय बिल को लाभ प्राप्तकर्ता द्वारा कटौती गृह अथवा बैंक से भुना लिया जाता है तो यह कटौती गृह अथवा बैंक भी एक पक्षकार कहा जा सकता है। इसी तरह कटौती न करा कर लाभ निर्यातकर्ता द्वारा उस विनिमय बिल का किसी के पक्ष में पृष्ठांकन कर दिया जाता है तो जिस पक्षकार के पक्ष में पृष्ठांकन (Endorsement) हुआ है वह भी इसमें एक पक्षकार माना जा सकता है।

   इस प्रकार प्रलेखीय साख के अन्तर्गत विभिन्न पक्षकारों की महत्वपूर्ण भूमिका बनी रहती है इसमें पक्षकार आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं।

13.5 प्रलेखीय साख खोलने एवं प्रचलन की प्रक्रिया

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है कि प्रलेखीय साख अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान करने का सस्ता सुलभ एवं लोकप्रिय साधन माना जाता है इसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार है:-

1. **साख खुलवाने के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करना (Application for Opening Letter of Credit or L/C) -** आयातक द्वारा अपनी बैंक को साख खुलवाने के लिए प्रार्थना पत्र दिया जाता है जिसमें आयातक एवं निर्यातक के आपसी समझौते के अनुसार आयातक द्वारा अपने बैंक से यह प्रार्थना' की जाती है कि वह निर्यातक के पक्ष में साख पत्र जारी करे। सामान्यतया इस प्रकार का प्रार्थना-पत्र छपे हुए फार्म के रूप में बैंक में उपलब्ध रहता है। इस प्रार्थना पत्र में 1 आवेदनकर्ता का नाम, व्यवसाय व हस्ताक्षर, 2. लाभार्थी (निर्यातकर्ता) का नाम व पता, 3. साख का प्रकार, मात्रा व अवधि, 4. माल का विवरण, राशि व मात्रा, 5. साख पत्र में संलग्न किये जाने वाले प्रलेखों जैसे जहाजी बिल्टी, बीमा-पत्र. आदि तथा 6. अन्य शर्तों का उल्लेख रहता है। आयातक को आवेदन-पत्र के साथ आयात लाइसेंस की प्रतिलिपि, विदेशी विनिमय के लिए अनुमति-पत्र तथा साख खोलने के लिए आवश्यक नकद राशि, चैक आदि भी संलग्न करने चाहिए।
2. **प्रार्थना पत्र की जाँच एवं विश्लेषण (Scrutiny and Analysis of application form) -** प्रार्थना पत्र की प्राप्त होने के बाद बैंक उसकी सभी प्रविष्टियों की जाँच एवं विश्लेषण करता है। इस दौरान बैंक को चार प्रकार के नियमों को ध्यान में रखना चाहिए: 1. अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य चेम्बर द्वारा बनाये गये नियम, 2. केन्द्र सरकार द्वारा आयात-निर्यात से सम्बंधित बनाये गये नियम, 3. रिजर्व बैंक द्वारा बनाये गये विदेशी विनिमय सम्बंधी नियम, तथा 4. बैंकिंग संघ (IBA) तथा बैंक के मुख्य कार्यालय द्वारा बनाये गये नियम। इसके साथ ही बैंक को अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति व उसके व्यवसाय की जानकारी एवं प्रगति से भी सन्तुष्ट होना चाहिए। क्योंकि साख-पत्र जारी करने के बाद साख खोलने वाले बैंक (Issuing Bank) की जिम्मेदारी सबसे ज्यादा बढ़ जाती है। बैंक यह भी देखता है कि जिस फर्म के लिए साख-पत्र जारी किया जा रहा है उस फर्म के देश में इस बैंक द्वारा व्यवहार किया जाता है या नही। क्या इसी बैंक की शाखा वहाँ है या किसी अन्य बैंक से सहयोग का समझौता हो चुका है? सभी बातों से संतुष्ट होने पर ही साख पत्र का निर्गमन किया जाता है।
3. **साख खोलना (Opening of Credit) -** आयातकर्ता के आवेदन पत्र की जाँच से पूर्ण सन्तुष्ट होने पर बैंक, निर्यातकर्ता अथवा लाभार्थी (beneficiary) के पक्ष में आवश्यक साख-पत्र का निर्गमन करता है। साख खोलने वाले बैंक द्वारा साख-पत्र में उन सभी शर्तों का समावेश होता है जिसकी पूर्ति आयातकर्ता ने अपने आवेदन पत्र में चाही है। साख-पत्र निर्गमन करते समय अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य चैम्बर के प्रकाशन नं. 290 'Uniform Customs and Practices for Documentary Credit' (1974 Revision) में निहित व्यवहार संहिता को ध्यान में रखना चाहिए। साख पत्र का निर्गमन कर इसके निर्गमन की सूचना बैंक द्वारा निर्यातकर्ता एवं उसके देश में स्थिति स्वयं के बैंक या प्रतिनिधि बैंक को दी जाती है।
4. **निर्यातक या लाभार्थी को सूचना (Information to Beneficiary) -** साख-पत्र खोलने के तुरन्त पश्चात इस आशय की सूचना तुरन्त लाभार्थी को भेजी जाती है। साख-पत्र प्रायः एक

निश्चित अवधि तक के लिए ही होता है एवं तिथि के पहले शर्तों के अनुरूप माल को जहाज में लदाना जरूरी होता है, अत: सूचना समय पर भेजना आवश्यक होता है। लाभार्थी को सूचना देते समय अगर कोई विशेष सूचना हो तो वह भी उसे प्रेषित कर दी जाती है। यदि सूचना देते समय साख की पुष्टि होना आवश्यक हो तो भुगतानकर्ता बैंक को इसका पुष्टिकरण भी कर देना चाहिए।

5. **निर्यातकर्ता द्वारा प्रलेख तैयार करना एवं उनकी सुपुर्दगी करना (Preparation and delivery of documents by exporter) -** निर्यात की शर्तों के अनुरूप माल निर्यात करके साख-पत्र की शर्तों के अनुसार सभी प्रलेख तैयार करने चाहिए। इन प्रलेखों में प्रमुख प्रलेख होते हैं (i) माल का बीजक (Invoice), (ii) जहाजी बिल्टी (Bill of Lading), बीमा प्रमाण-पत्र (Marine and other Insurance Policies), (iv) वाणिज्य दूत बीजक (Consular Invoice), (v) उद्गम प्रमाण-पत्र (Certificate of Origin), (vi) किस्म व भार प्रमाण-पत्र (Quality and Weight Certificate), (vii) विनिमय बिल (Bill of Exchange) आदि। इन प्रलेखों को तैयार करके अभिकर्ता बैंक को निश्चित तिथि तक भेजने पड़ते हैं। यदि इसमें कोई विलम्ब हो तो निर्यातकर्ता जिम्मेदार होगा।
6. **अभिकर्ता बैंक द्वारा भुगतान या स्वीकृति प्राप्त करना (Payment or Acceptance by representative Bank)** - निर्यातकर्ता द्वारा सभी आवश्यक प्रलेखों को प्रस्तुत करने के बाद अभिकर्ता बैंक द्वारा उन प्रलेखों की जाँच करके बीजक के अनुरूप निर्यातकर्ता को भुगतान कर दिया जाता है। यदि शर्तों में नकद भुगतान न करके लाभार्थी द्वारा लिखे गये विनिमय-बिल पर स्वीकृति की व्यवस्था हो तो बैंक द्वारा नकद भुगतान के स्थान पर विनिमय-बिल पर स्वीकृति दे दी जाती है, जिसका निश्चित तिथि पर स्वीकर्ता बैंक द्वारा भुगतान कर दिया जाता है।
7. **निर्गामी बैंक को प्रलेखों को प्रेषित करना (Remittance of Documents to issuing Bank) -** भुगतानकर्ता बैंक द्वारा ये सारे प्रलेख उस बैंक को प्रेषित कर दिये जाते हैं, जिसने साख-पत्र खोला है। ये प्रलेख साख-पत्र में दी गई व्यवस्था के अनुसार भेजे जाते हैं एवं व्यवहार में प्रायः सभी प्रलेखों को एक साथ न भेजकर दो अलग-अलग समूहों में भेजा जाता है। शीघ्रता के लिये ये प्रलेख हवाई डाक से ही भेजे जाते हैं। साख-पत्र खोलने वाले बैंक द्वारा इन प्रलेखों को साख खुलवाने वाले व्यक्ति को दे दिये जाते हैं। जिसके आधार पर वह आगामी कार्यवाही कर सके।
8. **प्रलेख आयातक को सौंपना (Delivery of documents to the importer)-** साख खोलने वाली बैंक द्वारा सभी आवश्यक प्रलेख आयातक को सौंप दिये जाते हैं जिससे आयातक उन प्रलेखों के माध्यम से जहाज से माल छुड़वा लेता है।
9. **बैंकों के मध्य भुगतान व्यवस्था का निपटारा (Payment System between Bank and Settlement of Payment) -** बैंक द्वारा भुगतान करने पर उस राशि से साख खोलने वाली बैंक के खाते को नाम कर दिया जाता है एवं साख खोलने वाली बैंक द्वारा अपनी लेखा पुस्तकों में अभिकर्ता बैंक के खाते में इतनी ही राशि जमा कर दी जाती है। इसके बाद भुगतानों के निपटारे के लिए किसी शहर की मध्यस्थ शाखा में अभिकर्ता बैंक के

खाते में उतनी ही राशि साख खोलने वाली बैंक द्वारा जमा कर दी जाती है, जिससे बैंकों के आपसी भुगतानों का निपटारा हो जाता है।

10. **प्रार्थी व बैंक के मध्य भुगतान व्यवस्था (Payment between Bank and applicant) -** प्रार्थी को प्रलेख प्रदान करते समय साख खोलने वाली बैंक द्वारा प्रार्थी के खाते में बिल की राशि मय बैंक कमीशन एवं अन्य खर्चो के नाम कर दी जाती है एवं प्रार्थी द्वारा बैंक में उतनी राशि नकद जमा करा दी जाती है। यदि प्रार्थी से पूर्व व्यवस्था न हो तो उसे बैंक द्वारा अधिविकर्ष की सुविधा भी दी जा सकती है अथवा बैंक व ग्राहक के मध्य पूर्व निश्चित हो तो बैंक उस राशि के तुल्य ग्राहक पर विनिमय बिल लिख सकता है जिसे ग्राहक द्वारा स्वीकृति दे दी जाती है तथा फिर भुगतान की तिथि पर उस स्वीकृत बिल का भुगतान ग्राहक द्वारा कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रार्थी व बैंक के मध्य भुगतान का निपटारा हो जाता है एवं साख प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार प्रलेखीय साख व्यवस्था विभिन्न प्रक्रिया से गुजरती है इस प्रक्रिया के दौरान सभी पक्षकारों को पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। जिससे प्रक्रिया में बाधा न आये एवं माल का आयात निर्यात एवं भुगतान की व्यवस्था निश्चित तरीके से पूर्ण हो जावे।

13.6 प्रलेखीय साख के प्रकार

प्रलेखीय साख के प्रमुख प्रकार निम्नांकित हैं-

1. **खण्डनीय साख (Revocable Credit)-** खण्डनीय साख के अन्तर्गत साख खोलने वाले बैंक को यह अधिकार रहता है कि वह चाहे तो साख को जारी करने के बाद भी उसे खण्डित, निरस्त या परिवर्तित कर सकता है। अन्य शब्दों में इसमें लाभार्थी को सूचना दिये बिना साख की शर्तों में परिवर्तन अथवा साख को समाप्त किया जा सकता है। इससे बैंक पर कोई कानूनी बाध्यता पैदा नहीं होती है। आयातकर्ता की दृष्टि से खण्डनीय साख अच्छी होती है क्योंकि इसमें निर्यातकर्ता के व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। सामान्यत: जब माल अलग-अलग खेपों में मंगाया जाता हो तो इस साख पत्र का उपयोग किया जाता है।
2. **अखण्डनीय साख (Irrevocable Credit) -** अखण्डनीय साख ऐसी साख होती है जिसको जारी करने के बाद बैंक अपनी मर्जी से इसे खण्डित नहीं कर सकता है। इसके खण्डन के लिए सभी पक्षकारों की सहमति की आवश्यकता होती है। इस साख में साख की शर्तें पूर्ण होते ही बैंक द्वारा भुगतान करना अनिवार्य होता है। निर्यातकर्ता की दृष्टि से अखण्डनीय साख ही उत्तम मानी जाती है क्योंकि इसमें साख के खण्डन का भय नहीं रहता है।
3. **पुष्टिकृत साख (Confirmed Credit) -** पुष्टिकृत साख वह साख है जिसमें साख खोलने वाला बैंक भुगतान करने वाले बैंक से साख-पत्र की शर्तों की पुष्टि मांगता हो एवं भुगतानकर्ता बैंक द्वारा इस बात की पुष्टि कर दी जाती है कि वह प्रलेखों की प्राप्ति पर भुगतान अवश्य कर देगा। साखपत्र के अनुसार व्यवहार करने की पुष्टि के कारण ऐसी साख को पुष्टिकृत साख कहा जाता है। इसमें निर्यातकर्ता को भुगतान प्राप्त होने की पूर्ण गारन्टी हो जाती है।
4. **अपुष्टिकृत साख (Unconformed Credit) -** अपुष्टिकृत साख वह साख है जिसमें साख खोलने वाली बैंक द्वारा अभिकर्ता बैंक से किसी तरह की पुष्टि नहीं मांगी जाती है। इस साख में निर्यातकर्ता का दायित्व बना रहता है। यदि भुगतानकर्ता बैंक को किन्हीं कारणों से साख

खोलने वाले बैंक से पुन: भुगतान नहीं मिलता है तो अपुष्टिकृत साख के अन्तर्गत निर्यातकर्ता से भुगतान की गई राशि वापिस वसूल की जा सकती है।

5. **प्रत्यक्ष साख (Straight Credit)-** प्रत्यक्ष साख वह होती है जिसमें निर्यातकर्ता के देश की मुद्रा में निर्यातकर्ता को भुगतान किया जाता है एवं इसका पुष्टिकरण भी निर्यातकर्ता देश के स्थानीय बैंक द्वारा ही किया जाता है।
6. **पराक्रमण साख (Negotiation Credit)-** पराक्रमण साख वह साख है, जिसमें साख खोलने वाला बैंक अपने विदेश स्थित अभिकर्ता बैंक को यह निर्देश मात्र देता है कि वह निर्यातकर्ता के बिलों का पराक्रमण कर दे। इसके अन्तर्गत बिल आयातकर्ता पर लिखे जाते हैं न कि साख खोलने वाले बैंक पर। अत: साख खोलने वाले बैंक का बिल सम्बन्धी कोई दायित्व नहीं होता है। इस साख में भुगतानकर्ता बैंक विदेश में स्थित होने के कारण प्रत्यक्ष' भुगतान सम्भव नहीं होते हैं।
7. **दर्शनी साख (Sight Credit)-** "दर्शनी साख" वह साख है जिसमें निर्यातकर्ता द्वारा प्रस्तुत विनिमय बिलों का प्रतिनिधि बैंक को दर्शन करते ही भुगतान करना होता है। इसके अन्तर्गत दर्शनी बिलों (Sight Bills) का प्रस्तुतीकरण प्रलेखों के साथ ही करना होता है। ऐसे बिलों पर स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि, उनका प्रस्तुति के दिन ही तुरन्त भुगतान कर दिया जाता है। निर्यातकर्ता के लिए 'दर्शनी साख' उपयुक्त रहती है क्योंकि वह माल की रवानगी के तुरन्त बाद दर्शनी प्रलेखी बिल प्रस्तुत कर तुरन्त भुगतान प्राप्त कर सकता है।
8. **सावधि साख (Term Credit) -** सावधि साख वह साख है जिसमें निर्यातकर्ता द्वारा प्रस्तुत विनिमय बिलों पर बैंक द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है और एक निश्चित अवधि के बाद उनका भुगतान कर दिया जाता है। ऐसे विनिमय बिल प्रायः सावधि विनिमय बिल होते हैं। निर्यातकर्ता इन बिलों की अन्यत्र कटौती करवाकर अल्पकालीन वित्त भी प्राप्त कर सकता है।
9. **स्थायी साख (Fixed Credit) -** स्थायी साख का अर्थ उस साख से है, जिसमें साख की अवधि एवं राशि दोनों निश्चित होती है। उस निश्चित राशि या अवधि के समाप्त हो जाने पर साख भी स्वत: ही समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि 70 हजार पौण्ड का साख पत्र 6 महीने की अवधि के लिए जारी किया जाता है तो ज्योंही इस राशि के बिल स्वीकार होने या 6 महीने पूर्ण होने/दोनों में जो पहले पूर्ण हो जाय, पर स्वत: ही साख समाप्त हो जाती है।
10. **आवर्ती साख (Revolving Credit) -** आवर्ती साख के अन्तर्गत साख निश्चित तिथि पूर्व समाप्त नहीं होती है। इसमें साख की राशि आवर्ती रूप से चलती रहती है। जैसे 50,000 डीलर की राशि से आवर्ती साख खोली गई तो उसमें से 10,000 डीलर के भुगतान के बाद यदि इस राशि का आयातकर्ता द्वारा तत्काल भुगतान कर दिया जाए तो साख की राशि 50,000 डॉलर स्वत: ही हो जाती है। अत: इसे आवर्ती साख कहते हैं।
11. **संचयी साख (Cumulative Credit) -** संचयी साख वह साख होती है जिसके अन्तर्गत एक अवधि में साख की पूरी मात्रा का उपयोगन करने पर वह बची हुई राशि भविष्य में प्रयोग की जा सकती है। जैसे प्रतिमाह 20,000 डॉलर की साख की सुविधा उपलब्ध है। यदि किसी माह 10,000 डॉलर ही प्रयोग हुआ है तो अगले माह साख की राशि 30,000 डीलर तक बढ़ जावेगी इसमें निश्चित तिथि तक साख का संचय होता रहता है।

12. **असंचयी साख (Non Cumulative Credit) -** असंचयी साख के अन्तर्गत जितने समय के लिए जितनी साख की राशि निर्धारित हुई होती है उतनी राशि का उसी अवधि में प्रयोग करना पड़ता है, अन्यथा वह साख राशि स्वत: समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि 20,000 डीलर प्रति माह की साख खोली गयी है उसमें से किसी माह केवल 10,000 डीलर ही प्रयोग किया जाता है तो शेष 10,000 डीलर की साख राशि समाप्त मानी जावेगी। अगले माह केवल 20,000 डीलर की साख राशि का ही प्रयोग किया जा सकेगा।
13. **लाल वाक्य साख (Red Clause Credit) -** लाल वाक्य साख में साख पत्र में लाल स्याही से धारा छपी रहती है। इस धारा का अभिप्राय साख खोलने वाले बैंक (Opening Bank) की जिम्मेदारी पर अभिकर्ता बैंक द्वारा लाभार्थी को अग्रिम या पेशगी (Advance) दे देने से है जिससे निर्यातकर्ता को माल एकत्रित करने या कच्चे माल की प्राप्ति एवं उत्पादन आदि के लिए पोत लदान से पूर्व अल्पकालीन वित्त सुविधा प्राप्त हो सके। जब अभिकर्ता बैंक द्वारा निर्यातकर्ता को निर्यातित माल का भुगतान किया जाता है या उसके बिलों की कटौती की जाती है तो लाल वाक्य के अन्तर्गत दी गई अग्रिम राशि व उस पर व्याज की रकम दोनों घटाकर बिल की शेष राशि का भुगतान कर भुगतान सोदा सम्पन्न किया जाता है।
14. **हरा वाक्य साख (Green Clause Credit) -** हरा वाक्य साख में हरी स्याही से धारा छपी रहती है। जिसके अन्तर्गत साख खोलने वाले बैंक द्वारा निर्यातकर्ता को माल उत्पादन करने तथा लदान से पूर्व गोदाम में रखने के लिए बैंक अग्रिम राशि या पेशगी दी जाती है परन्तु माल बैंक के नाम ही रखा जाता है। इस प्रकार लाल वाक्य साख में माल निर्यातकर्ता के नाम से ही रहता है जबकि हरा वाक्य साख में माल बैंक के नाम रहता है, अत: बैंक के लिए इसमें दोहरी सुरक्षा रहती है।
15. **पैकिंग साख (Packing Credit) -** पैकिंग साख का अभिप्राय किसी साख-पत्र से न होकर साख-पत्र के आधार पर विदेशी अभिकर्ता बैंक द्वारा निर्यातकर्ता को कच्चा माल खरीदने, एकत्र करने या पैकिंग करने के लिए अग्रिम या पेशगी देने से होता है। एक प्रकार से यह निर्यातकर्ता को अभिकर्ता बैंक द्वारा प्रदत्त सुविधा है। अग्रिम देने वाले बैंक को साख-पत्र के कारण सुरक्षा रहती है तथा ब्याज की आय भी होती है। यह साख एक प्रकार से लाल वाक्य साख के समान ही है, अन्तर केवल यह है कि लाल वाक्य साख साख खोलने वाले बैंक द्वारा प्रदत्त की जाती है जबकि पैकिंग साख प्रायः विदेशी अभिकर्ता बैंक द्वारा दी जाती है।
16. **हस्तांतरणीय साख (Transferable Credit)-** जब अखण्डीय साख में लाभार्थी को साख को हस्तांतरण का अधिकार हो तो इसे हस्तान्तरणीय साख कहते हैं। ऐसी साख में लाभार्थी को यह अधिकार होता है कि वह साख-पत्र की राशि का स्वयं उपयोग करे अथवा वह चाहे तो उस राशि के लिए साख-पत्र का किसी अन्य पक्षकार को हस्तांतरण भी कर सकता है। सामान्यतया मध्यस्थों द्वारा इसका उपयोग किया जाता है।
17. **प्रथम पर आधारित दूसरी साख (Back to Back Credit) -** इस साख व्यवस्था के अन्तर्गत लाभार्थी अपनी स्वयं की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए साख-पत्र के आधार पर एक अन्य साख-पत्र खुलवा सकता है। प्रार्थी द्वारा बैंक से प्रार्थना करके उस व्यक्ति के पक्ष में साख-पत्र खुलवाया जाता है जिससे वह निर्यात करने के लिए माल खरीद रहा है। इस

प्रकार एक साख-पत्र के आधार पर दूसरा साख-पत्र खोला जाता है। इसे प्रथम पर आधारित दूसरी साख कहते हैं।

18. **विलम्ब से भुगतान साख (Delayed Payment Credit) -** इस साख व्यवस्था के अन्तर्गत निर्यातकर्ता आयातकर्ता को माल से सम्बंधित सभी लेख-पत्र तो तत्काल भेज देता है, परन्तु विनिमय बिल कुछ दिन पश्चात् बैंक के सामने प्रस्तुत करता है। इस तरह कुछ दिन विलम्ब के कारण आयतक को भुगतान करने के लिए कुछ समय अवधि मिल जाती है। इस कारण इसे विलम्ब से भुगतान साख कहते हैं।

13.7 प्रलेखीय साख का महत्व/लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रलेखीय साख का अत्यधिक महत्व है। यह आयातक व निर्यातक दोनों ही पक्षों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसके लाभ निम्न बिन्दुओं से समझे जा सकते हैं -

(A) **निर्यातक को लाभ (Advantage to Exporter) -** प्रलेखीय साख से निर्यातक को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं।

1. **भुगतान की निश्चितता (Certainty of Payments) -** निर्यातकर्ता को इस पद्धति से भुगतान मिलने की सबसे ज्यादा गारन्टी रहती है एवं निर्यातकर्ता निर्यात आदेश के निष्पादन में पूरी तरह लग सकता है तथा भुगतान के बारे में उसे कोई चिन्ता नहीं रहती है तथा उसे शर्तों के अनुसार भुगतान प्राप्त होता रहता है। अखण्डनीय साख पत्र जारी किया गया है तो निर्यातकर्ता को इसकी सूचना दे देने के बाद इसे निरस्त भी नहीं किया जा सकता
2. **भुगतान की सुरक्षा (Safety of Payments) -** इस व्यवस्था के अन्तर्गत भुगतान सुरक्षित रहता है क्योंकि निर्यातकर्ता माल के प्रलेख तभी सौंपता है जबकि बैंक उसके विनिमय बिल पर या तो स्वीकृति दे देता है या उसका भुगतान कर देता है या साख की पुष्टि कर देता है।
3. **हस्तान्तरण जोखिम न होना (No Transfer Risks) -** प्रलेखीय साख के खुलने एवं उसके भुगतान में कई दिनों या महिनों का अन्तर होता है। भविष्य में यदि सरकार द्वारा विनिमय नियंत्रण कानून कोई में परिवर्तन भी कर दिया जाता है तो भी पुराने अनुबंधों को पुरानी शर्तों के अनुसार ही भुगतान सौदा निपटाया जाता है अत: इसमें भुगतान के हस्तांतरण सम्बंधी कोई जोखिम नहीं होती है।
4. **विनिमय दरों में उतार-चढाव से सुरक्षा (Security from Exchange rate fluctuation) -** साख की शर्तों के अनुरूप विनिमय दर भी निर्धारित कर ली जाती है अत: पूर्व निर्धारित विनिमय दरों पर भुगतान सौदे सम्पन्न होते हैं। जिससे उसे विनिमय दरों में होने वाले उतार-चढ़ाव से होने वाली हानि से सुरक्षा प्राप्त हो जाती है।
5. **बैंक से ऋण एवं अग्रिम वित्त सुविधा (Loan and Advances from Banks) -** साख पत्र जारी होने पर निर्यातक को बैंक से अल्पकालीन ऋण प्राप्त करने की सुविधा मिल जाती है। प्रथम पर आधारित दूसरी साख तथा लाल धारा साख व्यवस्था के अन्तर्गत निर्यातक बैंक से अल्पकालीन ऋण की सुविधा प्राप्त कर सकता है जिससे लदान पूर्व साख सरलता पूर्वक प्राप्त हो जाती है। इस आधार पर अन्य वित्तीय संस्थानों

से अग्रिम वित्त सुविधा भी प्राप्त कर सकता है। इससे निर्यातकर्ता के व्यापार में वृद्धि होती है।

(B) **आयातक को लाभ (Advantage to Important) -** प्रलेखीय साख से आयातक को निम्न लाभ होते हैं-

1. **शर्तों के अनुरूप भुगतान (Payments according to terms)** प्रलेखीय साख द्वारा भुगतान करते समय आयातक को सबसे बड़ा फायदा यह है कि वह भुगतान देने से पूर्व अपनी कुछ शर्तों का पालन निर्यातक द्वारा अनिवार्य रूप से करा लेता है। शर्तों मैं प्रमुख रूप से माल को किस जहाज से भेजना है, किस किस्म का माल भेजना है, कहां का बना हुआ भेजना है। बीमा किस तरह कराया जाता है, आदि सभी शर्तों का वर्णन होता है जिनके संबंध में संतुष्टि पूर्ण प्रमाण मिलने के बाद ही अभिकर्ता बैंक द्वारा भुगतान किया जाता है जो केवल मात्र प्रलेखीय साख में ही सम्भव है। इस प्रकार प्रलेखीय साख में शर्तें पूर्ण होने पर ही भुगतान किया जाता है।
2. **माल रवानगी की निश्चितता एवं समय पर माल की प्राप्ति (Certainty of Shipments and Receipt of Goods) -** इस पद्धति में प्रमुख प्रलेख होते हैं। इसके भुगतान करने पर यह निश्चितता रहती है कि निर्यातकर्ता द्वारा माल का निश्चित रूप से लदान करा दिया गया है क्योंकि जहाजी बिल्टी प्रमुख प्रलेख होता है इसके प्रस्तुत किये किए बिना भुगतान नहीं दिया जाता है। अत: माल की रवानगी की निश्चितता रहती है जिससे एक निश्चित समय पर माल आयातक के पास पहुँचने की निश्चितता रहती है इस कारण आयतक उसकी बिक्री के सौदे भी उसी क्रम में कर सकता है।
3. **मितव्ययी पद्धति (Economical System) -** यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने की सबसे मितव्ययी पद्धति है चाहे कितनी भी बड़ी राशि हो, इस पद्धति से सुगमतापूर्वक एवं बिना किसी जोखिम के न्यूनतम खर्च पर राशि का भुगतान किया जाता है।
4. **अनुकूल शर्तों का लाभ (Advantages of favourable conditions) -** प्रलेखीय साख का आयातक को यह लाभ है कि इस पद्धति में भुगतान प्राप्त होने की गारन्टी के कारण निर्यातक उपयुक्त मूल्य एवं उदार शर्तों पर माल निर्यात करने को तैयार हो जाता है। प्रलेखीय साख एक तरह से नकद भुगतान है। अत: नकद भुगतान की छूट भी प्राय: निर्यातक द्वारा दी जाती है। इस प्रकार आयातक को अपनी शर्तों के अनुसार सस्ता माल उपलब्ध हो जाता है।

   इस प्रकार प्रलेखीय साख व्यवस्था के अन्तर्गत आयातक एवं निर्यातक दोनों को लाभ प्राप्त होते हैं। इसके अलावा बैंकों के व्यवसाय में भी वृद्धि होती है तथा उन्हें भी अच्छा कमीशन प्राप्त होता है।

13.8 प्रलेखीय साख में प्रयुक्त प्रलेख

प्रलेखीय साख में साख का आधार मुख्य रूप से प्रलेख ही होते हैं। इन प्रलेखों की जाँच के पश्चात् ही प्रतिनिधि बैंक द्वारा भुगतान किया जाता है। प्रलेखीय साख में काम में आने वाले मुख्य प्रलेख निम्नलिखित हैं

1. **जहाजी बिल्टी (Bills of Lading) -** जहाजी बिल्टी प्रलेखीय साख का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रपत्र है। जहाजी बिल्टी एक जहाजी कम्पनी द्वारा दिया गया इस बात का प्रमाण पत्र है कि जहाज में रखा माल गंतव्य बन्दरगाह पर भेज दिया जायेगा और निश्चित व्यक्ति को या वाहक को माल की सुपुर्दगी दे दी जायेगी। जहाजी बिल्टी में उन सभी तथ्यों का उल्लेख होता है जो माल की प्रकृति और उसके स्वामी से सम्बंधित होती है। इस प्रकार जहाजी बिल्टी में जहाजी कम्पनी एवं जहाज का नाम, गंतव्य बंदरगाहों व मार्ग का नाम, माल की मात्रा, किस्म व मूल्य, माल का भार, पैकिंग व पहिचान के चिन्ह, बीमा सम्बंधी विवरण, जहाजी भाड़े की राशि, निर्यातकर्ता एवं आयातकर्ता के नाम, पते इत्यादि वर्णित होते हैं। जहाजी बिल्टी एक अर्द्ध विनिमय साख प्रलेख पत्र होती है इसको बेचान करने पर माल के स्वामित्व का हस्तान्तरण हो जाता है। इस प्रकार जहाजी बिल्टी के 3 कार्य होते हैं। (i) यह माल के जहाज से भेजने की रसीद है, (ii) यह जहाजी कम्पनी के साथ माल ले जाने का अनुबंध है तथा (iii) यह माल के स्वामित्व का अधिकार-पत्र है। यदि शीघ्र नष्ट होने वाला या बहुमूल्य माल वायु मार्ग द्वारा भेजा जाता है तो जहाजी बिल्टी के स्थान पर वायु बिल्टी भेजी जाती है सड़क मार्ग द्वारा यदि माल भेजा जाता है तो रेलवे या ट्रान्सपोर्ट बिल्टी संलग्न की जाती है।
2. **निर्यात बीजक (Export Invoice) -** यह बीजक निर्यातक द्वारा तैयार किया जाता है। इसमें भेजे जाने वाला माल का पूर्ण विवरण रहता है। बीजक सामान्यतया छपे हुए पर तैयार किये जाते हैं तथा तीन या चार प्रतियाँ बनाई जाती हैं। निर्यात बीजक में बिल जारी करने की तारीख, बीजक संख्या, आयातक का नाम एवं पूर्ण पता, गन्तव्य, बन्दरगाह, जहाजी बिल्टी की संख्या, मात का पूर्ण विवरण, उसकी मात्रा, किस्म, दर, मूल्य, ब्राण्ड आदि सभी बातों का समावेश रहता है। यह माल के स्वामित्व का प्रपत्र है एवं इसके द्वारा ही माल के स्वामित्व का हस्तान्तरण होता है। जिसके नाम बीजक होता है, वही माल का असली स्वामी माना जाता है। निर्यातकर्ता को बीजक पूर्ण सावधानी पूर्वक बनाया जाना चाहिए। क्योंकि यह सबसे महत्वपूर्ण प्रलेख है, इसमें लापरवाही से भुगतान संबंधी विवाद उत्पन्न होते है।
3. **बीमा-प्रपत्र (Insurance documents) -** विदेशी व्यापार में माल भेजते समय विभिन्न प्रकार की जोखिम तुलनात्मक रूप में अधिक होती है। सामुद्रिक मार्ग में माल के डूबने, आग लगने, डकैती आदि की जोखिम रहती है। जोखिमों के विरूद्ध बीमा कम्पनियां माल का बीमा करती है एवं कुछ प्रीमियम लेकर बीमा कम्पनियां माल के लिए सम्भावित जोखिमों के विरूद्ध बीमा करते हुए एक प्रपत्र जारी करती है, जिसे बीमा-प्रपत्र कहते हैं। बीमा-प्रपत्र के आधार पर जोखिम के समय माल की क्षति-पूर्ति प्राप्त की जाती है। बीमा प्रपत्र में बीमा कराने वाले का नाम, माल का विवरण, जोखिम का नाम, यात्रा का समय व अन्य सम्बंधित सूचनाएँ वर्णित रहती हैं। इसी प्रपत्र में बीमा की राशि भी उल्लेखित रहती है जिसके लिए बीमा कराया गया है।

   बीमा शुल्क आयातकर्ता या निर्यातकर्ता शर्तों के अनुरूप वहन करता है परन्तु माल का बीमा निर्यातक को ही कराना होता है। जहाजी बिल्टी की भाँति बीमा प्रपत्र भी हस्तान्तरणीय प्रलेख होता है।

4. **वाणिज्य दूतीय बीजक (Consuler Invoice) -** यह एक ऐसा प्रमाण-पत्र होता है जो आयातक देश के वाणिज्य दूत द्वारा निर्यातक को जारी किया जाता है। निर्यातक को अपने देश में स्थित, आयातक देश के वाणिज्य दूत कार्यालय से इस बीजक सम्बंधी छपे हुए तीन फॉर्म प्राप्त कर इसमें भेजे जाने वाले माल का पूर्ण विवरण लिखकर, इन तीनों पर वाणिज्य दूत के हस्ताक्षर कराता है। इसकी एक प्रति निर्यातक के पास रहती है, एक स्वयं वाणिज्य दूत के कार्यालय में रख ली जाती है तथा एक प्रति तटकर अधिकारियों को भेज दी जाती है। निर्यातक द्वारा अपनी प्रति आयातक को भेज दी जाती है। इस बीजक के आधार पर ही आयातक द्वारा तटकर चुकाया जाता है।
5. **बन्धक पत्र (Letter of Hypothecation) -** सामान्यत: दर्शनीय बिल द्वारा भुगतान या तुरन्त भुगतान की दशा में निर्यातक द्वारा बैंक के पक्ष में एक बन्धक-पत्र लिखा जाता है जिससे बैंक को सम्बंधित माल का वैधानिक स्वामित्व मिल जाता है। इस पत्र के प्राप्त होने पर यदि ग्राहक द्वारा बैंक की रकम वापिस नहीं चुकाई जाती है तो बैंक उस माल पर अपना अधिकार कर सकता है तथा उसे विक्रय कर अपनी राशि वसूल करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।
6. **किस्म का प्रमाण-पत्र (Certificate of Quality) -** माल की किस्म शर्तों के अनुसार हो इस सम्बंध में विश्वस्तता के लिए आयातक द्वारा माल की किस्म का प्रमाण-पत्र मांगा जाता है। यह प्रमाण-पत्र निर्यातक द्वारा मानक संस्थाओं अथवा सक्षम अधिकारी से प्राप्त किया जाता है एवं प्रपत्रों के साथ भेजा जाता है।
7. **वजन का प्रमाण-पत्र (Certificate of Weight) -** यह निर्यात किये जाने वाले माल का निर्यात के समय वजन की पुष्टि का प्रमाण होता है। यह प्रमाण-पत्र बन्दरगाह पर माल का वजन करके किसी जिम्मेदार अधिकारी द्वारा निर्गमित किया जाता है। उससे निर्यातक एवं आयातक के मध्य माल के वजन को लेकर भविष्य में कोई विवाद नहीं होता है।
8. **उद्गम स्थान का प्रमाण-पत्र (Certificate of Origin) -** यह प्रमाण पत्र माल के उद्गम स्थान के बारे में दिया जाता है। अर्थात् यह प्रमाण पत्र माल कहाँ उत्पादन हुआ है उस देश की जानकारी देता है। इससे किसी देश के आयातों को यदि प्रतिबंधित किया हो तो कस्टम अधिकारियों को ऐसे आयातों को रोकने में सहायता मिलती है। यह प्रमाण-पत्र प्रायः निर्यातकर्ता देश की सरकार या सक्षम अधिकारी द्वारा जारी किया जाता है एवं पुनर्नियात व्यापार की दशा में यह मूल निर्यातक देश द्वारा जारी किया जाता है।

13.9 प्रलेखीय साख की सीमाएँ/बाधाएँ

प्रलेखीय साख द्वारा भुगतान व्यवस्था दोनों ही पक्षकारों के लिए लाभकारी है परन्तु फिर भी इसकी कुछ सीमाएं हैं जिनका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

1. **साख क्षमता की जानकारी कठिन (Difficulty in Knowing Credit Worthness) -** आयातकर्ताओं और निर्यातकर्ताओं की साख क्षमता की सही-सही एवं पर्याप्त जानकारी करना बहुत ही कठिन कार्य होता है क्योंकि दोनों अलग-अलग देश में बसे होते हैं हालांकि विकसित देशों में साख क्षमता का मूल्यांकन करने के लिए विशिष्ट संस्थाएँ होती है। परन्तु विकासशील देशों में उनका नितान्त अभाव होता है। अत: साख क्षमता की जानकारी अन्य

संस्थानों यथा बैंक एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं से करना आवश्यक है। साख क्षमता की पूर्ण जानकारी न होने पर प्रलेखीय साख के संचालन में बाधायें आती हैं।

2. **प्रपत्रों की जांच में लापरवाही (Careless in documents checking) -** प्रलेखीय साख के अन्तर्गत बैंकों द्वारा प्रपत्रों की सावधानी से जांच जरूरी होती है जिससे प्रपत्र प्रलेखीय साख की शर्तों के अनुरूप ही प्राप्त हुए हैं यह सुनिश्चित हो जावे। यदि मध्यस्थ बैंकों द्वारा प्रलेखों की जांच में किसी एक स्तर भी लापरवाही कर दी जाती है तो वह थोड़ी सी लापरवाही संकट का कारण बन सकती है।
3. **साख लागत में वृद्धि (Increase in Cost of Credit) -** प्रलेखीय साख प्राप्त करने तथा उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया समाप्त होने तक कई मध्यस्थों की सेवाएं लेनी होती है एवं उन सेवाओं के बदले उन्हें भुगतान करना पड़ता है जो साख की लागत को बढ़ा देता है। इसके माल के आयात का मूल्य अधिक हो जाता है या निर्यातक के लाभ कम हो जाते हैं।
4. **दोषपूर्ण निर्देशों से विवाद (Disputes due to defective Instructions) -** कभी-कभी आयातकर्ताओं द्वारा अस्पष्ट तथा दोषपूर्ण निर्देशों से निर्यातकर्ताओं और मध्यस्थ बैंकों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाते हैं जो प्रलेखीय साख की कमियों को उजागर करता है। अत: इस विवाद से बचने के लिए शर्तों के अनुरूप स्पष्ट निर्देश दिये जाने चाहिये।
5. **कठिन प्रक्रिया (Complicated Process) -** प्रलेखीय साख खोलने से लेकर सम्पादन तक की प्रक्रिया में कई चरण जटिल होते हैं उनको समझना एवं उनके अनुरूप सौदों का निष्पादन करना कई बार आयातक एवं निर्यातक की समझ से दूर होता है। इस कारण प्रतिनिधियों/मध्यस्थों का सहारा लेना पड़ता है।

13.10 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जहाँ आयातक और निर्यातक एक-दूसरे को नहीं जानते हैं, साख की व्यवस्था एक कठिन कार्य है। यह व्यवस्था प्रलेखीय साख के माध्यम से आसान हो जाती है। प्रलेखीय साख में साख प्रदान करने का कार्य प्रलेखों के आधार पर होने से ही इसे प्रलेखीय साख कहते हैं। इस प्रकार की साख में आयातक की प्रार्थना पर उसके बैंक द्वारा साख खोली जाती है। बैंक द्वारा प्रलेखीय साख का आवेदन आयातक की पृष्ठभूमि तथा उसके द्वारा उपलब्ध करवाई गई जानकारी के पुख्ता होने पर ही स्वीकार किया जाता है। प्रलेखीय साख के माध्यम से जहाँ आयातक माल प्राप्त करने के लिए वहीं निर्यातक भुगतान प्राप्त करने के लिए सुनिश्चित हो जाता है। यह साख खण्डनीय, अखण्डनीय, पुष्टिकृत, अपुष्टिकृत, सावधि, स्थाई आदि कई प्रकार की होती है। प्रलेखीय साख में काम आने वाले प्रमुख प्रलेखों में जहाजी बिल्टी, निर्यात बीजक, बीमा पत्रक, किस्म प्रमाण पत्र आदि शामिल होते हैं।

13.11 शब्दावली

साख पत्र – जिसके आधार पर साख प्राप्त होती है वह साख पत्र कहलाता है।

प्रतिनिधि बैंक – जब विदेशों में स्वयं की शाखा न होने पर अन्य किसी विदेशी बैंक से सहयोग लिया जाता है तो वह बैंक प्रतिनिधि बैंक कहलाता है।

पराक्रमण बैंक – यह वह बैंक होता है जो निर्यातकर्ता एवं प्रतिनिधि बैंक के मध्य

कार्य करता है।

पुन: निर्यात व्यापार – जब किसी व्यापार द्वारा माल का आयात अन्य देशों को निर्यात के लिए किया जाता है तो वह व्यापार पुन: निर्यात व्यापार कहलाता है।

13.12 स्वपरख प्रश्न

1. प्रलेखीय साख से आप क्या समझते हैं?
2. प्रलेखीय साख को परिभाषित कीजिये।
3. प्रलेखीय साख की मुख्य विशेषताएँ बताइये
4. प्रलेखीय साख खोलने की प्रक्रिया को संक्षेप में समझाइये।
5. प्रलेखीय साख के मुख्य पक्षकार कौन-कौन से होते हैं।
6. खण्डनीय और अखण्डनीय साख में अन्तर बताइये।
7. पुष्टीकृत तथा अपुष्टिकृत साख में भेद कीजिए।
8. लाल वाक्य एवं हरा वाक्य साख क्या है?
9. संचयी तथा असंचयी साख की विशेषताएं बताइये।
10. प्रलेखीय साख का महत्व समझाइये।
11. प्रलेखीय साख से आप क्या समझते हैं? प्रलेखीय साख खोलने तथा उसके प्रयोग की विधि को संक्षेप में समझाइये।
12. प्रलेखीय साख के विभिन्न (प्रकारों) का विवेचन करते हुए बताईये कि कौन-सी साख श्रेष्ठ व लोकप्रिय है?
13. प्रलेखीय साख से आप क्या समझते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इसके महत्व का वर्णन कीजिये। इसकी प्रमुख सीमाएं भी बताइये।

13.13 संदर्भ ग्रंथ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार- टी.टी. सेठी

इन्टरनेशनल इकॉनोमिक्स- डी.के.आर.गुप्ता

इन्टरनेशनल इकॉनोमिक्स- पॉल ए. सेमुल्टन

द थ्योरी ऑफ इन्टरनेशनल ट्रेड- एच.डब्ल्यू.जे. विजनहोल्ड्स

इकाई - 14 : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबन्धित संस्थाएं
(Institutions related to International Trade)

इकाई की रूपरेखा -

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 व्यापार एवं प्रशुल्क पर सामान्य समझौता - गैट

14.3 विश्व व्यापार संगठन प्रभावी संगठन के रूप में

14.4 विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य, कार्य एवं संगठनात्मक ढाँचा

14.5 विश्व व्यापार संगठन के मंत्रिस्तरीय सम्मेलन

14.6 हांगकांग घोषणा-पत्र

14.7 विश्व व्यापार संगठन के सम्भावित लाभ व हानियाँ

14.8 विश्व व्यापार संगठन और भारत से सम्बन्धित विवादा/शिकायतें

14.9 व्यापार एवं विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन - अंकटाड

14.10 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष - स्थापना, उद्देश्य व लाभ

14.11 अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण व विकास बैंक - स्थापना, उद्देश्य तथा लाभ

14.12 सारांश

14.13 शब्दावली

14.14 स्वपरख प्रश्न

14.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित है-

- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित संस्थाओं का निर्माण व उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि में योगदान की जानकारी प्रदान करना
- प्रारंभिक संस्था जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को गति दे सके, के रूप में गैट की जानकारी प्रदान करना।
- गैट के सफल न रहने के कारण नये संगठन का प्रादुर्भाव की जानकारी देना।
- नये संगठन के रूप में विश्व व्यापार संगठन की भूमिका एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वृद्धि में योगदान की जानकारी देना।
- अंकटाड की स्थापना, कार्य प्रणाली की जानकारी देना।
- विभिन्न अंकटाडों की महत्वपूर्ण कार्य प्रणाली की जानकारी प्रदान करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को गति प्रदान करने हेतु दो महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की संक्षिप्त जानकारी प्रदान करना।

  (a) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(b) विश्व बैंक

14.1 प्रस्तावना

अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित संस्थाएँ:

विश्व के सभी देशों ने दो विश्वयुद्धों की मार सहन की। इससे न केवल मानव-संहार हुआ बल्कि इन दो विश्वयुद्धों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी एवं पारस्परिक द्वैषता भी विकसित हुई। राष्ट्रों के मध्य पनपी द्वैष व व्यापारिक कड़वाहट से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारी कमी आई। विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने इस गिरते ग्राफ पर चिंता दोहराई व सर्वमान्य हल निकालने का निर्णय लिया। इस हेतु 1948 में एक बहुपक्षीय संधि की गई। 1944 में ब्रिटेनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की स्थापना का प्रस्ताव आया किन्तु अमेरिका व इंग्लैण्ड जैसे विकसित राष्ट्रों के विरोध के कारण इस संगठन की स्थापना न हो सकी तभी तो अन्ततः उसके स्थान पर 30 अक्टूबर 1947 को गैट (GATT) की स्थापना की गई। इस संस्था का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली बाधाओं और समस्याओं को पारस्परिक समझौतों द्वारा कम करना था।

14.2 व्यापार एवं प्रशुल्क पर सामान्य समझौता - गैट

यह एक ऐसी सन्धि थी जिस पर सभी सदस्य देशों का दायित्व रहता था। यह संधि कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों पर आधारित थी-

(अ) किसी भेदभाव के विभिन्न देशों के बीच विदेशी व्यापार किया जाए।

(ब) विदेशी व्यापार को प्रभावित करने हेतु केवल तटकरों का ही सहारा लिया जाए।

(स) एक देश दूसरे देश के लिए क्षतिप्रद नीति अपनाने से पूर्व उस (दूसरे) देश से विचार विमर्श करे।

(द) ऐसे कदम उठाए जाएँ जिनसे तटकरों (Tariffs) में परस्पर विचार-विमर्श के माध्यम से कमी की जा सके।

गेट के उद्देश्य -

इस समझौते का मुख्य लक्ष्य तटकरों में पर्याप्त कमी करना एवं व्यापार के विस्तार में आने वाली बाधाओं का कम करके परस्पर लाभ पहुँचाने वाले निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करना था -

(1) व्यापारिक क्षेत्र से पक्षपात हटा कर सभी देशों को बाजार की प्राप्ति के लिए एक समान अवसर प्रदान करना।

(2) वास्तविक आय वृद्धि तथा वस्तुओं के लिए प्रभावी मॉग को बढ़ाना।

(3) विश्व संसाधनों का विकास करना और उनका पूर्ण विदोहन सुनिश्चित करना।

(4) अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना।

(5) अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याओं को पारस्परिक सहयोग एवं परामर्श द्वारा सुविधापूर्वक सुलझाना। गैट के इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निम्नलिखित तीन सिद्धांत स्वीकार किए गए -

(1) **विभेदात्मक नीति की समाप्ति या सबसे अधिक प्रिय देश का सिद्धांत:** विदेशी व्यापार में विभिन्न देशों के मध्य विभेदात्मक नीति न अपनाई जाए इस हेतु समझौते में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने सबसे प्रिय राष्ट्र का सिद्धांत सभी आयातों और निर्यातों पर लागू करना

स्वीकार किया। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाता था जैसा की सबसे प्रिय राष्ट्र के साथ किया जाता था और किसी एक सदस्य देश को दी गई रियायत स्वत: ही अन्य सदस्य देशों के लिए उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार प्रशुल्क सम्मेलनों में यद्यपि दो देशों के लिए मन्त्रणा होती थी तथापि इसके अर्न्तगत प्रशुल्क दरों में दी जाने वाली छूट समझौतों के सभी सदस्य देशों को प्राप्त हो जाती थी।

(2) **आयात पर मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध:** सिद्धांत के रूप में सामान्य समझौता आयात कोटा के उपयोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाता है, परन्तु अपवाद स्वरूप तीन स्थितियों में इनकी छूट दी जाती थी-

(अ) प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले राष्ट्र आयात कोटा का आश्रय ले सकते थे, परन्तु इसका उपयोग भुगतान सन्तुलन में गम्भीर प्रतिकूलता या ऐसी प्रतिकूलता को आने से रोकने के लिए ही किया जाना चाहिए था।

(ब) सामान्य समझौतो की स्वीकृति प्रक्रिया के अनुसार विकासशील राष्ट्र आर्थिक विकास के उद्देश्य से मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा सकते थे।

(स) कृषि एवं मत्स्य वस्तुओं के लिए आयात कोटा का निर्धारण केवल उस स्थिति में किया जाता था जब इनका देश में उत्पादन उतने ही प्रतिबन्धों के अन्तर्गत किया जा रहा हो।

(3) **तटकरों में कटौती या तटकर मन्त्रणाऐ :** इस समझौते (GATT) के अन्तर्गत तटकरों में भी कमी करने का प्रावधान था इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह आवश्यक था कि अनुबन्ध से सम्मिलित देश इस सिद्धांतों में विश्वास रखते हों कि तटकरों का व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। विभिन्न देशों के बीच आयात और निर्यात सम्बन्धी मन्त्रणाओं द्वारा अन्य करों में कमी की जा सकती है। तटकर मन्त्रणाऐ सामान्यत: निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित होती थी -

(अ) आदान-प्रदान एवं परस्परता

(ब) तटकरों को सीमित करना

(स) प्राथमिकता दरें व प्राथमिकता मार्जिन

(द) बँधी व खुली दरें

विकासशील देशों पर प्रभाव

विकासशील देशों की व्यापार से सम्बन्धित अनेक समस्यायें होती है। सामान्यत: इन समस्याओं के अन्तर्गत प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों एवं निर्यातों में असन्तुलन, भुगतान असन्तुलन आदि प्रमुख हैं।

14.3 विश्व व्यापार संगठन प्रभावी संगठन के रूप मे

विश्व व्यापार की नीतियों, वैधानिक व्यवस्थाओं और उनके क्रियान्वयन को अधिक प्रभावी एवं कारगर बनाने की दृष्टि से ही गैट की स्थापना से लेकर अप्रेल 1994 तक गैट की वार्ताओं के आठ चक्रों की समाप्ति पर अन्ततः व 15 अप्रेल, 1994 को मोरक्को के शहर मराकेश में 117 देशों के मंत्रियों के सम्मेलन में उरूग्वे चक्र के डंकल प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया गया और

गैट (General Agreement on Trade and Tariff-GATT) के स्थान पर विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation - WTO) अस्तित्व में आया जो गैट के मुकाबले कहीं अधिक अधिकारों से युक्त एवं शक्तिशाली संगठन है।

(1) **विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता (Membership of WTO):** विश्व व्यापार संगठन (WTO) एक वैधानिक एवं स्थायी विश्व व्यापार संस्था है। इसके कानूनी प्रावधानों का पालन करने को प्रतिबद्ध कोई भी देश इसका सदस्य बन सकता है। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के इस दौर में विश्व व्यापार संगठन की लोकप्रियता तेजी से बढ़ी है। भारत इसका संस्थापक सदस्य है।

1 जनवरी 1995 को इसकी सदस्य संख्या केवल 77 थी जो अगस्त 1999 में बढ़कर 134 हो गई। नवम्बर 2001 में चीन एवं ताइवान के शामिल होने के बाद सदस्य संख्या 146 तक पहुँच गई। 11 जनवरी 2007 को वियतनाम (Vietnam) के शामिल होने के बाद सदस्य संख्या 150 पहुँच गई है।

14.4 विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य, कार्य एवं संगठनात्मक ढाँचा

विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य (Objective of WTO)

डंकल समझोते के तहत ही गैट के स्थान पर 1 जनवरी, 1995 को विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में आया।

इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं -

(1) जीवन-स्तर में वृद्धि करना।

(2) पूर्ण रोजगार एवं प्रभावपूर्ण माँग में वृहद्स्तरीय व ठोस वृद्धि करना।

(3) वस्तुओं के उत्पादन एवं व्यापार का विस्तार करना।

(4) सेवाओं के उत्पादन एवं व्यापार का विस्तार करना।

(5) विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना।

(6) सुस्थिर विकास (Sustainable Development) की अवधारणा को स्वीकार करना।

(7) पर्यावरण की सुरक्षा एवं संरक्षण करना।

(8) विकास के वैयक्तिक स्तरों की आवश्यकता के साथ निरन्तर चलते रहने के साधनों में वृद्धि करना।

इन उद्देश्यों में प्रथम तीन गैट के भी उद्देश्यों में विश्व संसाधनों के पूर्ण उपयोग की बात कही गई थी जबकि विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्यों में विश्व संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग पर जोर, सुस्थिर विकास तथा पर्यावरण की सुरक्षा एवं संरक्षण के उद्देश्यों को भी जोड़ा गया।

विश्व व्यापार संगठन के प्रमुख कार्य

विश्व व्यापार संगठन के मूल उद्देश्यों को मूर्तरूप देने के लिए विश्व व्यापार संगठन के कार्य इस प्रकार है-

(1) **सामूहिक संस्थागत मंच के रूप में कार्य करना -** विश्व व्यापार संगठन का पहला महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से संबन्धित विचार-विमर्श के लिए एक सामूहिक संस्थागत मंच के रूप में काम करना है।

(2) **विश्व व्यापार समझौते के कार्यान्वयन, प्रशासन एवं परिचालन हेतु सुविधाएँ प्रदान करना -** विश्व व्यापार संगठन का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य विश्व व्यापार समझौता, बहुपक्षीय (Multilateral) तथा बहुवचनीय (Plurilateral) समझौतों के क्रियान्वयन, प्रशासन तथा परिचालन हेतु सुविधाएँ प्रदान करना है।

(3) **व्यापार एवं प्रशुल्क सम्बन्धी विचार विमर्श हेतु मंच प्रदान करना -** विश्व व्यापार संगठन का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य व्यापार तथा प्रशुल्क सम्बन्धी किसी भी मसले पर सदस्यों को विचार विमर्श हेतु मंच प्रदान करना है।

(4) **सदस्य राष्ट्रों के विवाद निपटारे का प्रशासन -** विश्व बैंक का चौथा कार्य सदस्य राष्ट्रों के व्यापार विवाद निपटारे (Settlement of Disputes) से सम्बन्धित नियमों एवं प्रकियाओं को प्रशासित करना है।

(5) **व्यापार नीति समीक्षा प्रक्रिया के प्रावधानों को लागू करना -** विश्व व्यापार संगठन का पाँचवा प्रमुख कार्य व्यापार नीति समीक्षा प्रक्रिया (Trade Policy Review Mechanism) से सम्बन्धित नियमों एवं प्रावधानों का लागू करना है।

(6) **विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहयोग -** विश्व व्यापार संगठन वैश्विक आर्थिक नीति निर्माण में अधिक सामंजस्य भाव लाने हेतु विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहयोग करने को महत्वपूर्ण मानता है।

(7) **विश्व संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग को बढ़ावा देना -** (Optimum utilization of World resources) विश्व व्यापार संगठन का एक महत्वपूर्ण कार्य विश्व के संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग को बढ़ावा देना है।

इस प्रकार विश्व व्यापार संगठन के कार्यो में उन सब बातों का समावेश है जिससे उसके सदस्य देशों को समझौते से सम्बन्धित मामलों पर विचार-विमर्श करने का एक सामूहिक संस्थागत मंच प्राप्त होने के साथ साथ एक एकीकृत स्थायी एवं मजबूत बहुपक्षीय प्रणाली द्वारा व्यापार सम्बन्धों को बढ़ाने, वैधानिक ढंग से विवादों को निपटाने और व्यापार नीति समीक्षा प्रक्रिया के प्रावधानों को लागू करने में सहायता मिलेगी।

विश्व व्यापार संगठन का संगठनात्मक ढाँचा चार-स्तरीय है जिसका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है -

विश्व व्यापार संगठन का संगठनात्मक ढांचा

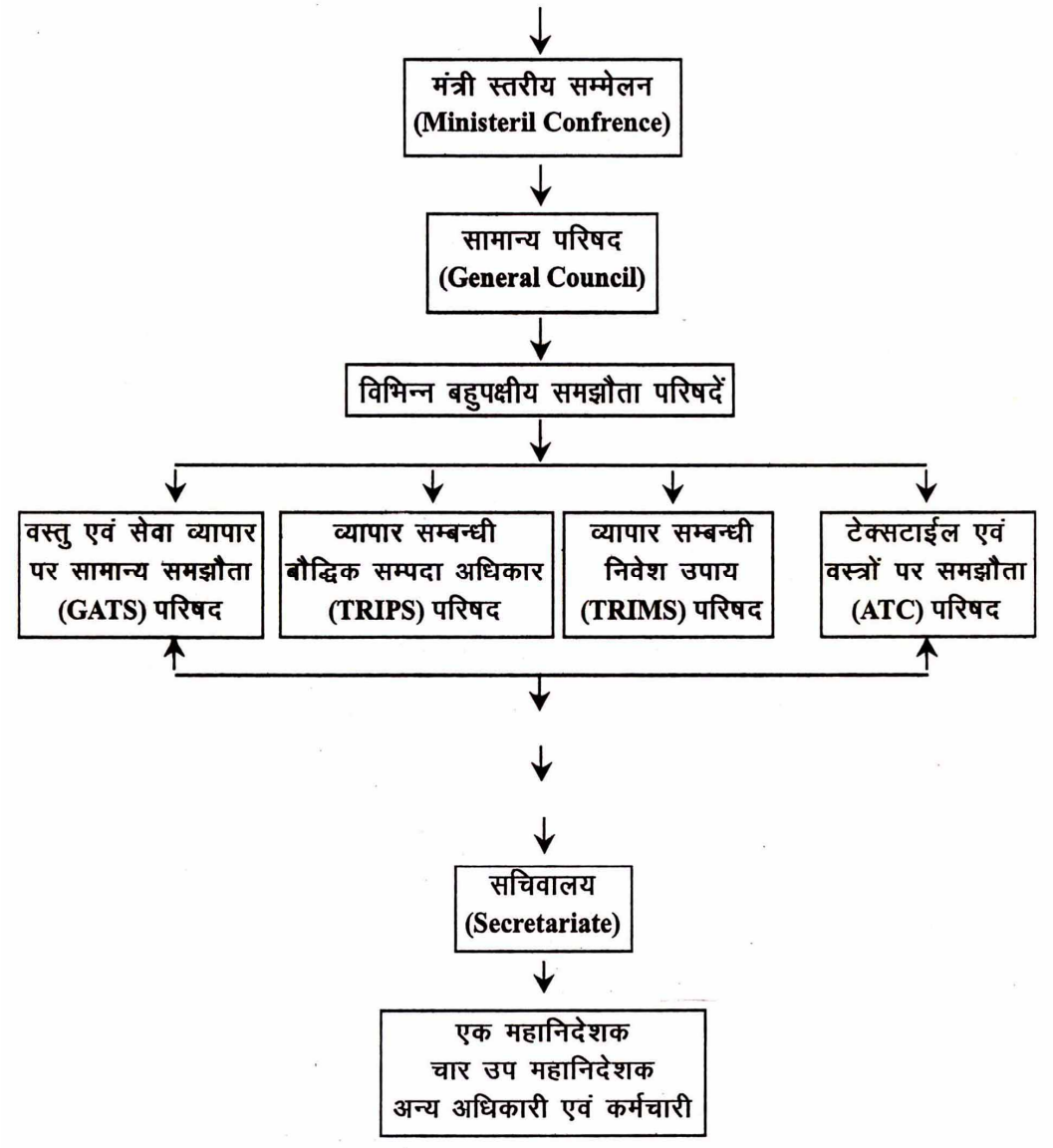

विकासशील देशों की समस्याओं के लिए 1957 में एक विशेष दल नियुक्त किया गया। इन विशेषज्ञों ने 1958 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। 8 फरवरी, 1965 में गैट की एक विशेष बैठक हुई। जिसमें व्यापार व विकास के एक नये अध्याय को स्वीकार किया गया। गैट द्वारा प्रकाशित आकड़ो के अनुसार मार्च, 1968 से लेकर जून, 1968 तक विकासशील देशों के निर्यातों में संतोषजनक वृद्धि हुई थी।

गैट समझौते के दोष

गैट के उद्देश्य काफी अच्छे होने पर भी इसमें अनेक दोष थे जिसके कारण उद्देश्य को प्राप्त करना कठिन हो जाता था। ये दोष निम्न प्रकार थे -

(1) सामान्य नियम बनाना असंभव

(2) अच्छे आचरण की संहिता भंग

(3) परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के सम्बन्धों में असफलता

(4) भेदभाव उत्पन्न करना

(5) विकासशील देशों के हितों की उपेक्षा

(6) प्रतिनिधि संस्था नहीं।

मुख्यालय - (Head Office)

गैट (GATT) की भांति विश्व व्यापार संगठन का मुख्यालय जिनेवा में है।

14.5 विश्व व्यापार संगठन के मंत्रिस्तरीय सम्मेलन

विश्व व्यापार संगठन (WTO) का पहला मंत्रीस्तरीय सम्मेलन (First Conference of WTO): विश्व व्यापार संगठन (WTO) की नीति निर्धारण करने वाला सर्वोच्च शक्तिशाली मंच मंत्रिस्तरीय सम्मेलन है। इसका पहला सम्मेलन सिंगापुर में 9-13 दिसम्बर, 1996 को सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में विचारणीय प्रमुख मुद्दों में श्रम मानकों, निवेश, प्रतिस्पर्धा, टेक्सटाईल तथा सूचना प्रौद्योगिकी को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जोड़ना, समावेश था।

प्रथम मंत्रीस्तरीय सम्मेलन की उपलब्धियॉ

इस सम्मेलन में विकसित व विकासशील देशों ने अपने-अपने हितों की सुरक्षा के प्रयास किये जिसमें दोनों ने कुछ-कुछ उपलब्धियों अर्जित की है -

(1) श्रम मानकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) का विषय स्वीकार किया।

(2) विकसित राष्ट्र निवेश एवं प्रतिस्पर्धा के मुद्दों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ने में सफल रहे।

(3) कम्पयूटर एवं सूचना प्रोद्योगिकी के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को 2000 तक शुल्क मुक्त करने का समझौता रहा।

विश्व व्यापार संगठन का दूसरा मंत्रीस्तरीय सम्मेलन (Second Conference of WTO) : यह सम्मेलन 18-20 से 1998 में जिनेवा में सम्पन्न हुआ। इसमें विश्व व्यापार संगठन के कार्यो की समीक्षा की इसमें उरूग्वे चक्र की वार्ताओं पर अमल के मामले में स्पष्ट दिशा निर्देश अभाव में निर्धन राष्ट्रों को यथोचित लाभ नहीं मिल पाया तथा क्षेत्रीय व्यापारिक गुटों के फैलाव से भी तीसरी दुनिया के देशों के साथ भेदभाव ही रहा है। यह सम्मेलन आशिक रूप से ही सफल रहा।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) का तीसरा मंत्रीस्तरीय सम्मेलन (Third Conference of WTO): यह सम्मेलन 30 नवम्बर से 3 दिसम्बर 1999 को अमेरिका के सिएटल में बड़े ही विरोध एवं हंगामी वातावरण में बिना किसी आम सहमति के और घोषणा-पत्र के स्थगित करना पड़ा। जहाँ एक ओर अमेरिका एवं विकसित राष्ट्र श्रम मानकों के मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ने के अतिरिक्त कृषि के मामले विकसित राष्ट्रों से अधिक रियासत पाने के लिए प्रयासरत रहे वही बायोटेक्नालाजी को वार्ता में शामिल करने के अमरीकी प्रयास का फ्रांस ने भी विरोध किया।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) का चौथा मंत्रीस्तरीय सम्मेलन (Forth Conference of WTO) : यह सम्मेलन 9 नवम्बर से 14 नवम्बर 2001 कतर की राजधानी दोहा में हुआ। भारत ने महसूस किया कि विश्व व्यापार संगठन के पास पर्याप्त वृहद कार्यसूची थी जिनमें अनिवार्य वार्ताएं और अनिवार्य समीक्षाएं थी।

विचारार्थ विषय-

(1) खेती एवं कृषि उत्पाद व्यापार

(2) सेवा नियम तथा

(3) असंगठित क्षेत्र एवं लघु उद्योगों की सुरक्षा आदि थी। (कानकुन सम्मेलन में विकसित देशों को अलग-अलग अपेक्षाओं के कारण खेमो में बंट गया) ।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) का पाँचवा मंत्रीस्तरीय सम्मेलन (Fifth Conference of WTO): विश्व व्यापार संगठन का पाँचवा मंत्रीस्तरीय सम्मेलन 10 सितम्बर से 14 सितम्बर 2003 तक मैक्सिको के कानकुन शहर में हुआ। जिसमें 146 देशों के वाणिज्य मंत्रियो ने पाँच दिवसीय सम्मेलन में भाग लिया।

(अ) खेती एवं कृषि उत्पाद व्यापार

(ब) सेवा नियम तथा

(स) असंगठित क्षेत्र एवं लघु उद्योगों की सुरक्षा आदि थे।

कानकुन सम्मेलन की विफलता (Faliure of Cankun Conference):

सम्मेलन में विकसित व विकासशील देशों में भारी मतभेदों के चलते हुए विकसित देश कृषि सब्सिडी को समयबद्ध कम करने पर सहमत नहीं हुए तो सम्मेलन विफल रहा।

विश्व व्यापार संगठन का छठा मंत्रीस्तरीय सम्मेलन :

यह सम्मेलन 13 से 18 दिसम्बर 2005 के बीच हांगकांग में सम्पन्न हुआ जिसमें 149 सदस्यों ने भाग लिया।

सम्मेलन में विचारार्थ विषय (Agenda of The Conference) :

कानकुन सम्मेलन की भाँति इस सम्मेलन में भी विचारार्थ विषय कृषि सब्सिडी में कटौती के साथ-साथ औद्योगिक उत्पादों पर प्रशुल्क में कटौती व सेवा क्षेत्र के मुद्दे विकसित एवं विकासशील देशों के बीच विवाद के मुख्य मुद्दे रहे।

14.6 हांगकांग घोषणा पत्र

(1) यूरोपीय संघ द्वारा प्रस्तुत स्विस फॉर्मूले (Swiss Formula) में ए.बी.आई (ABI) (अर्जनटीना, ब्राजील और भारत) के सुझावों को स्वीकार किया गया। यह स्विस फॉर्मूला विकासशील देशों द्वारा औद्योगिक उत्पादों पर प्रशुल्क कटौती जिसे नोन एग्रिकल्चरल मार्केट एक्सेस (NAMA) कहा जाता है, उससे सम्बन्धित है।

(2) विकसित देशों ने कृषि निर्यात पर दी जाने वाली सब्सडी को 2013 तक समाप्त करने की प्रतिबद्धता व्यक्त की है। चरणद्ध कटौती से भारत तथा अन्य विकासशील देशों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से राहत मिलेगी।

(3) विकासशील देश एक सहमति के तहत उपयुक्ता संख्या में विशेष उत्पादों (Special Products) की एक सूची बना सकेंगे जिन्हे प्रशुल्क कटौती फॉमूले से बाहर रखा जा सकेगा। कमलनाथ के अनुसार भारत 90 उत्पादों को ऐसी सूची में रख सकेगा।

(4) कृषि क्षेत्र के विकास से सम्बन्धित सभी योजनाओं को विश्व व्यापार संगठन के नियमों की परिधि से बाहर रखा गया है।

(5) अल्प-विकसित देशों के लिये कोटा शुल्क मुक्त निर्यात का एक एल.डी.सी. पैकेज स्वीकार किया गया है।

(6) विकसित देशों ने कृषि निर्यात पर दी जाने वाली सब्सिडी को 2013 तक समाप्त करने की प्रतिबद्धता व्यक्त की है। चरणबद्ध कटौती से भारत तथा अन्य विकासशील देशों कौए विदेशी प्रतिस्पर्धा से राहत मिलेगी।

14.7 विश्व व्यापार संगठन के संभावित लाभ व हानियाँ

विश्व व्यापार संगठन के कारण अच्छी बाजार पहुँच (Better Market Access) से विश्व की आय में 213 अरब डीलर से 274 अरब डीलर तक की वार्षिक वृद्धि होगी।

विश्व व्यापार संगठन के संभावित लाभ संक्षेप में इस प्रकार है -

(1) **विश्व संसाधनों** के अनुकूलतम उपयोग से विश्व के सभी विकसित एवं विकासशील देशों की समृद्धि एवं विकास का मार्ग प्रशस्त होगा।

(2) **बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था से वृद्धि-** बहुपक्षीय व्यापार की ऐसी प्रणाली विकसित होगी जिसमें सभी देशों को निर्यात संवर्धन के समान अवसर मिलने से निर्यातों में वृद्धि होगी।

(3) **बाजार पहुँच सुरक्षा में वृद्धि-** औद्योगिक उत्पादों पर उच्चस्तरीय तटकर बन्धनों (Teriff Bind) द्वारा विकसित देशों के लिये बाजार पहुँच सुरक्षा (Market Access Security) 78% से 99% तथा विकासशील राष्ट्रों के लिए यह सुरक्षा 22% से 72% होने की संभावना है।

(4) **कृषि उत्पादों को 100% सुरक्षा-** विश्व व्यापार संगठन द्वारा गैर-तटकर बाधाओं के तटीयकरण के कार्यक्रम के तहत कृषि उत्पादों को 100% सुरक्षा प्राप्त होने की आशा है।

(5) **औद्योगिक उत्पादों की तटकर दर में कमी-** विश्व व्यापार संगठन के विकसित सदस्य राष्ट्र अपने औद्योगिक उत्पादों के तटकर में लगभग 38% की कमी करेंगे।

(6) **विकसित देशों के आयातित औद्योगिक उत्पादनों में 20% से 43% तक का उछाल-** विकसित देशों में सीमा शुल्कों में कटौती के फलस्वरूप उनके आयातित औद्योगिक उत्पादों की राशि में 20% से 43% तक वृद्धि की संभावना है।

(7) **विकासशील देशों से आयात में प्रशुल्क दरों में कटौती से विकासशील देशों का लाभ-** विकासशील देशों से विकसित राष्ट्रों द्वारा आयात किये जाने वाले बहुत से पदार्थो पर प्रशुल्क दरों में कटौती से विकासशील राष्ट्रों के निर्यातों में वृद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा।

(8) **विकासशील देशों को अपने प्राथमिक उत्पादों को-**विकसित देशों में बाजार उपलब्ध होने से उन्हे अपने निर्यातों में सकारात्मक वृद्धि का अवसर मिलेगा।

(9) **व्यापार एवं वित्तीय सेवाओं, पर्यटन एवं यात्रा** व्यवसाय क्षेत्रों में व्यापार वृद्धि से सभी राष्ट्रों को लाभ होगा।

(10) **उपभोक्ताओं को प्रतिस्पद्धात्मक नीची कीमतों पर उपभोग का अवसर** प्राप्त होगा और उन्हें उन वस्तुओं के उपभोग का अवसर मिलेगा जो अन्यथा संभव नहीं थी।

(11) **उत्पादन लागतों में कमी-**बढ़ती प्रतिस्पर्द्धा और कुशलतम उत्पाद व्यवस्थाओं के कारण सभी देशों में उत्पादन लागतों में कमी प्रयास के लिए सभी देशों में उत्पादन लागतों में कमी के प्रयास के लिये लाभ का सौदा रहेगा।

(12) **विश्व आय में वृद्धि-**विश्व व्यापार संगठन के कारण अच्छी बाजार पहुँच (Better MarketAcsess) से विश्व की आय में प्रतिवर्ष 273 अरब डीलर से 274 अरब डालर तक की वृद्धि होने का अनुमान है।

(13) **प्रोद्योगिक उन्नयन-**विश्व व्यापार संगठन के समझौतों से विश्व के सभी विकासशील देशों को न केवल प्रौद्योगिक उन्नयन का मौका मिलेगा वरन् निरन्तर शोध एवं विकास कार्यक्रमों का (R & D) लाभ भी मिलेगा।

विश्व व्यापार संगठन से तृतीय विश्व के देशों को संभावित खतरे (Exepected Dangers to Third World Contries from WTO)

यद्यपि विश्व व्यापार संगठन की स्थापना से अनेकानेक लाभ हुए हैं परन्तु इनके खतरे अधिक नजर आ रहे हैं - ये संक्षेप में निम्न प्रकार हैं -

(1) **बहुपक्षीय समझौतों के मनमाने उल्लंघन पर दण्डात्मक कार्यवाही का भय-(Fear of Penal Action)** विश्व व्यापार संगठन को बहुपक्षीय समझौतों को मनमाने ढंग से उल्लंघन करने वाले सदस्य देशों के विरूद्ध दण्डात्मक कार्यवाही करने का जो अधिकार प्राप्त है उससे विकासशील देशों को अपने राष्ट्रहित के रूप के अनुरूप अपनाई जाने वाली नीतियों के विरूद्ध दण्डात्मक कार्यवाही का भय निरन्तर बना रहेगा।

(2) **तीसरी दुनिया के देशों की सरकारों के राष्ट्रहित में नीति निर्धारण का अधिकार प्रतिबन्धित हो जायेगा (Restriction on Policies of National Intrest)** उसके कारण उन्हे लाभ के स्थान पर हानि का भय अधिक रहेगा।

(3) **बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक शोषण में वृद्धि का भय (Fear of Exploitation by Multinational Companies) -** विश्व व्यापार संगठन की नौकरशाही पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लॉबी हावी रहेगी और अपने हितों के पक्ष में निर्णयों से उसके कार्यक्षेत्र और अधिकारों में: असीमित वृद्धि से प्रतिबन्धों में कमी उनके और "विश्व विजय" अभियान के अर्न्तगत विकासशील एवं निर्धन राष्ट्रों के बाजार उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं और सेवाओं के लिये खोल दिये जायेंगे।

(4) **विकसित देशों की दोगली नीति (Dual Policy of Developed Countries) -** विश्व व्यापार संगठन की आड़ में जहॉ एक ओर विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों के बाजारों पर तो सभी प्रकार का कब्जा करना चाहते है। किन्तु मुद्दों की आड़ लेकर अपने बाजार को इसी प्रकार की सेवाओं के लिये विकासशील देशों के लिये नहीं खोलना चाहते।

(5) **पर्यावरण का नया मुद्दा (News Issues of Environment) -** विश्व व्यापार संगठन के सामने विकसित राष्ट्रों द्वारा पर्यावरण के मुद्दे पर विकासशील देशों के उन वस्तुओं के आयात की मनाही जिनके विनिर्माण से पर्यावरण प्रदूषित होता है। और इसी के तहत विकासशील देशों पर प्रदूषण नियन्त्रण की नवीनतम विधियाँ अपनाने का दबाव डालना चाहते हैं।

(6) **विश्व व्यापार संगठन और गैर-व्यापार सम्बन्धी सामाजिक मुद्दे (Non-Trade Related Social Issues) -** मुद्दे जैसे-मानवाधिकार, श्रम मानक, बाल श्रम, श्रमिक संघ, तथा मजदूरी भुगतान आदि का सहारा लेकर विकसित राष्ट्र विकासशील देशों को उसके लाभों से वंचित करनें का षड्यंत्र रच रहे हैं।

(7) **विकासशील देशों के संवैधानिक प्रावधानों में परिवर्तन की बाध्यता (Pressure of Change in constitutional provisions)** विकासशील देशों पर सब्सिडी को कम करने का दबाव बढ़ता जा रहा है। संवैधानिक प्रावधानों को विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के अनुसार बदलने का दबाव डाला जा रहा है।

(8) **सार्वभौमिकता पर कुठाराघात (Setback to sovereignty) - नागरिकों के विशेष समुहों को आर्थिक** रियायतें, अर्थव्यवस्था के किन-किन क्षेत्रों को कितनी-कितनी सब्सिडी एवं आर्थिक सहायता का निर्धारण अब सदस्य देशों की स्वेच्छा से नहीं हो सकता वरन् उन्हे **WTO** के अनुसार चलने की बाध्यता उनकी सार्वभोमिकता पर कुठाराघात है।

(9) **पक्षपातपूर्ण रवैया (Baised Attitude) -** यदि विश्व व्यापार संगठन विकसित राष्ट्रों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाव में विकासशील देशों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करता है तो विकासशील राष्ट्रों को लाभ के स्थान पर हानि उठानी पड़ेगी।

विश्व व्यापार संगठन और भारत को लाभ (World Trade Organisation and Benefits to India)

विश्व व्यापार संगठन के कारण विश्व के सभी देशों के व्यापार में वृद्धि से उत्पादन, आय और रोजगार में वृद्धि, आर्थिक समृद्धि एवं उच्च जीवन-स्तर का मार्ग प्रशस्त होगा। भारत को निम्न लाभ होंगे-

(1) **निर्यातों में वृद्धि - निर्यातों में प्रतिवर्ष 150 से 200 करोड़ डॉलर तुल्य** वृद्धि की सम्भावना है।

(2) **भारत के उत्पादों को बड़ा बाजार (Better Market Access) -** विदेशी बाजारों में विश्व

व्यापार संगठन के कारण तटकरों एवं प्रशुल्क दरों में कमी, कृषिजन्य पदार्थो की सब्सिडी में कमी से भारत की विदेशी बाजार में पहुँच सुविधाजनक बनेगी।

(3) **विदेशी निवेशों में वृद्धि (Increase in Foreign Investments) -** भारत में विदेशी पूँजी निवेशों की वृद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा जिससे न केवल तीव्र आर्थिक विकास का रास्ता खुलेगा वरन् विदेशी टेक्नालोजी की आधुनिकतम विधियों से भारत के उत्पादों की लागत में कमी और प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि होगी।

(4) **उन्नत प्रौद्योगिक का प्रयोग (Use to Better Technology) -** विदेशी पूँजी निवेश के साथ उन्नत प्रौद्योगिकी का आयात बढ़ेगा जो अन्ततः लाभप्रद रहेगा।

(5) **प्राकृतिक उत्पादों को पेटेन्ट की जरूरत नहीं** अगले 8 सालों में पेटेन्ट कानून में छूट मिलेगी, किन्तु उसके बाद नहीं।

(6) **वस्त्रों एवं पोशाकों के निर्यात में वृद्धि (Increase in Textiles and Garments) -** अमेरिका एवं यूरोपीय देशों के बाजारों में भारत के वस्त्रों एवं पोशाकों का निर्यात बढ़ने का लाभ मिलेगा।

(7) **विदेशी मुद्रा भण्डारों में वृद्धि (Increase in Foreign Exchange Reserves) -** भारत के निर्यातों में वृद्धि तथा भारतीय डाक्टरों, इन्जीनियरों एवं अन्य विशेषज्ञों आदि कुशल श्रम की सेवाओं के निर्यात से विदेशी मुद्रा अर्जन का लाभ मिलेगा।

(8) **विदेशी वस्तुओं के उपभोग का अवसर (Opportunity to Consume Foreign Good) -** भारत के उपभोक्ताओं का विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत विश्व कं लगभग सभी देशों में उत्पादित विदेशी वस्तुओं को उपभोग का लाभ मिलेगा।

(9) **अन्तर्राष्ट्रीय मंच की सुविधा (Facility of International Platform) -** विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता के परिणामस्वरूप भारत को अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यापार से सम्बन्धित मुद्दों पर विचार विमर्श और उचित समाधान हेतु यह अन्तर्राष्ट्रीय साझा मंच मिल गया है।

(10) **विवादों का निपटारा करने की सुविधा (Facility for Settlement of Diputes) -** भारत को विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता के कारण अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यापार सम्बन्धी मुद्दों पर उत्पन्न विवाद को निपटाने के लिए विश्व व्यापार संगठन की सुविधा प्राप्त हो गई है। जहाँ विवाद के निपटारे के लिए शिकायत दर्ज कराने और अपना पक्ष प्रस्तुत करने की सुविधा मिल गई है।

भारत को होने वाली विश्व व्यापार संगठन की संभावित हानियाँ

भारत को विश्व व्यापार संगठन से काफी लाभ संभावित है वहाँ कई खतरे भी जुडे हुए है। जिसे नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

भारत ने दोहा सम्मेलन में विचार विमर्श की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

भारत की मुख्य आपत्ति चार सिंगापुर मुद्दों को लेकर थी जिसमें

(अ) विदेशी निवेश (Foreign Investment)

(ब) प्रतिस्पर्धा नीति (Competition Policy)

(स) सरकारी परियोजना की खरीद में विदेशी कम्पनियों का अवसर प्रदान करने तथा

(द) नियमों को सरल बनाने आदि मुद्दे थे।

जन स्वास्थय के लिए औषधियों के उत्पादन के मामले मे ट्रिप्स (Trips) व पेटेन्ट सम्बन्धी नियम बाधक नहीं हो सकेगें। यूरोपीय देशों द्वारा कृषि को सब्सिडी में कटौती पर सहमति व्यक्त की गई। श्रम संबधी मुद्दों पर दोहा घोषणा पत्र में कहा गया की घोषणा मान्यता देती है कि महत्वपूर्ण श्रम मापदण्डों के मुद्दों को संशोधित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एक उचित मंच है।

चोथा सम्मेलन में 142 सदस्य देशों के वाणिज्य मंत्रियों का भाग लेना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। विकसित व विकासशील देशों को इस सम्मेलन का लाभ मिलेगा। चीन को 143 वां तथा ताइवान को 144 वां सदस्य बनाया गया।

दोहा घोषणा-पत्र (Doha-Declaration):

दोहा सम्मेलन में स्वीकार किये गये घोषणा-पत्र में नये दौर की व्यापार वार्ता का एजेण्डा पहले से तय मुद्दों के कार्यान्वयन कार्यक्रम तथा जन स्वास्थ्य सम्बन्धी घोषणाओं के साथ-साथ पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दा नये एजेंडे में शामिल है। विदेशी निवेश, प्रतिस्पर्द्धा नीति, सरकारी खरीद का मामला तथा व्यापार नियमों के सरलीकरण के विवादित सिंगापुर मुद्दों पर वार्ता सदस्य देशों की सहमति के बाद ही संभव होगी। जन स्वास्थ्य के लिये औषधियों के उत्पादन के मामले में ट्रिप्स व पेटेन्ट सम्बन्धी नियम बाधक नहीं हो सकेंगे। यूरोपीय देशों द्वारा कृषि को सब्सिडी में कटौती पर सहमति व्यक्त की गई।

"दोहा डेवलमेन्ट एजेंडे" पर नये दौर की वार्ता जनवरी, 2002 से प्रारंभ होगी तथा इसे 2005 तक पूरा करने का लक्ष्य घोषणा पत्र में निर्धारित किया गया है तथापि आम धारणा हैं कि यह 2007 से पहले पूरी नहीं हो सकेगी। श्रम सम्बन्धी मुद्दों पर दोहा घोषणा पत्र में कहा है कि "घोषणा मान्यता देती है कि महत्वपूर्ण श्रम मापदण्डों के मुद्दों को सम्बोधित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एक उचित मंच है।"

14.8 विश्व व्यापार संगठन और भारत से सम्बन्धित/विवाद शिकायतें

यद्यपि भारत ने विश्व व्यापार संगठन के समक्ष कम शिकायतें दर्ज की है किन्तु अन्य देशों ने भारत के विरूद्ध अनेक शिकायतें दर्ज की है।

(1) **भारत V/s पोलेण्ड-**स्वचालित वाहनों के आयातों से सम्बन्धित इस विवाद का निपटारा जुलाई, 1996 में द्वि-पक्षीय समझौते से समाप्त हुआ।

(2) **भारत V/s अमेरिका (U.S.A.)-**जब अमेरिका ने भारत से भेजे जाने वाले कृत्रिम धागों के बने महिलाओं और लड़कियों के कोटों पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो भारत ने मामला विश्व व्यापार संगठन में उठाया जिससे अमेरिका ने 1 अप्रेल, 1996 को प्रतिबन्ध उठा लिया और मामला समाप्त हो गया।

(3) **भारत V/s तुर्की-**तुर्की द्वारा भारत से भेजे जाने वाले वस्त्रों एवं कपड़ा उत्पादों पर प्रतिबन्ध लगाने पर तुर्की के विरूद्ध भारत ने **WTO** में 13 मार्च, 1998 को वाद दायर किया। विश्व व्यापार संगठन के निकाय ने भारत के पक्ष में फैसला सुनाया।

(4) **भारत, मलेशिया. थाईलेण्ड, पाकिस्तान V/s अमेरिका (U.S.A.)-**अमेरिका ने शरीम्प तथा अन्य उत्पादों के आयात पर जो प्रतिबन्ध लगाये उसके विरूद्ध वादी देशों ने शिकायत की, जिसका विवाद पेनल ने अमेरिका के खिलाफ निर्णय दिया और भारत तथा अन्य वादी राष्ट्र विवाद में जीते।

(5) **अमेरिका तथा यूरोपीय समुदाय V/s भारत-**अमेरिका तथा यूरोपीय समुदाय ने अलग-अलग शिकायतों के द्वारा भारत पर औषध तथा कृषिजन्य रसायनों के उत्पादों पर उसके पेटेन्ट प्रतिबन्धों को विश्व व्यापार संगठनों के प्रावधानों के विरूद्ध बताया और विवाद में फैसला भारत के विरूद्ध गया और जिसकी उसने अपील की और वह भी खारिज हो गई। मामला अभी भी पेनल प्रक्रिया में विचाराधीन है।

(6) **भारत के विरूद्ध 6** अलग-अलग मामले मात्रात्मक प्रतिबन्धों को लेकर अमेरिका, यूरोपीय समुदाय, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, तथा स्विट्जरलैण्ड ने विश्व व्यापार संगठन के सामने उठाये हैं।

(7) **यूरोपीय समुदाय** ने भारत की नवीन निर्यात-आयात नीति (1997-2002) में अनेक वस्तुओं को निर्यात की नकारात्मक सूची में रखे जाने के कारण विवाद विश्व व्यापार संगठन में उठाया है।

(8) **राशिपातन विरोधी ड्यूटिज -**(Anti-Dumping Duties) विभिन्न WHO सदस्य देशों ने 1995 से जून 2006 तक डम्पिंग विरोधी उपायों के अन्तर्गत 2938 प्रयास किये है जिनमें भारत ने 448, अमेरिका ने 368, यूरोपीय समुदाय ने 345, चीन ने 125 मामलों में उपाय अपनाये हैं।

(9) **पर्यावरण, सुरक्षा एवं मानकों के आधार** पर अमेरिका ने 2006-07 में भारत से भेजे गये 1763, मेक्सिको के 1480 तथा चीन के 1388 खाद्य सामग्री से भरे जहाज वापस लौटाये हैं।

14.11 व्यापार और विकास के लिये संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन: अंकटाड

गैट द्वारा किये गये कार्यो से सामान्यत: विकसित देशों को अधिक लाभ प्राप्त हुआ तथा अर्द्ध विकसित राष्ट्रों को कम लाभ प्राप्त हुआ अत: इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सहयोग के कार्यो हेतु नयी संस्थाओं की आवश्यकता महसूस की गई जो अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के लिए कार्य कर सके।

अंकटाड की उत्पत्ति (Origin of UNCTAD):

संयुक्त राष्ट्र संघ विकास दशाब्दी की घोषणा संयुक्त राष्ट्र सभा ने 1961 में की। इसमें यह निश्चय किया गया की ऐसी सम्भावनाओं की जानकारी की जाए जिससे व्यापार और विकास से सम्बन्धित समस्याओं पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जा सके। इसके अतिरिक्त जुलाई, 1962 में काहिरा में जो मंत्रियों का सम्मेलन आयोजित किया गया उसमें भी व्यापार और विकास कार्य हेतु एक सम्मेलन आयोजित करने की आवश्यकता महसूस की गई। यह सम्मेलन जिनेवा में 23 मार्च, 1964 से 18 जून, 1964 तक आयोजित किया गया। इसी सम्मेलन में अंकटाड का उदय हुआ। इस प्रकार यह सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों मे एक नयी दिशा का प्रतीक है। इसने विश्व व्यापार के विकास को एक नया आयाम दिया है। यह सम्मेलन विकासशील देशों की व्यापार समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रथम महत्वपूर्ण प्रयास है। इसे स्थापित करने का श्रेय डॉ. राउल प्रेबिश को जाता है।

अंकटाड का संगठन (Organisation of UNCTAD):

यह संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का एक स्थायी रूप से संगठन है। अंकटाड का स्वतंत्र रूप से एक सचिवालय है तथा कार्य हेतु सहायक संस्थाएँ हैं। अंकटाड द्वारा विभिन्न समयों पर सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं, लेकिन सम्मेलन की अवधि के मध्य में स्थायी रूप से एक कार्यकरणी है। जिसे व्यापार एवं विकास मण्डल कहते हैं।

अंकटाड के कार्य -(Function of UNCTAD)

1964 में अंकटाड की स्थापना करते समय यह उद्देश्य रखा गया था कि विकासशील राष्ट्रों में व्यापार सम्बन्धी जो समस्यायें आती है उन्हें अंकटाड के माध्यम से दूर करने का प्रयास किया जाये। अंकटाड विकासशील राष्ट्रों के तीव्र आर्थिक विकास की दर को प्राप्त करनें में सहायक हुआ है।

इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं:-

(1) आर्थिक विकास की गति तीव्र करने के लिये विकसित एवं अर्द्धविकसित राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना।

(2) ऐसे सिद्धांतों तथा नियमों का निर्माण करना जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास से सम्बन्धित हों तथा उनकी वृद्धि में सहायक हों।

(3) बनाये गये सिद्धांतों तथा नियमों को क्रियान्वित करने का कार्य करना।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित जो अन्य संस्थायें संयुक्त राष्ट्र संघ में कार्यरत हैं उनका अंकटाड से समन्वय स्थापित करना तथा उनके कार्यो की समीक्षा कर उन्हें सुझाव देना।

(5) विश्व के सभी राष्ट्रों के मध्य समन्वयक के रूप में कार्य करना और इन राष्ट्रो के लिए केन्द्र रूप में भूमिका अपनाना।

अंकटाड के विभिन्न सम्मेलन (Different Conference of UNCTAD)

अंकटाड प्रथम- अंकटाड का प्रथम सम्मेलन जिनेवा में 3 मार्च से 10 जून 1964 तक आयोजित किया गया।

इस सम्मेलन में विचार के लिये निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखा गया-

(1) अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समस्यायें,

(2) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार का विस्तार,

(3) निर्मित तथा अर्द्धनिर्मित वस्तुओं का व्यापार,

(4) क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों के प्रभाव,

(5) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए वित्तीय व्यवस्था,

(6) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए विभिन्न उपायों को क्रियान्वित करने हेतु संस्थागत विधि तथा तन्त्र की व्यवस्था करना।

इस सम्मेलन में विभिन्न राष्ट्रों द्वारा निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये-

(1) अर्थव्यवस्था में विविधता

(2) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन

(3) आयात प्रतिस्थापन

(4) वार्षिक आय

(5) राशिपातन

(6) व्यापारिक एवं आर्थिक सम्बन्ध

(7) व्यापारिक विकास

विकासशील देशों में उद्योगों को बढ़ाने हेतु सहायता के लिए संयुक्ता राष्ट्र संघ ने एक नये संस्थान यूनिडो की स्थापना की। यूनिडो (UNIDO) की स्थापना का श्रेय अंकटाड (UNCTAD) को दिया जा सकता है।

अंकटाड द्वितीय- 1 फरवरी से 28 मार्च, 1968 तक नई दिल्ली में अंकटाड का द्वितीय सम्मेलन आयोजित किया गया।

सम्मेलन के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये -

(1) विभिन्न समस्याओं पर पूर्ण रूप से विचार कर महत्वपूर्ण समझौते करना,

(2) अंकटाड प्रथम में दिये गए सुझावों को क्रियान्वित करने से उत्पन्न आर्थिक स्थिति का पुर्नमूल्यांकन करना, एवं

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में प्रगति के लिए उचित समझौते करना।

अंकटाड तृतीय- 13 अप्रेल, 1972 से मई, 1972 तक चिली की राजधानी सेन्टियागो में अंकटाड का तृतीय सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में मुख्यतः निम्नांकित बिन्दुओं पर विचार किया गया।

(1) वस्तुओं के मूल्यों की स्थिरता

(2) विश्व मुद्रा-व्यवस्था में सुधार हुआ

(3) विकसित राष्ट्रों को तकनीकी हस्तान्तरण,

(4) अंकटाड की कार्य प्रणाली में सुधार एवं

(5) स्वेज नहर तथा निशस्त्रीकरण की समस्या।

अंकटाड चतुर्थ- अंकटाड का चौथा सम्मेलन केन्या की राजधानी नैरोबी में 5 मई 1978 से 5 जून, 1976 तक सम्पन्न हुआ।

(1) विकासशील देशों के मध्य व्यापार के विकास के लिए बाह सहायता की व्यवस्था करना,

(2) विकासशील राष्ट्रों के तकनीकी ज्ञान को हस्तांतरित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करना, तथा

(3) कच्चे माल की बिक्री में मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को नियन्त्रित करना।

अंकटाड पंचम्- अंकटाड का पाँचवीं सम्मेलन 6 मई, 1979 से 2 जून, 1979 तक फिलिपीन्स की राजधानी मनीला में हुआ। अन्य बिन्दु जिन पर विचार व्यक्त किया गया वे इस प्रकार है-

(1) सभी सदस्य राष्ट्रों के सामूहिक रूप से सहयोग के द्वारा वस्तु मूल्य स्थायित्व हेतु कोष का गठन करना

(2) विकसित राष्ट्रों द्वारा तटकर में छूट दिया जाना, तथा

(3) विकासशील राष्ट्रों की जनसंख्या समस्या, खाद्यान्न की कमी तथा विभिन्न कारणों से हुई व्यापार शेष की घाटे की समस्याओं पर विचार करना।

अंकटाड षष्ठम्- 6 जून, 1983 को यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में अंकटाड का छठा सम्मेलन आयोजित किया गया।

सुझाव इस प्रकार हैं -

(1) उपभोक्ता पदार्थो की शेष राशिपातन के आधार पर बिक्री पर रोक लगाने का सुझाव दिया गया

(2) विश्व मुद्रा-कोष की शेष राशि में से इन कार्यक्रमों को सहायता दी जानी चाहिए, तथा

(3) उपभोक्ता पदार्थो के लिए एक विशेष कोष की स्थापना शीघ्र की जानी चाहिए।

अंकटाड सप्तम- अंकटाड का सातवीं सम्मेलन जिनेवा में 3 अगस्त, 1987 को सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में विश्व के 148 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं

(1) आर्थिक विकास हेतु व्यवस्था- इस सम्मेलन में सभी राष्ट्रों ने यह सहमति प्रकट की कि विकासशील देशों पर ऋण का भारी बोझ है, अत: व्यापारिक बैंकों के माध्यम से न्यूनतम दर पर व्याज से ऋण उपलब्ध कराया जाने का प्रयास किया जावे।

(2) बाह्य सहायता- यह निर्णय लिया गया कि बाह्य सहायता से एक साझा कोष स्थापित किया जाये जिससे विकासशील देशों को ऋण एवं सहायता उपलब्ध कराई जावे।

अंकटाड अष्टम्- दक्षिणी अमेरिका में स्थित कोलम्बिया की राजधानी कार्टेजिनाडी इंडियाज में 1 से 25 जनवरी, 1992 को आठवाँ अंकटाड सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

(1) अल्पविकसित राष्ट्रों को सहायता एवं ऋण उपलब्ध कराना,

(2) अंकटाड की छवि को सुधारने हेतु प्रभावी निर्णय लेना, तथा

(3) अंकटाड को आर्थिक समस्या के निराकरण हेतु केन्द्रीय इकाई की मान्यता दिलाना।

अंकटाड नवम्- नवीं विश्व अंकटाड सम्मेलन 27 अप्रेल से 11 मई 1996 के दौरान दक्षिणी अफ्रीका के शहर मिडरैण्ड में 188 राष्ट्रों के 2000 प्रतिनिधियों के साथ सम्पन्न हुआ।

(1) अर्थव्यवस्था की विकास दर 2 प्रतिशत रहने की संभावना बताई जो गत वर्ष से 1.2 प्रतिशत कम थी।

(2) विकासशील देशों को पूँजी नियन्त्रण पर ध्यान देने का आग्रह किया गया।

(3) रिपोर्ट के अनुसार भारत में वर्ष 1998 में विकास दर में सुधार का विचार व्यक्त किया गया। खराब मानसून के कारण कृषि व्यवस्था पर प्रतिकूल असर बताया गया।

अंकटाड दशम्- अंकटाड का दसवीं अधिवेशन फरवरी 2000 में थाईलैण्ड की राजधानी बैंकॉक में सम्पन्न हुआ। इसके लिए एक कार्य योजना तैयार की गई

(1) व्यापार विकास का इंजन है।

(2) विकसित और विकासशील देशों में कोई भेद नहीं होना चाहिए।

(3) व्यापार और परिवहन के लिए सुरक्षित वातावरण बनाना चाहिए।

(4) वैश्वीकरण और उदारीकरण के विभिन्न पक्षों में महिलाओं की भूमिका सुनिश्चित हो।

(5) विश्व व्यापार को ध्यान में रखते हुए एक नए अंकटड के गठन की आवश्यकता पर विचार किया जाय।

अंकटाड ग्यारहवॉ- यह अंकटाड का ही प्रयास था कि जिनेवा में "The International Trade Center" की स्थापना हुई, जिसे संयुक्त रूप से WTO और UNCTAD संचालित करते हैं।

अंकटाड व गैट की तुलना

अंकटाड व गैट दोनों की ही स्थापना के समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गतिरोधों को समाप्त करने का तथ्य ध्यान में रख गया था। इस पर दोनों के कार्य लगभग एक समान रहे है फिर भी निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर अन्तर किया जा सकता है-

(1) गैट एक स्थैतिक संगठन था जिसमें मात्र व्यापारिक सम्बन्धों पर विचार होता था जबकि अंकटाड एक गत्यात्मक संगठन है जिसमें विश्व के राष्ट्रों के मध्य आर्थिक असमानता को कम करने का प्रयास किया जाता है।

(2) गैट द्वारा विभिन्न व्यापार वार्ताएँ आयोजित की जाती थी तथा अंकटाड द्वारा रचनात्मक तथा समझौता कार्यक्रम तय किये जाते हैं।

(3) गैट का क्षेत्र सीमित था जबकि अंकटाड एक व्यापक संगठन है।

(4) गैट एक स्वतंत्र व्यापार एवं प्रशुल्क समझौता था जबकि अंकटाड एक संयुक्त राष्ट्र संघ के अर्न्तगत उसका एक स्थायी अंग है।

14.10 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष - स्थापना, उद्देश्य व लाभ

तीसा की मंदी तथा 1931 में स्वर्णमान के त्याग ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के स्थान पर कट्टर मौद्रिक राष्ट्रीयता को बल दिया।

अत: द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दिनों में सर्वत्र अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग, विदेशी व्यापार में वृद्धि तथा पूँजी स्थानांतरण के लिए सुविधा प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। अत: सन 1943 में इंग्लैण्ड के प्रो कीन्स व अमेरिका के व्हाइट हाउस द्वारा अलग-अलग योजनाएँ प्रस्तुत की गई।1944 में अमेरिका के ब्रिटेनबुड में 44 मित्र राष्ट्रों के सम्मेलन में जो योजना स्वीकृत हुई उसे ब्रिटैनबुड्स समझौते के नाम से जानते है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन, विनिमय दरों में स्थायित्व तथा सदस्य राष्ट्रों के संतुलित आर्थिक विकास के लिये की गई है। इस कोष के निम्न उद्देश्य हैं -

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग** (International Moentary Cooperation)-कोष के सर्वप्रथम उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग स्थापित करना है। ताकि मौद्रिक सहयोग से विश्व युद्धों की पुनरावृति को रोक कर विश्व-शांति का मार्ग प्रशस्त हो सके।

(2) **सन्तुलित आर्थिक विकास को बढ़ावा** (Balanced Economics Development) कोष सदस्य राष्ट्रों में आर्थिक सहयोग एवं पूँजी स्थानान्तरण को बढ़ावा देकर उनमें रोजगार वृद्धि एवं सन्तुलित आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार एवं सन्तुलित विकास** (Expansion and Balance Growth of International Trade) कोष का तीसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बाधक तत्वों, प्रतिबन्धों आदि को रोक कर व्यापार का विस्तार करना है।

(4) **विनिमय दरों में स्थायित्व** (Stability in Exchange Rates) कोष का चौथा उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की विनिमय दरों में स्थायित्व लाना तथा उनके बीच नियमित विनिमय व्यवस्था स्थापित करना है।

(5) **बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली की व्यवस्था** (Multilateral Payment Systems) कोष का पाँचवा उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के बीच चालू व्यवसायों में बहुपक्षीय भुगतान पद्धति की स्थापना करना है।

(6) **असन्तुलन की स्थिति में आर्थिक सहयोग** (Economic Aid) कोष का छठा उद्देश्य समुचित संरक्षणों के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों के लिए कोष के साधनों को आर्थिक सहायता के रूप में उपयोग करना ताकि सदस्य राष्ट्रों में सहयोग उत्पन्न कर उनके भुगतानों के असन्तुलन को सुधारने का पर्याप्त अवसर मिल जाये।

(7) **असन्तुलन की व्यापकता. मात्रा एवं अवधि में कमी करना** (Shorting the Duration and Lessening the Degree of Disequilibrium in International Balance of Payment) कोष का प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में कभी-कभी किन्हीं कारणों से उत्पन्न होने वाले भुगतान असन्तुलन को तत्काल ठीक करने में सहयोग है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यो की प्रगति और उपलब्धियाँ (Progress and Achivements of I.M.F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्य विगत वर्षो में कुल मिलाकर काफी संतोष जनक रहा है। कोष ने अफ्रीका के कम विकसित देशों की समस्याओं के प्रति भारी जागरूकता प्रदर्शित की है। कोष तकनीकी विद्यापीठ सदस्य देशों के लिए जिन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करता रहा है वे बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। केन्द्रीय बैंकिंग, भुगतान-शेष, राजकोषीय मामलों आदि पर कोष न सदस्य देशों के अधिकारियों को विभिन्न पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत उपयोगी प्रशिक्षण प्रदान किया है।

इन उपलब्धियों के बावजूद कोष के कार्य आलोचना रहित नहीं है। सदस्य देशों ने कोष की अनुमति के बिना ही अपनी मुद्राओं की समता-दरों में परिवर्तन करके कोष के नियमों का उल्लंघन किया है, लेकिन कोष उनके विरूद्ध कोई कड़ी कार्यवाही नहीं कर सका है। डॉलर आज भी लगभग उतना ही दुर्लभ है जितना की यह 1949 में पौण्ड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन के समय था, लेकिन कोष अमेरिका को अभी तक इस बात के लिए नहीं मना सका की डीलर की दुर्लभता को समाप्त करे। डॉलर की दुर्लभता कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। कोष-सदस्यो के मुद्रा इकाइयों की समता-दरों को स्थिर रखने में असफल रहा।

मुद्रा कोष के माध्यम से भुगतान सरल हो गए हैं। इस प्रकार यह व्यापार वृद्धि में सहायक हुआ है भुगतान संतुलन की समस्या को हल करने के लिए मुद्रा कोष द्वारा भारत, इंडोनेशिया, घाना और पाकिस्तान जैसे विकासशील देशों को वित्तीय सहायता उपलब्ध की है। वर्तमान में मुद्रा कोषों का प्रयोग पुनर्निर्माण और विकास उद्देश्य में भी होने लगा है। पहले मुद्रा कोष की सीमा यह थी कि यह कोष का प्रयोग केवल भुगतान शेष की समस्या के लिए करता था, लेकिन मुद्रा कोष ने नये विभागों की स्थापना की है - जैसे-केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग तथा राजकोषीय विभाग। मुद्रा कोष द्वारा अन्य वित्तीय संस्थाओं से भी सम्पर्क रख कर विभिन्न संस्थाओं द्वारा राष्ट्रों में चालू किये गये कार्यक्रम को पूरा करने में सहायता मिलती है।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा उसके लाभ (India and International money Fond)

भारत उन देशों में से एक है जिन्होंने 1944 में ब्रिटेनवुड सम्मेलन में भाग लेकर मुद्रा कोष की स्थापना करने में योग दिया। भारत मुद्रा कोष का मौलिक सदस्य है। 1970 तक भारत को अभ्यंश राशि क्रम में पाँचवें स्थान पर होने से ही कोष की प्रबंध कार्यकारिणी मण्डल में प्रशासनिक संचालक नियुक्त करने का अधिकार रहा। अब स्थान तेरहवां हो जाने से यह स्थान जापान को प्राप्त हो गया है।

14.11 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक - स्थापना. उद्देश्य तथा लाभ

1944 की ब्रेटनवुड कॉन्फ्रेंस में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के साथ-साथ युद्ध जर्जरित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा विकासशील राष्ट्रों के विकास के लिए दीर्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पूरक संस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक जिसे सामान्यत: विश्व बैंक कहते हैं, की स्थापना की गई। विश्व बैंक की स्थापना का उद्देश्य युद्ध-जर्जरित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा विकासशील राष्ट्रों के विकास के लिए दीर्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी विनियोग को प्रोत्साहित करना है। अत: दोनों परस्पर पूरक संस्थाएँ हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पुन-निर्माण एवं विकास बैंक के उद्देश्य (Objectives of I.B.R.D. or World Bank)

विश्व बैंक के उद्देश्य एवं कार्य इस प्रकार हैं-

(1) **सदस्य राष्ट्रों का पुनर्निमाण एवं विकास-**विश्व बैंक का प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की युद्ध जर्जरित अवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा विकासशील सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सहायता देना तथा दीर्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को प्रोत्साहन देना है।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी विनियोग को प्रोत्साहन-**विश्व बैंक का दूसरा उद्देश्य पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी विनियोग की समुचित व्यवस्था करना एवं प्रोत्साहन देना है। इस प्रकार यह विकास कार्यो के लिए सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने तथा पूँजी विनियोग की व्यवस्था करता है।

(3) **दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि एवं भुगतान सन्तुलन-** विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य आर्थिक सहयोग व विदेशी पूँजी विनियोग से सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक योजनाओं के कार्यान्वयन द्वारा उनके दीर्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना तथा संतुलित करना है।

(4) **शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की दशाएँ उत्पन्न करना-**युद्ध जर्जरित एवं विनष्ट अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण द्वारा शान्तिकालीन अर्थव्यवस्थाओं की स्थापना की समुचित व्यवस्था करना है। इसी प्रकार निर्धन राष्ट्रों को विकसित करना है ताकि वे अपनी सुदृढ़ता से युद्ध के भय से मुक्त रहे।

विश्व बैंक की सदस्यता (Membership of the World Bank)

कोई भी राष्ट्र जो बैंक के उद्देश्य तथा नियमों को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो, बैंक की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। सहायता प्राप्त करने से पहले उस देश को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता अनिवार्य है अर्थात मुद्रा कोष का सदस्य न होने पर इस बैंक की सदस्यता भी संभव नहीं है।

विश्व बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य

युद्ध विनष्ट अर्थव्यवस्थाओं तथा विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को क्रमशः पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए दीर्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी विनियोग को प्रोत्साहन देना और शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था का निर्माण करना प्रमुख उद्देश्य है। विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आय और रोजगार में वृद्धि करता रहा है। विश्व बैंक सदस्य राष्ट्रों को अपने कोष से ऋण देता है। उधार ली गई पूँजी से ऋण देता है तथा गारण्टी देकर भी ऋण देता है। सदस्य राष्ट्रों को तकनीकी सहायता तथा प्रशिक्षण देने का कार्य करता है। विश्व बैंक द्वारा सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक विचारों का शान्तिपूर्ण तरीके से निपटारा करता है। साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं की स्थापना में सहायता देता है। विकासशील राष्ट्रों को ऋण दिलाने के लिए ऋणदाता देशों की बैठक आयोजित करता है। भारत ने भी इन सभी सेवाओं का लाभ उठाया है। विश्व बैंक ने अपनी मध्यस्थता में चिरकाल से चल रहे नहरी पानी विवाद को निपटाने में काफी योगदान दिया।

यद्यपि भारत को विश्व बैंक की सदस्यता का पूरा लाभ मिला किंतु कई कमियां भी नजर आई है। भारत की आवश्यकता के हिसाब से बहुत कम ऋण मिला व पक्षपात हुआ है व ब्याज की दरें भी ऊँची रही हैं। साथ ही साथ ऋणों के उपयोग पर भी प्रतिबन्ध भी रहा है विश्व बैंक की कमियों की अपेक्षा उपलब्धियॉ कई गुना है अतः आलोचनाओं के निराकरण के लिए नैतिक दबाव ही पर्याप्त है।

14.12 सारांश

निष्कर्ष रूप में कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समृद्ध करने हेतु गैट संस्था की स्थापना हुई किन्तु वह अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकी अतः विश्व व्यापार में वृद्धि हेतु विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई। अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि प्रयासों तथा विकासशील राष्ट्रों की स्थिति को उन्नत करनें पर ध्यान दिया गया। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मौद्रिक संस्थाएँ है किन्तु ये भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप सेः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समृद्ध करने में सहायता प्रदान करती हैं।

14.13 शब्दावली

- **सीमा शुल्क और व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT)-** सीमा शुल्क तथा व्यापार पर सामान्य समझौता एक विलक्षण संस्था है जो संसार के विभिन्न देशों के मध्य अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में प्रतिबन्धों को समाप्त करने तथा इस सम्बन्ध में आचार संहिता बनाने का सफल प्रयास है।

- **विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation)**- व्यापार अवरोधों को कम कर विश्व व्यापार अधिकतम करने के उद्देश्य से स्थापित संस्था।
- **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)** -अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में वृद्धि करने हेतु एक स्थाई संस्था।
- **विश्व बैंक (World Bank)**- युद्ध द्वारा ध्वस्त अर्थ व्यवस्थाओं को पुन: स्थापना तथा अर्द्धविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए उत्पादन कार्यो हेतु ऋण व सहायता प्रदान करने वाली संस्था।
- **विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Right)-** यह एक प्रादिष्ट मुद्रा की भाँति एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति है जिसके माध्यम से कोष की पुस्तकों में प्रविष्ट मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का निपटारा किया जा सकता है। यह कागजी सोना भी कहा जाता है।

14.14 स्वपरख प्रश्न

1. विश्व व्यापार के विस्तार में तटकर एवं व्यापार समझौते के योगदान पर प्रकाश डालिए।
2. अंकटाड के उद्देश्य क्या हैं? अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने में इसकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं के समाधान में मुद्रा कोष की भूमिका का मूल्यांकन कीजिये।
4. विश्व बैंक के उद्देश्यों एवं कार्यो पर प्रकाश डालिये।

14.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार- टी.टी. सेठी

इन्टरनेशनल इकॉनोमिक्स- डॉ. के.आर. गुप्ता

इन्टरनेशनल इकॉनोमिक्स- पॉल ए. सेमुल्टन

द थ्योरी ऑफ इन्टरनेशनल ट्रेड- एच.डब्ल्यू.जे. विजनहोल्ड्स

इकाई- 15 : अंतर्राष्ट्रीय भुगतान की विभिन्न विधियाँ
(Various Method of International Payment)

इकाई की रूपरेखा-

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का अर्थ
15.3 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की विशेषतायें
15.4 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता
15.5 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विभिन्न विधियां
15.6 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के विभिन्न पक्ष
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 स्वपरख प्रश्न
15.10 संदर्भ ग्रन्थ

15.0 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़कर आप समझ पायेंगे कि-

- अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किसे कहते हैं?
- इनमें क्या अलग विशेषतायें होती है?
- अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता क्यों होती है?
- किन-किन प्रमुख पद्धतियों से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते हैं?
- विभिन्न पक्षकार कौन-कौन होते हैं?

15.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय व्यापार में क्रेता एवं विक्रेता एक ही देश के निवासी होते हैं। एक देश में एक प्रकार की राजनीतिक प्रभुसत्ता एवं मौद्रिक व्यवस्था के होने के कारण व्यापारिक सौदों व अन्य आर्थिक दायित्वों का निपटारा देश में प्रचलित मुद्रा के प्रत्यक्ष लेन-देन के द्वारा आसानी से सम्पन्न हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आयातक और निर्यातक दोनों भिन्न-भिन्न देशों के होते हैं। हर देश की अपनी अलग-अलग विधिग्राह्य मुद्रा होती हैं। एक की मुद्रा अन्य देश में विधिग्राह्य व प्रचलित न होने के कारण निर्यातक अपने देश की प्रचलित मुद्रा में ही भुगतान प्राप्त करना चाहता है। साथ ही प्रत्येक देश की सरकार द्वारा विनिमय नियन्त्रण कानून लागू करने तथा विदेशी विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में जटिलता और बढ़ जाती है। विदेशी भुगतान प्रत्यक्ष न होकर बैंकों, स्वीकृति गृहों, बिल-ब्रोकरों आदि के माध्यम से होते हैं इस कारण उसकी प्रक्रिया में भी कई औपचारिकताएं एवं अन्य जटिलता होती है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विगत कुछ वर्षो

में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कई देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय एक रूप व्यवहार समझोतों तथा मौद्रिक सुधारों के अनेक उपाय इस संदर्भ में किये गये हैं। जिससे भुगतान से संबंधित कठिनाइयाँ न्यून हो सके।

15.2 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का अर्थ

व्यापार या आर्थिक लेन-देन के फलस्वरूप जो दायित्व उत्पन्न होते हैं उन दायित्वों को निपटाने के लिए भुगतान करने पड़ते हैं। जब क्रेता एवं विक्रेता एक ही देश की सीमाओं के अन्तर्गत व्यापार करते हों अर्थात जब दोनों पक्षकार, भुगतानकर्ता तथा भुगतान प्राप्तकर्ता, एक ही देश के निवासी हों तो इनके बीच होने वाले भुगतान अन्तर्देशीय भुगतान कहलाता है। परन्तु जब व्यापार या आर्थिक लेन देन भिन्न-भिन्न देशों के बीच हो तो भुगतान क्रिया दो भिन्न राष्ट्रों के मध्य होगी। इस प्रकार किसी एक देश के निवासी या संस्था द्वारा किसी दूसरे देश के निवासी या संस्था को भुगतान किया जाता है तो यह भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान कहलाता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की प्रमुख बात यह है कि इनमें भुगतान क्रिया से सम्बंधित दोनों पक्षकार, भुगतानकर्ता व भुगतान प्राप्तकर्ता अलग-अलग देश के होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अभिप्राय दो या दो से अधिक देशों के बीच मूल्य हस्तान्तरण की उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा किसी एक देश के निवासी किसी दूसरे देश के निवासियों के आर्थिक दायित्वों का निपटारा करते हैं। अन्य शब्दों में 'अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अभिप्राय दो या दो से अधिक देशों के मध्य मूल्य हस्तान्तरण की उस प्रक्रिया से है जिसमें आर्थिक दायित्वों का निपटारा किया जाता है। यह आवश्यक नहीं होता है कि सदैव अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मुद्रा में ही हो ये भुगतान अन्य अन्तरणों द्वारा भी हो सकते हैं।

15.3 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की विशेषतायें

इनकी प्रमुख विशेषतायें निम्नांकित हैं:-

1. **दो पक्षकार- (Two Parties)** एक राष्ट्र में भुगतान सौदों की भाँति ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में भी दो पक्षकारों का होना आवश्यक है। (i) भुगतानकर्ता अथवा भुगतान भेजने वाला, (ii) भुगतान प्राप्तकर्ता, आदाता अथवा भुगतान मंगाने वाला
2. **दो या दो से अधिक देशों के मध्य व्यवहार (Transaction Between Two or More Countries)** अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए किसी भी व्यवहार के सम्पन्न होने में दो या दो से अधिक देशों के मध्य व्यवहार होना आवश्यक है। ये भुगतान दो देशों के नागरिकों, संस्थाओं, कम्पनियों अथवा सरकारों के मध्य मूल्य हस्तांतरण के रूप में हो सकते हैं।
3. **आर्थिक दायित्वों का निपटान (Settlement of Economic Liabilities)-** अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता आर्थिक दायित्वों के कारण ही उत्पन्न होती है। ये आर्थिक दायित्व वस्तुओं व सेवाओं का आयात-निर्यात, पूँजी आवागमन, लाभांश एवं ब्याज का भुगतान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहायता समझौते, आदि के रूप में हो सकते हैं। भुगतानों के माध्यम से इन दायित्वों का निपटान किया जाता है।
4. **भुगतान की प्रक्रिया जटिल (Complicated Payment Procedure)-** राष्ट्रीय भुगतानों की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होती है। अलग-अलग राष्ट्रों

में विनिमय कानून एवं मौद्रिक व्यवस्था की भिन्नता के कारण एवं बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं की मध्यस्थता के कारण औपचारिकताओं में जटिलता अधिक होती है।

5. **मौद्रिक अथवा मूल्य हस्तांतरण की प्रक्रिया (Procedure of Money Transfer or Value Transfer)** कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मौद्रिक अथवा मूल्य अन्तरण के बिना सम्भव नहीं है। दो देशों की विधि ग्राह्य मुद्राओं की के कारण भुगतान समस्या उत्पन्न होती है। भुगतान प्रायः बहुमूल्य मुद्राओं, धातुओं, बैंक ड्राफ्टों, साख पत्रों अथवा विनिमय बिलों के माध्यम से किया जाता है।
6. **सरकारी हस्तक्षेप (Government Intervention) -** अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में विदेशी विनिमय कानूनों के कारण सरकारों द्वारा विशेष हस्तक्षेप किया जाता है एवं अनधिकृत भुगतानों को भी हतोत्साहित किया जाता है।
7. **विनिमय दर में उच्चावचन का प्रभाव (Impact of Exchange Rate Fluctuation) -** अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में मुद्राओं के मूल्य में भिन्नता के कारण विनिमय दर निर्धारण की आवश्यकता हो जाती है एवं इनके मूल्यों में भी अत्यधिक उतार चढ़ाव होते हैं। उच्चावचनों को रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण तकनीकों को अपनाया जाता है। इन उच्चावचनों का प्रभाव भुगतानों पर पड़ता है।

15.4 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता व्यापारिक कारणों एवं गैर-व्यापारिक कारणों से उत्पन्न सौदों के निष्पादन के लिए होती है। भुगतानों की मात्रा देश की आर्थिक विकास की अवस्था एवं व्यापार की मात्रा पर निर्भर करती है। विकसित राष्ट्रों में गैर-व्यापारिक भुगतानों की बहुतायत होती है। जबकि अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में व्यापारिक भुगतानों की अधिकता होती है। निम्नांकित कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता होती है।

1. **दृश्य व्यापार (Visible Trade) -** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिकांश भाग दृश्य व्यापार का होता है। आवश्यकता की पूर्ति हेतु वस्तुओं का आयात एवं अतिरेक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है। विशिष्टीकरण के इस युग में विभिन्न देश कई वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन करते हैं एवं उनका निर्यात करते हैं। ये वस्तुएं उपभोग वस्तुएं अथवा पूंजीगत वस्तुएं हो सकती हैं। वस्तुओं का आयात-निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों की अत्यन्त महत्वपूर्ण मद है, जिसके लिए ही अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते हैं।
2. **सेवाओं का भुगतान अथवा अदृश्य आयात (Payment for Services or Invisible Imports) -** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ अदृश्य मदें होती हैं अर्थात् जिनका प्रत्यक्ष व्यापार नहीं होता है। इनमें मुख्यतः बैंकों, बीमा कम्पनियों परिवहन, जहाजरानी आदि की सेवाओं के व्यय को सम्मिलित किया जाता है। इन सेवाओं के अतिरिक्त तकनीकी, उच्च प्रौद्योगिकी, चिकित्सा आदि की विशेषज्ञ सेवाओं के मूल्य चुकाने के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने पड़ते हैं।
3. **पूँजी आवागमन (Capital Movement) -** निजी व सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के उद्देश्य से पूँजी का विनियोग किया जाता है। यह

विनियोग अल्पकालीन, मध्यकालीन व दीर्घकालीन किसी भी रूप में हो सकता है। जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक देश से दूसरे देश में उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु पूँजी विनियोग किया जाता है तो इसे पूंजी आवागमन कहते हैं, इस हेतु अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता होती है।

4. **विविध लेन-देनों का भुगतान (Payment of Other transactions)-** विभिन्न राष्ट्रों के बीच कई अन्य कारणों एवं व्यवस्थाओं के अन्तर्गत विविध लेन-देनों का भुगतान करना होता है जिसमें प्रमुख निम्न हैं-

(i) **विदेशी ऋण (External Debts) -** विदेशी ऋणों की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है। विभिन्न देशों की सरकारों, वित्तीय एजेंसियों व संस्थाओं को आर्थिक विकास के उद्देश्य से ऋण दिये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं द्वारा भी इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऋण दिये जाते हैं। इस प्रकार विदेशी ऋण उपलब्ध करना एवं उसके पुन: चुकाने की प्रक्रिया हेतु भुगतान की आवश्यकता होती है।

(ii) **ब्याज व लाभांश का भुगतान (Payment of Interest and Dividends) -** अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजी विनियोगों के प्रतिफल के स्वरूप ब्याज अथवा लाभांश अथवा दोनों के भुगतान के लिए विदेशी भुगतान किए जाते हैं। वर्तमान में विदेशों पूँजी निवेश काफी मात्रा में बढ़ता जा रहा है। अत: इस हेतु भुगतान की आवश्यकता भी निरन्तर बढ़ रही है।

(iii) **विदेशी अनुदान (Foreign Grants in Aid) -** विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों को अनुदान दिया जाता है। यद्यपि अनुदान के अन्तर्गत जो राशि दी जाती है, वह वापिस नहीं ली जाती है और न ही इस राशि पर कोई ब्याज देय होता है परन्तु अनुदान की स्वीकृत राशि का हस्तान्तरण करना होता है। इस कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करना पड़ता है।

(iv) **क्षतिपूर्ति भुगतान (Payment for Compensation) -** एक देश की सरकार या व्यापारियों द्वारा कभी-कभी किसी दूसरे देश की सरकार या व्यापारियों को किसी तरह की क्षतिपूर्ति करनी होती है इसके लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करना पड़ जाता है।

(v) **अधिकार शुल्क का भुगतान (Payment of Royalties) -** कम्पनियां अपने उत्पादों के अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय अधिकार खरीद लेती है एवं अधिकार शुल्क वसूल करते हुए विक्रय की व्यवस्था करती है। सामान्यत: दवाइयों, पेय पदार्थों, उपकरणों आदि के अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय अधिकार इन उत्पादकों के पास होते हैं, जो अधिकार शुल्क के बदले दूसरे देशों में दिये जाते हैं। इन रजिस्टर्ड ट्रेडमार्क तथा कॉपीराईट के उपयोग के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते हैं।

(vi) **प्रवासियों द्वारा धन भेजना (Remittances by Immigrants) -** दूसरे देश में जाकर बसने वाले व्यक्तियों द्वारा अपने मूल देश में रिश्तेदारों को प्रायः काफी मात्रा में धन भेजा जाता है। इस हेतु भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता होती है।

(vii) **दूतावासों पर व्यय (Expenses on Diplomatic Missions) -** सामान्यतया एक देश की सरकार का अन्य देशों की सरकारों से राजनयिक सम्बन्ध होता है। इन सम्बन्धों

के कारण प्रत्येक देश द्वारा अन्य सभी देशों में दूतावासों की स्थापना की जाती है। इन दूतावासों पर होने वाला व्यय सम्बन्धित सरकारों द्वारा वहन किया जाता है। इस प्रकार इन दूतावासों पर होने वाले व्यय के लिए भी विदेशी भुगतान की आवश्यकता पड़ती है।

(viii) **शिष्ट-मण्डल के व्यय (Expenses on Delegations) -** राजनैतिक संस्कृति एवं सामाजिक उद्देश्यों से विभिन्न देशों में कई शिष्ट-मण्डल आते-जाते रहते हैं। इन शिष्ट-मण्डलों के जाने-आने पर राशि खर्च होती है। जो सरकार इन शिष्ट-मण्डलों को भेजती है वह इनका खर्च भी वहन करती है। इन खर्चो के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता पड़ती है।

(ix) **पर्यटकों के व्यय (Expenses on Tourists) -** एक देश से दूसरे देश में विश्व-भ्रमण के उद्देश्य से पर्यटक आते-जाते रहते हैं। इन पर्यटकों द्वारा अपनी यात्राओं पर धन व्यय किया जाता है इस हेतु भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता होती है।

(x) **खिलाड़ी दलों के व्यय (Expenses on Sport Teams) -** विभिन्न खेलों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ आयोजित होती हैं। इन आयोजनों में हिस्सा लेने के लिए विभिन्न देशों के खिलाड़ियों के दल आते हैं। इन दलों पर अत्यधिक धन राशि खर्च होती है। इसके लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने पड़ते हैं।

(xi) **शिक्षा-व्यय (Expenses on Education) -** शिक्षार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से संसार के किसी भी देश में जाने को आतुर रहता है। शैक्षिक दृष्टि से ख्याति प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में छात्र विदेशों से आने-जाने लगे हैं इसमें काफी विदेशी भुगतान करने पड़ते हैं।

(xii) **पुरस्कार भुगतान (Payments For Prizes) -** अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिमाओं को पुरस्कृत करने एवं सम्मानित करने की प्रवृत्ति भी निरन्तर बढ़ रही है, जैसे नोबेल पुरस्कार, नेहरू शान्ति पुरस्कार, अन्तर्राष्ट्रीय खेलों व प्रतियोगिताओं के पुरस्कार आदि इन सबमें भुगतान की आवश्यकता पड़ती है।

(xiii) **उपहार दान एवं संकट सहायता के भुगतान (Gift, Donations and Relief Assistance) -** अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के कारण एक देश के निवासी प्रायः दूसरे देश के निवासियों को उपहार देते हैं, निर्धनों के विकास हेतु दान लेते और देते हैं अथवा प्राकृतिक संकटों के समय बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता की जाती है। इनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता होते। है।

15.5 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विभिन्न विधियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की प्रमुख रीतियाँ निम्नलिखित हैं भुगतान की विभिन्न विधियों को चार्ट से भी समझाया गया है -

A. **आयातों का निर्यातों द्वारा भुगतान-** (Exports to pay For Imports). यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की परम्परागत पद्धति है। यह वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System) का ही एक रूप है। इसमें एक देश द्वारा अपने आयातित माल व सेवाओं का भुगतान उतने ही मूल्य के माल व सेवाओं के निर्यात करके किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार में भुगतान की यह तकनीक उन राष्ट्रों के बीच उचित प्रतीत होती है जहां आयातक एवं निर्यातक के मध्य सौदे निरन्तर होते हों। वर्तमान के युग मैं यह विधि यदा-कदा ही प्रयुक्त की जाती है। इस पद्धति से भुगतान तीन तरीके से सम्पन्न हो सकते हैं-

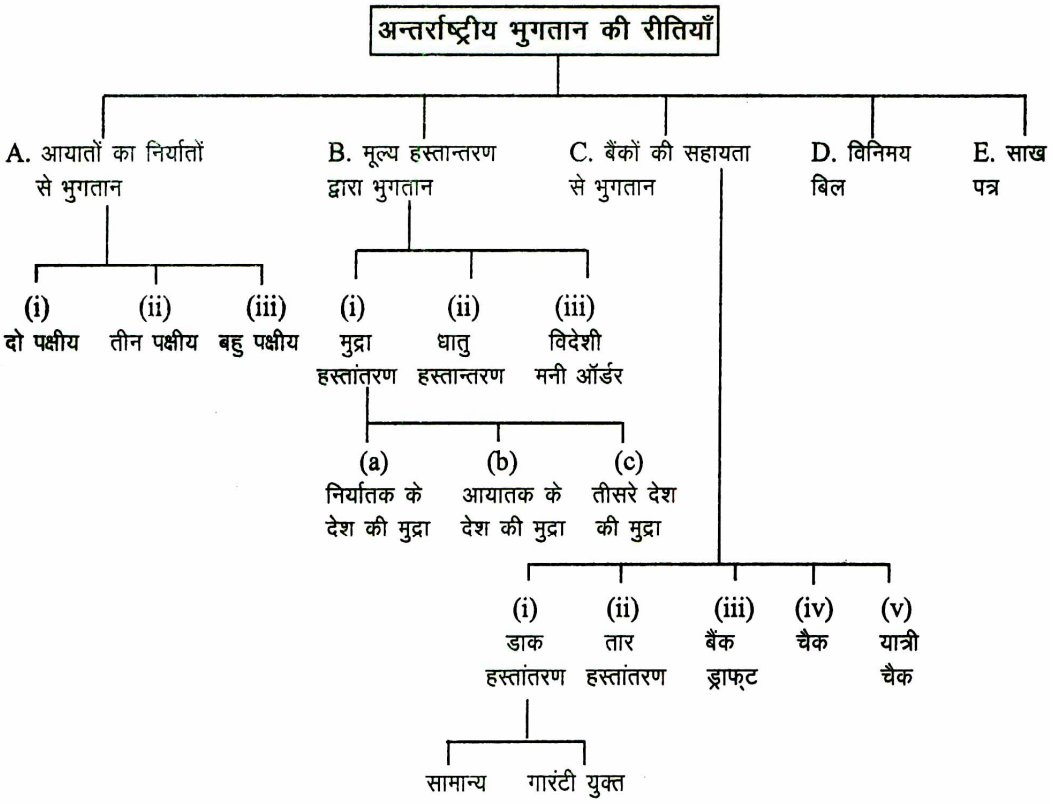

(i) **दो पक्षीय (Two Parties) -** इस व्यवस्था के अन्तर्गत आयातक तथा निर्यातक दो ही पक्ष होते हैं। एक पक्ष द्वारा जितने मूल्य का आयात किया जाता है, भुगतान के लिए उस पक्ष द्वारा उतने ही मूल्य की वस्तुओं का दूसरे पक्ष को निर्यात कर दिया जाता है। इस स्थिति में आयात का भुगतान स्वत: ही निर्यात द्वारा हो जाता है।

(ii) **तीन पक्षीय (Three Parties) -** तीन पक्ष यदि इस व्यवस्था में सम्मिलित हो जाते हैं तो इसे तीन पक्षीय भुगतान कहते हैं। इसमें एक देश के दो पक्ष तथा दूसरे देश का एक पक्ष होता है। एक देश के एक पक्षकार द्वारा किसी दूसरे देश के पक्षकार से माल आयात किया जाता है तथा आयातकर्ता देश के किसी अन्य पक्षकार द्वारा निर्यातकर्ता देश के उसी पक्षकार को उतनी ही राशि का माल निर्यात कर दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में स्थानीय पक्षकार राशि का आदान-प्रदान आपस में कर लेते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भुगतान सम्पादित हो जाता है।

उदाहरणार्थ दिल्ली के आर.के. कम्प्यूटर्स ने लन्दन के इन्टरनेशनल कम्प्यूटर्स से दस लाख रूपये मूल्य के कम्प्यूटर का आयात किया तथा दिल्ली के राजस्थान इंजिनियरिंग लि. द्वारा लन्दन के इन्टरनेशनल कम्प्यूटर्स को उतने ही मूल्य के इन्जिनियरिंग सामान का निर्यात कर दिया। इस दशा में आर.के. कम्प्यूटर्स द्वारा राजस्थान इन्जिनियरिंग लि.

को दस लाख रूपये भुगतान कर दिया जाता है एवं इस प्रकार तीन पक्षकारों के सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सम्पादित हो जाता है। सभी पक्षों के मध्य आपसी सहयोग होने पर ही यह विधि प्रयोग में ली जाती है।

(iii) **बहुपक्षीय भुगतान (Multy Parties) -** उपर्युक्त दोनों व्यवस्थाओं के अनुसार इस स्थिति में तीन से अधिक पक्षकार होते है। चूंकि दो पक्षकार एवं तीन पक्षकारों के संयोग आसानी से नहीं मिलते हैं, इस स्थिति में चार या अधिक पक्षकार होते हैं, जिनमें दो-दो पक्षकार प्रत्येक देश से होते हैं यह संयोग सामान्यतया सफलतापूर्वक मिल जाता है। इसमें एक देश का एक पक्षकार दूसरे देश के दूसरे पक्षकार से माल का आयात करता है तथा पहले देश का दूसरा पक्षकार दूसरे देश के दूसरे पक्षकार को माल निर्यात है। ऐसे में एक देश का एक पक्षकार निर्यातक एवं उसी देश का दूसरा पक्षकार आयातक होगा। इसी प्रकार स्थिति दूसरे देश में जहां पहला पक्षकार आयातक एवं दूसरा पक्षकार निर्यातक होगा। यहीं अपने-अपने देश में आयातक द्वारा निर्यातक पक्ष को मूल्यों का भुगतान मुद्रा में कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ दिल्ली के आर. के. कम्प्यूटर्स ने लन्दन के इन्टरनेशनल कम्प्यूटर्स से 10 लाख पॉण्ड का माल आयात किया है दूसरी तरफ दिल्ली के राजस्थान इन्जिनियरिंग लि. ने लन्दन के वी.पी. हार्डवेयर को 10 लाख पॉण्ड के माल का निर्यात किया है। इस स्थिति में यदि चारों पक्षकार आपस में समझौत कर भुगतान सौदा सम्पन्न कर लेते हैं तो यह बहुपक्षीय भुगतान सौदा कहलाता है।

B. **मूल्य हस्तान्तरण द्वारा भुगतान (Payment by Transfer of Value) -** इस पद्धति में आयातों का भुगतान मूल्यों के हस्तांतरण भुगतान द्वारा किया जाता है। जितनी राशि का भुगतान करना होता है, उसके बराबर का मूल्य ऋणी देश द्वारा ऋणदाता देश को भेज दिया जाता है। मूल्य हस्तान्तरण द्वारा भुगतान की तीन रीतियाँ प्रमुख हैं-

(i) **मुद्रा हस्तान्तरण (Currency Transfer) -** नकद मुद्रा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किया जा सकता है। नकद द्वारा हस्तांतरण में निम्न तीन तरह की मुद्रा काम में आ सकती है यथा-

(a) **निर्यातक देश की मुद्रा (Currency of Exporter) -** इसमें निर्यातक के देश की मुद्रा में भुगतान किया जाता है। जैसे इंग्लैण्ड सरकार यदि भारत सरकार को भुगतान करती है तो इंग्लैण्ड सरकार द्वारा अपने कोषों में से भारत को रूपये प्रदान कर भुगतान किया जायेगा। यह तभी सम्भव होता है जब देनदार के पास लेनदार देश की मुद्रा के पर्याप्त भण्डार उपलब्ध हों।

(b) **आयातक के देश की मुद्रा -** इसमें आयातक द्वारा स्वयं अपने ही देश की मुद्रा में भुगतान किया जाता है, उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के व्यापारी को भारत के किसी व्यापारी को भुगतान करना हो और इंग्लैण्ड का व्यापारी, अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान करता है एवं भारत का व्यापारी उसे स्वीकार कर लेता है। यह आयातक देश की मुद्रा में भुगतान कहलाता है। यह प्रायः तभी संभव हो पाता है जब लेनदार देश आयातक देश की मुद्रा को स्वीकार करने में तत्पर हो।

(c) **तीसरे देश की मुद्रा -** इसमें पारस्परिक समझौते द्वारा किसी अन्य की मुद्रा में भुगतान सौदा सम्पन्न किया जाता है। कई देशों की मुद्राओं की इतनी अधिक ख्याति होती है "कि वे विश्व के अधिकांश राष्ट्रों में आसानी से सामान्य होती है जैसे अमेरिकी डीलर। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में वर्षो से डीलर का प्रयोग सामान्य रूप से हो रहा है। इस व्यवस्था की यह शर्त है कि इसमें तीसरे देश की मुद्रा ऐसी होनी चाहिए जिसे निर्यातक देश स्वीकार करने को तैयार हो। इस स्थिति में आयातक निर्यातक तीसरे देश की मुद्रा में भुगतान सौदा सम्पन्न कर लेते हैं।

(ii) **धातु हस्तान्तरण (Bullion Transfer) -** इसके अन्तर्गत दायित्वों का भुगतान धातु हस्तांतरण द्वारा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामान्य रूप से स्वीकार्य धातु है। कोई भी देश अपने ऋण दायित्व के बराबर मूल्य का स्वर्ण ऋणदाता देश को भेजकर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान कर सकते हैं। वर्तमान में यह रीति बहुत ज्यादा लोकप्रिय नहीं है। स्वर्णमान व्यवस्था में इसमें उपयोग अधिक किया जाता था।

(iii) **विदेशी मनीऑर्डर द्वारा भुगतान (Payment through Money Order) -** इस विधि के अन्तर्गत देनदार द्वारा अपने देश के डाकघर में अपने ही देश की मुद्रा जमा कर विदेश में मनी ऑर्डर भेजा जाता है। इस में यह व्यवस्था होती है कि लेनदार के देश में वहाँ के डाकघर द्वारा प्रचलित विनिमय--दर के हिसाब से उस राशि को मुद्रा में परिवर्तित करके भुगतान कर दिया जाता है। यह रीति बहुत ही सरल है। इस रीति का उपयोग प्रायः छोटे-छोटे भुगतानों में तथा पड़ोसी देशों में ही किया जाता है।

C. **बैंकों के माध्यम से भुगतान (Payment Through Banking System) -** आजकल बैंकों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान भेजने की तकनीक सबसे अधिक प्रयोग में ली जाती है। बैंकों के माध्यम से भुगतान अनेक विधियों द्वारा किये जाते हैं। समय, लागत एवं परिरिथतियो के आधार इन विधियों का चुनाव किया जा सकता है। बैंक के माध्यम से भुगतान की प्रमुख विधियाँ निम्नांकित है -

(i) **चैक द्वारा भुगतान (Payment through cheque) -** चैक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते हैं। इसमें देनदार द्वारा लेनदार के नाम चैक लिखा जाता है। इसमें चैक का लेखक अपनी बैंक को यह आदेश देता है कि चैक में उल्लिखित निश्चित राशि, चैक में उल्लिखित व्यक्ति या उसके आदेशित व्यक्ति या ग्राहक को दे दे। हवाई डाक या किसी अन्य साधन से लिखित चैक भुगतान प्राप्तकर्ता के पास भेज दिया जाता है। भुगतान प्राप्तकर्ता पक्षकार उस चैक को अपने बैंक में संग्रह के लिए जमा कराके भुगतान प्राप्त कर लेता है। चैक द्वारा भुगतान की प्रक्रिया सरल दिखाई देती है परन्तु व्यवहार में विनिमय नियन्त्रण कानूनों के कारण यह उतनी सरल नहीं है। विदेशों में भुगतान के भेजे जाने वाले चेकों के लिए देश के विनिमय नियन्त्रण कानून का पालन करना पड़ता है एवं इन कानूनों में स्वीकृति के पश्चात् ही एक देश से दूसरे देश में चेकों का भुगतान हो सकता है।

(ii) **बैंक ड्राफ्ट द्वारा भुगतान (Payment through Bank Draft) -** यदि लेनदार को चेकों द्वारा भुगतान स्वीकार करने में कठिनाई हो तो वहाँ बैंक ड्राफ्ट द्वारा भुगतान

किया जा सकता है। "विदेशी बैंक ड्राफ्ट एक ऐसा याचना (Demand Order) आदेश है जो किसी बैंक द्वारा विदेश में स्थित अपनी शाखा अथवा प्रतिनिधि बैंक (Correspondent Bank) पर लिखा जाता है और जो ड्राफ्ट के क्रेता द्वारा बताये गये पक्षकार के हित में होता है।" विनिमय नियन्त्रण कानून के अन्तर्गत सम्बंधित अधिकारियों से पूर्वानुमति प्राप्त कर इस पद्धति के अन्तर्गत देनदार व्यक्ति अपने देश में स्थित बैंक में निश्चित धनराशि व शुल्क जमा कराकर लेनदार के पक्ष में लेनदार के देश में स्थित बैंक शाखा के नाम बैंक ड्राफ्ट प्राप्त करता है और उसे डाक द्वारा लेनदार को भेज देता है। लेनदार इस ड्राफ्ट को अपने खाते में जमा कराकर निश्चित राशि बैंक से प्राप्त कर लेता है। बैंक द्वारा ड्राफ्ट जारी करने का अतिरिक्त शुल्क लिया जाता है इस कारण यह व्यवस्था सामान्यत: मंहगी है।

(iii) **डाक हस्तान्तरण (Mail Transfer or M/T) -** बैंक ड्राफ्ट से विदेशों में भुगतान करना सामान्यत: महंगा पड़ता है, क्योंकि भुगतानकर्ता को ड्राफ्ट शुल्क के साथ उसे भेजने का हवाई डाक व्यय व रजिस्ट्री खर्च भी वहन करना पड़ता है। ड्राफ्ट के खोने की जोखिम भी बनी रहती है अत: जोखिम से बचने व मितव्ययिता से भुगतान के लिए देनदार द्वारा अपने देश में स्थित बैंक जिसकी शाखा लेनदार के देश में भी स्थित हो को अपने खाते में से एक निश्चित रकम लेनदार के खाते में हस्तान्तरित करने का आदेश देता है। देनदार के देश में स्थित बैंक लेनदार सम्बंधी सब सूचना लेकर उनके अनुसार लेनदार के बैंक खाते में राशि हस्तान्तरित कर देता है। इस पद्धति में भुगतान मितव्ययतापूर्ण व शीघ्रता से हो जाता है एवं ड्राफ्ट के खोने व चुराने का भय भी नहीं रहता। डाक हस्तांतरण पद्धति दो प्रकार की होती है- (i) सामान्य डाक हस्तांतरण: इसके अन्तर्गत भुगतान सामान्य डाक द्वारा हस्तान्तरण किया जाता है, (ii) गारन्टीयुक्त डाक हस्तांतरण: इसके अन्तर्गत बैंक ज्यादा तत्परता से कार्य करते हैं। इस विधि में बैंक द्वारा भुगतान एक निश्चित अवधि में पहुँचाये जाने की गारन्टी दी जाती है। गारन्टीयुक्त डाक-हस्तांतरण में बैंक कुछ ज्यादा शुल्क ग्राहक से वसूल करती है।

यह पद्धति अत्यधिक सरल एवं मितव्ययी है। इसमें सबसे कम परेशानी रहती है। इसमें सही व्यक्ति को सही समय पर भुगतान मिल जाता है तथा गारन्टीयुक्त डाक-हस्तांतरण में निश्चित समय में भुगतान के हस्तांतरित होने की गारन्टी भी रहती है।

(iv) **तार हस्तांतरण (Telegraphic Transfer or T/T)** - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान राशि शीघ्र भेजना आवश्यक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों के परिवर्तित होने की सम्भावना के कारण जहाँ एक ओर निर्यातक शीघ्रातिशीघ्र भुगतान प्राप्त करना चाहता है। वहीं आयातक भी शीघ्र भुगतान करना चाहता है। ऐसी स्थिति में यदि डाक-हस्तांतरण द्वारा भुगतान भेजा जाता है तो भुगतान में काफी समय लगता है। अत: तार द्वारा हस्तान्तरण किया जाता है।

तार हस्तांतरण या केबिल हस्तांतरण भुगतान हस्तांतरण की वह विधि है जिसके अन्तर्गत भुगतानकर्ता का बैंक समुद्री तार अथवा केबिल ग्राम द्वारा विदेश स्थित शाखा अथवा प्रतिनिधि बैंक को यह निर्देश देता है एक निश्चित धनराशि निश्चित पक्ष (लेनदार) के खाते में अन्तरित कर दी जाये। यदि देनदार शीघ्रातिशीघ्र भुगतान भेजना

चाहता हो तो अतिरिक्त शुल्क अर्थात् केबिल शुल्क देकर इस व्यवस्था का लाभ उठा सकता है एवं विनिमय दर की जोखिमों से बचा जा सकता है। पार अथवा केबिल आदेश-पढ़ा प्रयोग विदेशी भुगतानों में बहुत अधिक है। इस पद्धति में भी विनिमय नियंत्रण उाधिकारियों की पूर्वानुमति आवश्यक है। यह पद्धति भुगतान में सुविधाजनक एवं शीघ्रगामी तो है परन्तु सबसे अधिक मंहगी है।

(v) **विदेशी यात्री चैक (Foreign Travellers Cheque) -** विदेशों में जाने वाले व्यापारियों, यात्रियों एवं पर्यटकों द्वारा अपने यात्रा सम्बंधी खर्चो को चुकाने के लिए इस चैक का उपयोग किया जाता है। इसके अनतर्गत यात्री जोखिम से बचने के लिए मुद्रा को अपने ही देश की किसी ऐसी बैंक की शाखा में जमा करा देते हैं, जिसकी यात्रा की जाने वाले देश के विभिन्न स्थानों पर शाखाएँ हो या उस बैंक के प्रतिनिधि बैंक की शाखाएँ हो और उसे बदले में वह बैंक से एक निश्चित जमा राशि के तुल्य यात्री चैक प्राप्त कर लेता है। इन चेकों का प्रयोग वह अपनी विदेशी यात्रा एवं पर्यटन आदि के भुगतान में कर देता है। यह विधि नियमित व्यापार एवं सेवाओं के भुगतान आदि को सम्पन्न करने हेतु उपयोग में नहीं ली जा सकती है। इसका उपयोग केवल यात्रा आदि से सम्बंधित भुगतान में ही उचित रहता है।

D. **विनिमय बिल (Bills of Exchange) -** यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित तरीका है। विदेशी विनिमय बिल एक शर्त रहित लिखित आदेश है, जिसमें लेनदार एक निश्चित राशि स्वयं को या अपने आदेशित व्यक्ति को माँग पर या निश्चित अवधि के बाद भुगतान का आदेश देता है। विदेशी विनिमय बिल दो प्रकार के होते हैं -

(i) **मांग पर देय बिल अथवा दर्शनी बिल-** इसका भुगतान देनदार को बिल प्रस्तुत करने पर अर्थात बिल के दर्शन होते ही तुरन्त करना होता है एवं (ii) मुद्दती या सावधि बिल- जिसका भुगतान बिल में वर्णित एक निश्चित अवधि के बाद देय होता है इसे सावधि बिल कहते हैं। प्रायः दूसरे प्रकार के बिल का ही अधिक प्रचलन है, क्योंकि विदेशी व्यापार में भी उधार क्रय-विक्रय बहुत होता है। सावधि बिलों की देय तिथि में तीन रियायती दिन (Days of Grace) और जोड़े जाते हैं"। उदाहरण के लिए 20 जुलाई को तीन महीनों के मुद्दती बिल लिखा गया हो तो को देय तिथि 20 अक्टूबर न होकर 23 अक्टूबर होगी। इस प्रकार मुद्दती बिल के माध्यम से अल्पकालीन साख की प्राप्ति भी हो जाती है।

दर्शनी बिल तो सीधे भुगतान के लिए ही प्रस्तुत होते हैं इन पर स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है परन्तु सावधि बिलों को देनदार या उसके बैंक के पास स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करना होता है। देनदार या उसके बैंक द्वारा सावधि बिल के मुख पृष्ठ पर "Accepted" "स्वीकार किया" शब्द लिखकर हस्ताक्षर व तारीख डाल दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आयातक व निर्यातक दोनों एक-दूसरे की आर्थिक स्थिति व साख से भली-भाँती परिचित नहीं होते हैं अत: बिलों की स्वीकृति बैंक अथवा स्वीकृति गृहों (Acceptance Houses) से भी ली जा सकती है, जिनकी प्रतिष्ठा के कारण ऐसे

बिलों की कटौती (Discount) करवाना या हस्तान्तरण व बेचान करना सरल रहता है एवं लेनदार को भी भुगतान का विश्वास बना रहता है।

विदेशी विनिमय बिल प्रायः तीनों प्रतियों में बनाये जाते है ताकि अगर प्रथम प्रति डाक में खो जाए या समय पर न मिले तो भुगतान हेतु दूसरी व तीसरी प्रतियों का उपयोग किया जा सकता है। विदेशी बिलों का धारक परिपक्व तिथि से पूत बिलों को अपने बैंकर अथवा बट्टा गृहों (discount houses) से कटौती करवाकर बिल की रकम प्राप्त कर सकता है। अच्छी आर्थिक स्थिति वाले पक्षकारों के बिलों अथवा स्वीकृत-गृहों द्वारा स्वीकृत किसी बिल की शीघ्र कटौती करवायी जा सकती है। सावधि बिलों को भुगतान की तिथि पर स्वीकार कर्ता के समक्ष भुगतान हेतु प्रस्तुत किया जाता है जिसका स्वीकार कर्ता या उसके प्रतिनिधि बैंक द्वारा यथा समय भुगतान कर दिया जाता है। यदि स्वीकृत / कटौती किये गये बिलों के अनादरण हो जावे तो सभी सम्बंधित पक्षों को लेनदार द्वारा सूचना दी जानी चाहिए। जिससे विनिमय साख विलेख अधिनियमों के अन्तर्गत कानूनी कार्यवाही की जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के तरीका मे विनिमय बिल द्वारा भुगतान सबसे लोकप्रिय विधि है। इस विधि द्वारा भुगतान से आयातक, निर्यातक, बैंक व सरकार सभी को लाभ होता है। एक ओर सावधि बिलों के कारण आयातक को भुगतान करने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है, जबकि निर्यातक द्वारा भी स्वीकृत बिलों की बैंक से कटौती करके तुरन्त राशि प्राप्त की जा सकती है। इसी तरह बैंक को भी कटौती की क्रिया में कमीशन का लाभ होता है एवं इस पद्धति से भुगतान की सुविधा होने से किसी देश के निर्यातों में वृद्धि होने की सम्मावना रहती है। इससे सरकार व समाज एवं सभी पक्षकारों को लाभ पहुँचता है।

E. **साख-पत्र द्वारा भुगतान (Payment through Letter of Credit) - अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की यह एक सरल, मितव्ययी और लोकप्रिय विधि है।** इसमें आयातक अपनी बैंक से यह प्रार्थना करता है कि वह निर्यातक फर्म के पक्ष में एक निश्चित राशि का साख-पत्र निर्गमित करे। प्रार्थना पत्र के आधार पर बैंक अपनी विदेश स्थित शाखा या किसी अन्य सहयोगी बैंक के सहयोग से निर्यातक फर्म के पक्ष में साख-पत्र खोल देता है, जिसमें यह व्यवस्था रहती है कि निर्यातक माल का लदान करके शर्तों के अनुरूप सम्बन्धित सभी प्रलेख उस बैंक को सुपुर्द कर देता है एवं बैंक निर्यातक को तुरन्त उल्लिखित राशि का भुगतान कर देता है या निर्यातक द्वारा लिखित बिल को स्वीकृति प्रदान कर देता है। इन प्रलेखों में जहाजी बिल्टी, बीमा-पत्र, वाणिज्य-बिल, अधिकार-पत्र आदि प्रमुख होते हैं। इन प्रलेखों को बैंक आयातक देश की बैंक को भेज देता है। आयातक की बैंक प्रलेखों की प्राप्ति कर उस बैंक के जाते में राशि जमा कर देता है तथा उन प्रलेखों के आधार पर माल की सुपुर्दगी ले ली जाती है। इस कार्य के लिए बैंक अपना कमीशन आयातक से वसूल करती है। इस रीति में भुगतान सम्बंधी जोखिम पूर्णतया समाप्त हो जाती है। निर्यातक को भुगतान लदान के तुरन्त बाद ही मिल जाता है जबकि आयातक को माल का भुगतान प्रलेखों के प्राप्त होने पर करना पड़ता है। बैंकों को भी इसमें काफी अच्छा कमीशन मिल जाता है तथा व्यापार-व्यवहार पूर्णत: जोखिम रहित ही रहता है। साख-पत्र द्वारा भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सर्वाधिक

लोकप्रिय तरीका है। साख पत्र द्वारा भुगतान की तिथि का विस्तृत अध्ययन आप प्रलेखीय साख नामक अध्याय में भी कर चुके हैं।

15.6 अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के विभिन्न पक्ष (Different Parties to International Payment)

विदेशी विनिमय बाजार वह सम्पूर्ण क्षेत्र है जहाँ विदेशी विनिमय के क्रेता और विक्रेता फैले होते हैं। विदेशी विनिमय की प्रक्रिया जटिल होने के कारण इसमें मध्यस्थों की सहायता की आवश्यकता होती है। इस कारण वे मध्यस्थ भी विदेशी विनिमय बाजार के महत्वपूर्ण अंग हैं। विदेशी विनिमय बाजार के अंर्तगत वे सभी पक्ष आते हैं जो विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के निपटारे में सहयोग करते हैं एवं भाग लेते हैं। वे आयातक या निर्यातक ऋणी या ऋणदाता, सटोरिये अथवा पर्यटक सरकार या मध्यस्थ के रूप में बैंक, स्वीकृति, गृह दलाल अथवा आढ़तिये आदि हो सकते हैं।

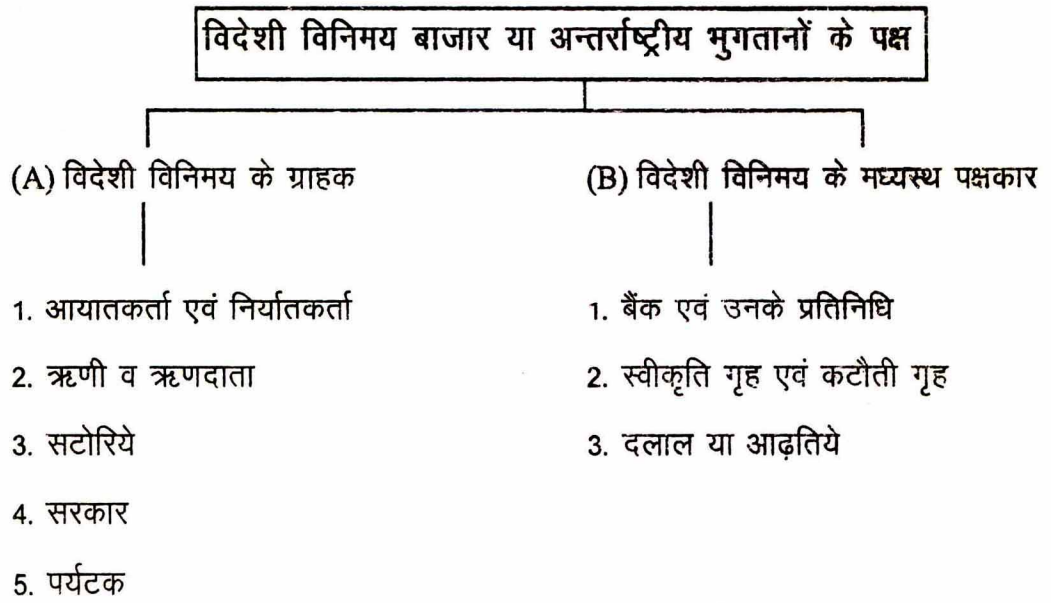

(A) **विदेशी विनिमय के ग्राहक (Consumers of Foreign Exchange) -** इन पक्षकारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:-

1. **आयातकर्ता व निर्यातकर्ता (Importers & Expoerters) -** आयातकर्ता को आयातित माल सम्बन्धी भुगतानों को निपटाने के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है और निर्यातक को भी अपने निर्यात के बदले प्राप्त विदेशी बिलों का या नकद में भुगतान प्राप्त करना होता है। दृश्य व्यापार में विदेशी विनिमय के मुख्य ग्राहक ये दोनों पक्षकार होते है।
2. **ऋणी व ऋणदाता (Debtors and Creditors) -** विदेशी ऋण प्राप्ति व भुगतान के लिए विदेशी प्रतिभूतियाँ खरीदी व बेची जाती है। ऋणदाता ऋण देते समय विदेशी मुद्रा खरीदता है तथा ऋण की अदायगी पर विदेशी मुद्रा बेचता है। एक दूसरे देश में

विनियोग की दृष्टि से भी ऋणी व ऋणदाता अंश, बांड व प्रतिभूतियों में पूंजी विनियोजित करते रहते हैं। इसमें विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है।

3. **सटोरिये (Speculator) -** विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचन का आकस्मिक लाभ उठाने के उद्देश्य से सटोरिये भी विदेशी विनिमय बाजार में मुद्रा का क्रय-विक्रय करते रहते हैं। ये सटोरिये परिस्थितियों के अनुरूप अपनी क्रियाएं बदलते रहते है। ये कभी क्रेता के रूप में तो कभी विक्रेता के रूप में कार्य करते है। सट्टे की क्रिया के संचालन में भी विदेशी भुगतान की आवश्यकता होती हैं।
4. **पर्यटक (Tourists) -** विदेशों में जाने वाले पर्यटकों को विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है उदाहरणार्थ भारत से बाहर जाने वाले पर्यटकों को विदेशी मुद्रा की मांग होती है एवं विदेशों से भारत में आने वालों को भारत की मुद्रा की मांग होती है। इस प्रकार आने वाले विदेशियों को भारतीय मुद्रा खरीदनी व विदेशी मुद्रा बदले में बेचनी होती है एवं जाने वालों को अपनी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा का क्रय करना होता है।
5. **सरकारें (Governments) -** विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों को विभिन्न भुगतान विदेशी मुद्रा के रूप में करने होते हैं अत: सरकारों को भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है।

(B) **विदेशी विनिमय बाजार के मध्यस्थ पक्षकार (mediators of Foreign Exchange Market) -** विदेशी विनिमय की क्रियाओं को सम्पन्न करने हेतु विशिष्टता प्राप्त मध्यस्थ विदेशी विनिमय बाजार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। प्रायः सभी देशों में विनिमय नियन्त्रण कानून की जटिलताओं के कारण मध्यस्थ एक अनिवार्य अंग हो गये हैं। ये मध्यस्थ या तो विदेशी विनिमय का लेन-देन करते हैं एवं सहायक के रूप में भी कार्य करते हैं। इनमें निम्न मुख्य हैं-

1. **बैंक एवं उनके प्रतिनिधि (Bank and their representatives) -** इनमें विदेशी विनिमय बैंक एवं वे व्यापारिक बैंक आते हैं, जो विदेशी विनिमय के कार्य में संलग्न हैं। इन बैंकों की शाखाएँ देश व विदेश के महत्वपूर्ण बन्दरगाहों पर स्थित होती हैं और सब शाखाओं में प्रायः सभी विदेशी मुद्राओं का लेन-देन किया जाता है! यदि किसी बैंक की विदेश में शाखा नहीं होती है तो वहीं उनके प्रतिनिधि के रूप में दूसरे बैंक कार्य करते हैं, उन्हें प्रतिनिधि बैंक (Corresponding Bank) कहते हैं। बैंक द्वारा साख-पत्रों, ड्राफ्टों, डाक-तार हस्तान्तरणों, बिलों की कटौती, बेचान क्रय-विक्रय आदि क्रियाओं से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की क्रियाओं को निपटाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में बैंकों की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है। वर्तमान में बैंकों की बढ़ती हुई भूमिका को देखते हुए यह कहना कोई अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि बिना बैंक सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सम्भव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की कोई भी विधि क्यों न हो निपटारा बैंकों के सहयोग से ही होता है। इस हेतु बैंक प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी शाखाएँ खोलते हैं एवं अन्य बैंकों से सहयोग-सम्बंध रखते हैं। बैंकों के माध्यम "से एक देश द्वारा दूसरे देश को भुगतान अत्यन्त आसानी से परस्पर खातों के समायोजन से सम्पादित किए जाते हैं।

2. **स्वीकृति एवं कटौती गृह (Acceptance & Discounting Houses) -** अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में क्रेता और विक्रेताओं में पारस्परिक निकट सम्पर्क न होने एवं जानकारी न होने से ऐसी मध्यस्थ संस्थाओं की आवश्यकता होती है जो ऋणी व ग्राहकों के उनके लिखे बिलों पर स्वीकृति देते हैं ताकि ऐसे बिलों का भुनाना व बेचान करना आसान हो जाता है। ये गृह स्वीकृति गृह कहलाते हैं। इन ग्रहों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा व साख होने से इनके द्वारा स्वीकृत बिलों को बेचान अथवा कटौती करवायी जा सकती है। इस प्रकार इन संस्थाओं द्वारा स्वीकृत बिलों की कटौती गृहों से कटौती करवाकर अल्पकालीन वित्त की सुविधा की प्राप्ति की जा सकती है। अत: इस व्यवस्था में कटौती राहों को भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
3. **दलाल एवं आढ़तिये (Brokers and Commission Agents) -** विदेशी विनिमय बाजार में ग्राहकों के बीच दूरी एवं जानकारी के अभाव के कारण एक निश्चित शुल्क के बदले दलाल व आढ़तिये भी मध्यस्थ के रूप में कार्य करते हैं ताकि ग्राहकों को अनुकूल शर्तों एवं समय पर विदेशी मुद्रा भुगतान के लिए उपलब्ध हो जाए एवं व्यापार में कोई कठिनाई नहीं हो। ये मध्यस्थ प्रायः स्वयं बिल लिखने या स्वीकार करने का कार्य नहीं करते वरन् कमीशन के आधार पर सहायता करते है।

15.7 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान दो या अधिक देशों के बीच मूल्य हस्तान्तरण की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया जटिल एवं श्रमसाध्य है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता व्यापारिक तथा गैर व्यापारिक सौदों के निष्पादन के लिए होती है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की प्रमुख रीतियों में आयातों का निर्यातों द्वारा भुगतान, मूल्य हस्तान्तरण द्वारा, बैंकों की सहायता से, विनिमय बिल तथा साख पत्रों द्वारा भुगतान प्रमुख हैं। प्रत्येक रीति द्वारा भुगतान के अपने लाभ्दोष हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की यह प्रक्रिया विदेशी विनिमय बाजार में सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में अनेक पक्षकार जैसे आयातक, निर्यातक, सटोरिये, सरकार, बैंक, स्वीकृति एवं कटौती गृह दलाल आदि सम्मिलित होते हैं।

15.8 शब्दावली

विनिमय नियंत्रण : हर राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में नियन्त्रण हेतु मुद्राओं के लेनदेन पर नियंत्रण हेतु व्यवस्था अपनायी जाती है। जिससे लेनदेन पर नियंत्रण स्थापित हो सके।

प्रतिनिधि बैंक : स्वयं की शाखा न होने पर अन्य बैंक जो बैंकिंग व्यवहार सम्पन्न करने में सहयोग करता है वह प्रतिनिधि बैंक कहलाता है।

दृश्य व्यापार : वस्तुओं का आयात निर्यात दृश्य व्यापार कहलाता है।

अदृश्य व्यापार : वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओं का आयात निर्यात अदृश्य व्यापार कहलाता है।

अनुदान : सहायता के रूप में प्राप्त वह राशि जिसे वापिस चुकाया नहीं जाता है। अनुदान कहलाती है।

15.9 स्वपरख प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान से आप क्या समझते हैं?
2. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की 2 विशेषतायें बताइये
3. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता क्यों होती है?
4. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में कितने पक्षकार होते हैं?
5. विदेशी ऋण एवं अनुदान में क्या अन्तर है?
6. मूल्य हस्तान्तरण भुगतान क्या है?
7. चैक एवं बैंक ड्राफ्ट द्वारा भुगतान में क्या अंतर है?
8. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों से आप क्या समझते हैं। इनकी विशेषतायें बताते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए?
9. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विभिन्न रीतियों का वर्णन कीजिए?
10. अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के विभिन्न पक्षकार कौन-कौन से होते हैं? वर्णन कीजिए?

15.10 संदर्भ ग्रंथ

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार- टी.टी. सेठी
2. इन्टरनेशनल इकॉनोमिक्स- डी. के.आर. गुप्ता
3. इन्टरनेशनल इकॉनोमिक्स- पॉल ए. सेमुल्टन
4. द थ्योरी ऑफ इन्टरनेशनल ट्रेड- एच.डब्ल्यू.जे. विजनहोल्ड्स

इकाई -16 : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन-अंकटाड
(World Trade Organisation-UNCTAD)

इकाई की रूपरेखा -

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 इतिहास एवं विकास
16.3 अंकटाड के कार्य एवं क्षेत्र
16.4 अंकटाड के उद्देश्य एवं आवश्यकता
16.5 अंकटाड के स्वीकृत सिद्धान्त
16.6 अंकटाड का संगठन
16.7 विभिन्न अंकटाड की उपलब्धियाँ अथवा प्रगति
16.8 अंकटाड की अब तक सफलताएँ एवं उपलब्धियाँ
16.9 अंकटाड की असफलताएँ
16.10 अंकटाड की भावी सफलता के लिए सुझाव
16.11 सारांश
16.12 शब्दावली
16.13 स्वपरख प्रश्न
16.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित है -

- अंकटाड की आवश्यकता एवं सिद्धान्त की जानकारी प्रदान करना।
- अंकटाड के संगठन की जानकारी प्रदान करना।
- अंकटाड के कार्यो की जानकारी प्रदान करवाना।
- अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों में विश्व-व्यापार से सम्बन्धित विचार-विमर्श, समस्याओं तथा निर्णयों से अवगत करवाना।
- अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों की उपलब्धियाँ, सफलताओं, विफलताओं तथा सुझावों की स्थिति से अवगत करवाना।

16.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्जरित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निमाण तथा आर्थिक विकास को गति देने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) विश्व बैंक (World Bank) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisation) आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की गई। उस दौरान विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करने के लिए इन प्रतिबन्धों को हटाना

आवश्यक था। संरक्षात्मक व्यापारिक शुल्क, विनिमय नियन्त्रण, आयातों की सीमित मात्रा आदि प्रतिबन्धों को हटाने के उद्देश्य से 30 अक्टूबर 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं प्रशुल्क विषयक सामान्य समझौता (General Agreement on Tariff and Trade) की स्थापना की गई। इसे गैट **(GATT)** के नाम से जाना गया। इस समझौते पर 23 प्रमुख व्यापारिक राष्ट्रों के हस्ताक्षर थे। इस समझौते के लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बिना किसी रोक टोक के बढ़ावा देना था। किन्तु विकासशील राष्ट्र गैट की ढीली-ढाली व्यवस्था और सीमित अधिकारों के कारण पूर्णतया असन्तुष्ट थे। इसके सिद्धान्त, वैधानिक व्यवस्था तथा क्रियान्वयन के कारगर न होने से गेट की सफलता सीमित रही, परिणाम स्वरूप विकासशील राष्ट्रों के व्यापार में न तो सकारात्मक वृद्धि हो पाई और न ही आर्थिक दशा में कोई विशेष सुधार हो पाया। 1964 में विश्व के कुल निर्यातों में विकासशील देशों का हिस्सा 1948 की तुलना में 8.2% कम हो गया। अत: 1961 में विकसित देशों व विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि तथा कठिनाइयों को दूर करने की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1961 के अधिवेशन में 1964 में अंकटाड के आयोजन का निर्णय लिया। अत: 1964 में जिनेवा में प्रथम **संयुक्त राष्ट्र संघ का व्यापार एवं विकास सम्मेलन (अंकटाड) या (UNCTAD-United Nations Conference on Trade and Development)** का आयोजन किया गया। इसमें संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राष्ट्रों में से लगभग 120 राष्ट्रों ने भाग लिया। महासभा ने अपने प्रस्ताव क्रमांक 1955 (XIX) द्वारा अंकटाड को अपना अंग बना लिया।

16.2 इतिहास एवं विकास

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात विश्व के अधिकांश देशों ने अपने विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध व संरक्षण का निर्णय लिया, परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जर्जर अवस्था में पहुँचने लगा। सभी राष्ट्र अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूर्ण करने का प्रयास करने लगे, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वयं पर निर्भरता एक कठिन प्रयास था। विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध, विनिमय नियन्त्रण, आयातों की निर्धारित मात्रा, संरक्षणात्मक आयातों की निर्धारित मात्रा आदि कुछ ऐसे प्रतिबन्ध थे जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक थे, अत: इन प्रतिबन्धों को हटाना आवश्यक था। प्रतिबन्धों का विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। विकासशील राष्ट्रों के विदेशी व्यापार में अत्यधिक गिरावट आई तथा आर्थिक विकास का मार्ग अवरूद्ध हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अर्थव्यवस्था को पुन: गति देने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों को कम करने तथा आर्थिक सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.), विश्व बैंक (World Bank), संयुक्ता राष्ट्र (United Nations) आदि महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना का निर्णय लिया गया। इसके अतिरिक्त 30 अक्टूबर, 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली बाधाओं को समाप्त करने की दृष्टि से प्रशुल्क एवं व्यापार पर सामान्य समझौते (GATT) पर हस्ताक्षर किये गये। इस समझौते का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध आर्थिक साधनों का समुचित उपयोग के लिए पूर्व में लगे व्यापारिक प्रतिबन्धों को बिना विवाद के कम करने या समाप्त करने सम्बन्धी प्रावधान किये गये। फिर भी विकासशील देशों के व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। गैट की इस व्यवस्था से क्किासशील राष्ट्र पूर्णतय:

असन्तुष्ट थे। "गैट" ने विकासशील राष्ट्रों की महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार-विमर्श नहीं किया तथा विकसित राष्ट्रों के तटकर सम्बन्धी हितों की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया। अत: विकसित तथा विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक असमानता की खाई बढ़ती गई और विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति में किसी प्रकार का सुधार नहीं आया।

अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विकसित देशों का भाग तो बढ़ने लगा किन्तु विकासशील देशों के भाग में निरन्तर कमी का अवलोकन किया गया। 1948 में विश्व के कुल निर्यात में विकासशील देशों का भाग 30.2% रहा जो 1964 में कम होकर 22% रह गया। यह अंश 1971 में केवल 17% रह गया। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की निरन्तर स्थापना ओर महत्वपूर्ण प्रावधानों के पश्चात, ऐसा होना चिन्ता का विषय था।

ऐसा होने का मुख्य कारण विकासशील देशों के सामने निम्न कठिनाइयों का पाया जाना है -

1. पूंजी का अभाव।
2. विदेशी व्यापार में प्रतिस्पर्द्धा का पाया जाना।
3. परिवहन एवं संचार साधनों का अभाव।
4. निर्यात व्यापार में वित्त एवं बीमा संस्थाओं का अभाव।

इन कठिनाइयों को हल करने की दृष्टि से "अंकटाड" जैसे संस्था की स्थापना की आवश्यकता महसूस हुई। अत: अंकटाड की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 1961-70 के दशक को विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। सम्मेलन में निश्चय किया गया की प्रत्येक विकासशील देश की विकास दर में कम से कम 5% की वृद्धि हो। इस लक्ष्य को पाने के लिए कृषि उत्पादन में कम से कम 4.5% तथा औद्योगिक उत्पादन में 13% से अधिक की वृद्धि आवश्यक थी। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए 1964 में जिनेवा में अंकटाड-संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD-I) आयोजित किया गया। संयुक्त राष्ट्र महासभा के सम्मेलन में अपने प्रस्ताव क्रमांक 1955 (XIX) द्वारा अंकटाड को अपना अंग बना दिया है।

16.3 अंकटाड के कार्य एवं क्षेत्र

अंकटाड की स्थापना के पीछे प्रमुख कारण विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था को पुन: गति प्रदान करना था। अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों में विभिन्न देशों की समस्याओं पर विचार विमर्श कर,समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया गया। विभिन्न राष्ट्रों विशेषकर विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं का समाधान कर विकास दर को बढ़ाना अंकटाड का प्रमुख कार्य है। इसे अपने निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निम्न कार्य सम्पन्न करने होते हैं -

(1) विश्व के समस्त देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना अंकटाड का प्रमुख कार्य है। इस दृष्टि से विकसित गया विकासशील देशों के मध्य व्यापारिक प्रोत्साहन के लिए अंकटाड विभिन्न योजनाएँ बनाने तथा नीतियों के निर्धारण का कार्य करता है।

(2) अंकटाड विभिन्न विचार धारा वाले देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर तथा व्यापार को बढ़ावा देने के लिए नीतियाँ निर्धारित करता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में समन्वय स्थापित करने तथा विकासशील राष्ट्रों के हितों के अनुरूप नीतियों का क्रियान्वयन करना भी अंकटाड का प्रमुख कार्य है।

(4) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आर्थिक विकास के लिए अनेक संस्थाएँ स्थापित की हुई हैं, उनके कार्य-कलापों को ध्यान में रखकर उनमें समन्वय स्थापित करना भी अंकटाड का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(5) अंकटाड का एक प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि के लिए बहुपक्षीय एवं द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों को प्रोत्साहन देना है।

16.4 अंकटाड के उद्देश्य एवं आवश्यकता

अंकटाड की स्थापना निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की गई है -

(1) पारस्परिक आर्थिक सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करना।

(2) विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास की समस्याओं को दूर कर विकास की गति को प्रोत्साहन देना।

(3) विकसित तथा विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों को समायोजित कर व्यापार के
मार्ग प्रशस्त करना तथा विकास दर को बढ़ाना।

(4) विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अंकटाड विभिन्न सदस्य राष्ट्रों से विचार-विमर्श कर स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित बाधाओं को समाप्त करने के लिए प्रयासरत रहना।

(5) विभिन्न राष्ट्रों के लिए सिद्धान्तों को लाग करने के लिए नैतिक दबाव डालना तथा आपसी समझ के आधार पर सहमति बनाने का प्रयास करना भी अंकटाड का उद्देश्य है।

16.5 अंकटाड के स्वीकृत सिद्धान्त

सिद्धान्तों के निर्धारण के अभाव में उद्देश्यों को प्राप्त करना कठिन होता है। अंकटाड का कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होने के कारण अंकटाड की कार्य समिति द्वारा यथासमय उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न नीतियों के सन्दर्भ में 15 सामान्य तथा 13 विशेष सिद्धान्त स्वीकृत किये गये हैं। दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख निम्न प्रकार है -

(अ) अंकटाड के 15 सामान्य सिद्धान्त (15 General Principles):

ये सिद्धान्त निम्नलिखित है

(1) **समानता का सिद्धान्त:** सभी देशों के बीच व्यापारिक एवं आर्थिक सम्बन्ध समानता के सिद्धान्त पर आधारित होंगे और कोई भी देश एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(2) **भेदभाव निराकरण सिद्धान्त:** सामाजिक एवं आर्थिक पद्धतियों के आधार पर बिना किसी भेदभाव के अनुकूल व्यापार पद्धति अपनाना।

(3) **प्राकृतिक साधनों के विदोहन में स्वतंत्रता:** प्रत्येक देश अपने प्राकृतिक साधनों के विदोहन में पूरी तरह स्वतंत्र होगा।

(4) विकासशील राष्ट्रों के त्वरित विकास के लिए उपयुक्त नीतियों की अनुपालना करना।

(5) **विकासोन्मुख श्रम विभाजन:** अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन इस प्रकार किया जाये ताकि विकासशील देशों की उन्नति शीघ्रता से हो सके।

(6) **विकासशील देशों के निर्यातों को बढ़ाने** के लिए प्रयास किये जायें।

(7) विकासशील राष्ट्रों के निर्यात बाजारों को घटाने वाले **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवरोधों को हटाना अथवा कम करना।**

(8) विकसित राष्ट्र बिना किसी प्रतिफल की आशा के **विकासशील राष्ट्रों को सभी प्रकार (तटकर व गैर-तटकर) की रियायतें प्रदान करें।**

(9) **विकसित राष्ट्रों द्वारा गठित क्षेत्रीय आर्थिक संघों को ऐसे प्रयत्न** करने चाहिये जिससे विकासशील देशों के व्यापार व विकास पर बुरा प्रभाव न पड़े।

(10) **विकासशील राष्ट्र परस्पर मिलकर अपने आर्थिक संघों का निर्माण** कर उन्हें बढ़ावा दें तथा आपसी व्यापार में वृद्धि के लिए प्रयत्न करें।

(11) **विकसित राष्ट्रों तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं को बिना किसी शर्त के विशाल पैमाने पर वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्रदान** करने के लिए आगे आना चाहिए।

(12) **अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निःशस्त्रीकरण को प्रोत्साहन** देना तथा उससे बचने वाली राशि का उपयोग विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए करना चाहिये।

(13) **थल से घिरे (समुद्री सीमा रहित)** देशों को पड़ोसी देशों द्वारा यातायात सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

(14) **उपनिवेशीय देशों को यथाशीघ्र स्वतन्त्र** कर उनके आर्थिक विकास में सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

(15) विकासशील देशों के आर्थिक विकास हेतु अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों एवं उपायों को अपनाया जाना चाहिये।

(ब) अंकटाड के विशेष सिद्धान्त (Special Principles of UNCTAD):

15 सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त अंकटाड की कार्य समिति ने 13 विशेष सिद्धान्त भी स्वीकृत किये हैं जो अंकटाड के मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक होते हैं। ये निम्नांकित हैं:

(1) **विकसित देशों द्वारा विकासशील राष्ट्रों के व्यापार-प्रसार योजनाओं के निर्माण** अथवा व्यापार वृद्धि के लक्ष्य निर्धारण ओर उनके मूल्यांकन में सहयोग करना चाहिये।

(2) **विकसित राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों की निर्मित वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन** देना चाहिये।

(3) विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों को तकनीकी **एवं प्रशिक्षण-सुविधाएँ** प्रदान करें।

(4) **विकासशील देश अपने शैशवास्था वाले उद्योग को संरक्षण** प्रदान कर सकते हैं।

(5) विकसित राष्ट्रों को विकासशील **राष्ट्रों के उद्योगों में विवेकीकरण एवं शोध कार्यो में सहायता व सहयोग** करना चाहिये।

(6) किसी भी देश द्वारा **राशिपातन की नीति** नहीं अपनायी जानी चाहिये।

(7) विकसित देश **वैज्ञानिक व प्राविधिक उपलब्धियों** को द्वि-पक्षीय एवं बहुपक्षीय आधार पर विकासशील राष्ट्रों को सुलभ करवायें।

(8) **विकासशील राष्ट्रों को व्यापार विकास** हेतु आर्थिक सहायता उपलब्ध करायी जानी चाहिये।

(9) **विकासशील देशों को सुलभ ऋण प्रदान** करने तथा स्वदेशी मुद्रा में पुनर्भुगतान की सुविधा बढ़ानी चाहिये।

(10) विकासशील देशों के आर्थिक विकास हेतु उनकी जहाजरानी तथा अन्य परिवहन साधनों के विकास **कार्यक्रमों में सभी देशों को सहयोग करना चाहिये।**

(11) विकासशील देशों द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित करने के प्रयासों में विकसित राष्ट्रों को सहयोग करना चाहिये।

(12) विकासशील देशों में पर्यटन उद्योग के वि**कास में विकसित राष्ट्रों को मदद करनी चाहिये।**

(13) विकासशील देशों के लिए **बहुपक्षीय सहायता विस्तार कार्यक्रमों** में सभी देशों द्वारा सहयोग किया जाना चाहिये।

16.6 अंकटाड का संगठन

अंकटाड की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा के स्थायी संगठन के रूप में की गई है, अत: संयुका राष्ट्र के सभी सदस्य स्वत: ही इसके सदस्य हैं। इस समय अंकटाड के 168 सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य को मत देने का अधिकार हैं। सामान्य निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं किन्तु महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए दो-तिहाई बहुमत आवश्यक है।

(1) **अंकटाड सचिवालय (UNCTD Secretariat) -** अंकटाड का स्वयं का सचिवालय (Secretariat) है, जिसके कार्यों का संचालन महा सचिव की देख-रेख में किया जाता है। सचिवालय द्वारा समय-समय पर महासभाओं का आयोजन व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित आवश्यक प्रलेख तैयार कर सदस्य राष्ट्रों को भेजे जाते है। अंकटाड की साधारण सभा का अधिवेशन तीन वर्ष में कम से कम एक बार होता है।

अंकटाड का संगठन निम्न प्रकार है।

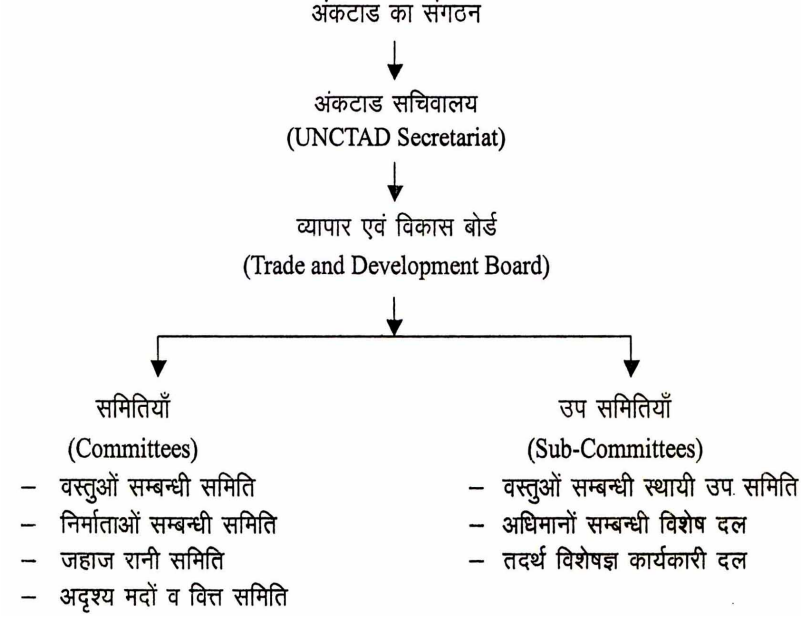

(2) **अंकटाड का व्यापार और विकास बोर्ड** (Trade and Development Board) व्यापार और विकास बोर्ड अंकटाड का प्रमुख स्थायी अंग है। यह बोर्ड अंकटाड से सम्बन्धित समस्त कार्यों को करने के लिए उत्तरदायी है। इसमें 55 सदस्य होते हैं, जिनका चयन सम्मेलन द्वारा भौगोलिक आधार पर किया जाता है। सदस्यों का कार्यकाल 4 वर्ष का होता है। बोर्ड द्वारा वर्ष में दो सभाएँ बुलाई जाती है। बोर्ड के कार्यों को यथासमय सुचारू रूप से संचालित करने के लिए समितियों और उप समितियों का गठन किया गया है। ये समितियाँ अपने कार्य का सम्पादन करती है।

(3) **समितियाँ** (Committees) अंकटाड के कार्यों को यथा समय सुचारू रूप से संचालन हेतु व्यापार एवं विकास बोर्ड के अधीन चार समितियों का गठन किया गया है। ये अपने अपने क्षेत्र में व्यापार तथा विकास में आने वाली बाधाओं का विश्लेषण कर तथा समय-समय पर प्रपत्र तैयार कर सूचनाएँ देती हैं।

(4) **उप समितियाँ** (Sub- Committees) व्यापार और विकास बोर्ड अंकटाड की महत्त्वपूर्ण शाखा है। कार्यो का क्षेत्र व्यापक होने के कारण कार्यों में सहयोग हेतु 3 उप समितियाँ भी गठित की गई है। ये उपसमितियाँ अपने क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यो के लिए उत्तरदायी है।

16.7 विभिन्न अंकटाड की उपलब्धियां अथवा प्रगति

अंकटाड प्रथम (UNCTAD-I):

संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विवास संघ का प्रथम 66 दिवसीय सम्मेलन 23 मार्च 1964 से 16 जून 1964 तक जिनेवा में सम्पन्न हुआ। इस प्रथम सम्मेलन में 122 देशों के लगभग 1500 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में विश्व के व्यापार एवं विकास समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रों में परस्पर सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। सम्मेलन में निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया -

(i) विकासशील राष्ट्रों को विकसित राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा में टिकने देने के लिए सहायता तथा द्विपक्षीय या बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते करना।

(ii) समाजवादी देशों के साथ व्यापार बढ़ाना।

(iii) क्षेत्रिय संगठनों के माध्यम से आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन।

(iv) अर्द्ध विकसित देशों के कच्चे माल के लिए नये बाजारों की खोज।

(v) विकासशील राष्ट्रों को बीमा, जहाजरानी-भाड़ा तथा अन्य व्ययों में रियायत।

(vi) विकासशील तथा अल्प-विकसित राष्ट्रों के निर्मित अथवा अर्द्धनिर्मित माल के आयातों पर लगे व्यापारिक प्रतिबन्धों को कम करना अथवा हटाना।

प्रथम अंकटाड ने विकसित देशों को आर्थिक सहयोग देने के लिए प्रेरित किया एवं विकासशील देशों के व्यापार में प्रगति के लिए निम्न महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये -

1. **योजनाबद्ध निर्यात -** विकासशील देशों को अपने द्वारा निर्यात किये जाने वाले निर्मित तथा अर्द्ध-निर्मित माल के उत्पादन को बढ़ाने के लिए उन्हें अपनी नियमित योजनाओं का आधारभूत अंग बनाना चाहिए।

2. **द्विपक्षीय समझौते-**समाजवादी देशों के साथ द्विपक्षीय समझौतों के आधार पर उपयोगी माल के आयात-निर्यात को प्रोत्साहन देना चाहिये।
3. **विकसित देशों में उदार प्रशुल्क नीति का अनुसरण -** विकासशील देशों के आयातों को प्रोत्साहन देने व उनकी शक्ति बढ़ाने के लिए आयात करों मे समुचित संशोधन करना चाहिए।
4. **पारस्परिक आयात-निर्यात को प्रोत्साहन-**विकासशील देशों को अपने द्वारा निर्मित तथा अर्द्ध-निर्मित माल के आयात-निर्यात को आपस में ही प्रोत्साहन देना चाहिए।
5. **विकसित देशों द्वारा आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग-**विकासशील देशों के निर्यातों की लागत कम करने, किस्म सुधारने, तकनीकी या विशेषज्ञ सहायता देने के लिए विकसित देशों द्वारा आर्थिक सहयोग देना चाहिए।

अंकटाड-प्रथम की सफलताओं का मूल्यांकन -

प्रथम "अंकटाड" के कारण विकसित राष्ट्रों में विकासशील देशों को उनके आर्थिक विकास व व्यापार वृद्धि के लिए आर्थिक सहयोग की भावना प्रबल हुई है, क्योंकि उन्हें निम्न रूपों में लाभ मिला है-

(i) **सामूहिक विचार-विमर्श का रंगमंच -** अंकटाड एक ऐसा कार्यक्रम है, जहाँ विश्व के प्रमुख विकसित तथा विकासशील देशों को अपनी व्यापार व आर्थिक विकास सम्बन्धी समस्याओं पर सामूहिक विचार-विमर्श व समस्याओं के समाधान के लिए व्यावहारिक नीतियों का प्रादुर्भाव होता है।

(ii) **आर्थिक सहयोग को बढ़ावा -** विकासशील राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग, निर्यात सम्बर्द्धन के अतिरिक्त अनेक रियायतों का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

(iii) **आयातों में रियायत -** अनेक विकसित देशों ने न केवल अपने आयात करों में कमी या छूट दी है वरन् अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग एक प्रतिशत विकासशील देशों को आर्थिक सहायता के रूप में देने का वचन पूरा किया है।

फिर भी इसकी सफलता आशिक ही कही जानी चाहिए क्योंकि विकसित देशों ने शाब्दिक सहानुभूति व नैतिक सहयोग तो बहुत दिखाया पर वचनों को निभाने में असफलता रही है। तकनीकी व शोध कार्य आदि में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अंकटाड की सिफारिशों पर अमल बहुत कम व बहुत धीमी गति के कारण सफलता नगण्य ही रही है। इतना सबकुछ होते हुए भी कहा जा सकता है कि विकासशील राष्ट्रों में विकास की इच्छा जागी है तथा विश्व के सभी राष्ट्रों में सम्पन्नता व गरीबी की गहरी खाई को पाटने की प्रवृत्ति प्रबल हुई।

अंकटाड-द्वितीय (UNCTAD-II):

"अंकटाड" का दूसरा सम्मेलन 2 फरवरी, 1968 से 29 मार्च, 1968 तक भारत की राजधानी नई दिल्ली में हुआ इसमें 77 विकासशील देशों ने अपने अल्लीयर्स में पारित होने वाले सर्वसम्मत प्रस्तावों, विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के माल को प्राथमिकता के आधार पर खरीदने तथा उसे आयात करों से मुक्त करने पर जोर दिया। किन्तु व्यावहारिक रूप में लागू करने के लिए कोई ठोस नीति निर्धारित नहीं की।

अंकटाड - II में परस्पर विचार-विमर्श के प्रमुख मुद्दे निम्न थे -

1. विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनी राष्ट्रीय आय का कम से कम एक प्रतिशत विकासशील देशों को आर्थिक सहायता के रूप में देना।
2. विकासशील देशों को आर्थिक सहयोग की शर्तों को और अधिक उदार बनाना।
3. विकासशील देशों पर ऋण भार कम करने के उपाय सुझाना तथा आवश्यक कदम उठाना।
4. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के साधनों में वृद्धि करना।
5. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की क्रियाओं का विस्तार व क्रियाओं में तेजी लाना।

अंकटाड - द्वितीय का नई दिल्ली में होने वाला सम्मेलन 58 दिन चला। इस सम्मेलन की प्रमुख सफलताएँ इस प्रकार थीं-

1. **आर्थिक सहायता -** सभी विकसित देशों ने पुन: उस संकल्प को दोहराया जिसके अन्तर्गत उन्होंने अपनी राष्ट्रीय आय का कम से कम एक प्रतिशत विकासशील देशों को आर्थिक सहायता के रूप में देने का आश्वासन पहले भी दिया था।
2. **उदार ऋण-** समर्थ राष्ट्रों ने विकासशील राष्ट्रों के ऋण भार की समस्या का समाधान करने के लिए उन्हें कम व्याज पर अधिक ऋण लम्बी अवधि के लिए प्रदान करने व उदार ऋणों का आश्वासन दिया, किन्तु कोई ठोस नीति निश्चित नहीं की गई।
3. **विकासशील देशों के निर्यातों को प्रोत्साहन -** इसे सिद्धान्त रूप से तो मान लिया पर विकासशील देशों के आयातों पर लगने वाले आयात करों में कमी या समाप्ति पर सहमति न हो सकी। समाजवादी देशों में निर्यातों की अभिवृद्धि पर जोर दिया गया।
4. **अदृश्य व्यापार में वृद्धि के लिए -** विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों में पर्यटन को बढ़ावा, जहाजों की उदार शर्तों पर बिक्री, बीमा व जहाजी भाड़े में रियायतें तथा विकासशील देशों में ही जहाजरानी क्षमता के विकास के लिए तकनीकी एवं वित्तीय सहायता प्रदान करने को सिद्धान्तत: गान लिया गया।

इन सफलताओं के बावजूद भी "अंकटाड-द्वितीय" की उपलब्धियाँ आशानुकूल नहीं रही। विकसित देशों ने विकासशील देशों के प्रति शाब्दिक सहानुभूति ही अधिक दिखाई, वास्तविक आर्थिक सहायता नगण्य रही। विकासशील राष्ट्रों को अनुभुति होने लगी कि आर्थिक विकास के लिए विकसित राष्ट्रों पर अत्यधिक आश्रितता व्यर्थ: है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि "अंकटाड-द्वितीय" में विकसित राष्ट्रों के कड़े रूख से विकासशील राष्ट्रों में आत्मनिर्भरता की चेतना जागत हुई और उन्हें आभास हुआ कि आर्थिक विकास के लिए विकसित राष्ट्रों पर अत्यधिक आश्रितता खतरे से खाली नहीं है।

अंकटाड-तृतीय (UNCTAD-III)

अंकटाड का तीसरा सम्मेलन 13 अप्रेल से 20 मई, 1972 तक चीली की राजधानी सेन्टिआगो में सम्पन्न हुआ। जिसमें लगभग 96 विकासशील राष्ट्रों के प्रतिनिधियों व लगभग 44 विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास-दशक (1971-80) के उद्देश्य को मूर्त रूप देने के लिए व्यावहारिक उपायों पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ।

यह सम्मेलन बहुत विषम परिस्थिति में बुलाया गया था, क्योंकि:

(i) डॉलर के पतन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिति डांवांडोल हो चुकी थी;

(ii) विश्व के प्रमुख देशों की मुद्राओं की दरों में अनिश्चित परिवर्तन हो रहे थे; तथा

(iii) विकसित देशों की आर्थिक स्थिति में अस्थायित्व आ रहा था।

विचार-विमर्श की समस्याएँ: सम्मेलन में जिन प्रस्तावों पर विचार-विमर्श हुआ वे निम्नलिखित समस्याओं से सम्बन्धित थे:

(i) विशेष आहरण अधिकारों तथा विकास वित्त में सामंजस्य स्थापित करना।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक नीति निर्माण में विकासशील देशों का अधिकाधिक योगदान प्राप्त करना।

(iii) प्राथमिक वस्तुओं यथा अन्त, कपास, तेल आदि के लिए मूल्य तथा उनके लिए बाजार खोजना।

(iv) अल्प-विकसित देशों के शीघ्र विकास के तरीके ढूंढना।

(v) जहाजरानी तथा पर्यटन आदि से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय संहिता का निर्माण करना।

(vi) विकासशील देशों के माल पर तटकरों में छूट प्राप्त करना।

(vii) विकसित देशों द्वारा विकासोन्मुख देशों की आर्थिक सहायता सम्बन्धी नीति निर्धारित करना।

इस सम्मेलन में विकसित तथा विकासशील देशों में तीव्र मतभेद रहा। विकसित देशों ने तटकरों में छूट देने में असमर्थता प्रकट की। आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सका कि विकसित देश अपनी राष्ट्रीय आय का 1 प्रतिशत भाग कब से विकासशील देशों को दे सकेंगे। इस प्रकार यह सम्मेलन विकासशील देशों के लिए कोई भी विशेष सुविधा प्राप्त करने में पूर्णतया असफल रहा।

अंकटाड की उपलब्धियों का मूल्यांकन

1. **एकता:** 96 विकासशील देशों में इस भावना ने बल पकड़ा है कि जब तक उनमें एकता की भावना पैदा नहीं होगी तब तक वे अपना विकास करने में सफल न हो पाएँगे। अत: अविकसित देशों ने एक-दूसरे को आर्थिक सहायता देने, क्षेत्रीय एकता लाने का निश्चय किया है।
2. **आयात प्रतिबन्धों के हटाने में सहायक:** विकसित देश विकासशील देशों के माल पर लगे प्रतिबन्धों को स्वत: ही हटा रहे हैं। वे यह समझने लगे हैं कि विकासशील देशों के अगर निर्यात कम होंगे तो वे विकसित राष्ट्रों से कम मात्रा में ही आयात कर पीते। इस प्रकार इनके हितों को भी आघात पहुँचेगा।
3. **समाजवादी देशों के साथ व्यापारिक सम्बंधों में वृद्धि:** विकासशील देशों ने समाजवादी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयास किया। बदले में समाजवादी देशों ने विकासशील देशों को हर प्रकार का सहयोग देने का वचन दिया।
4. **आर्थिक सहायता:** विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनी राष्ट्रीय आय का कम से कम 1 प्रतिशत भाग विकासशील राष्ट्रों को आर्थिक सहायता के रूप में देने का वचन नहीं निभाया गया।
5. **जहाजी परिवहन सम्बन्धी उपलब्धियाँ:** अंकटाड विकासशील देशों को विकसित देशों से जलयान खरीदने सम्बन्धी ऋण दिलाने, माल भाड़े में छूट दिलाने आदि की दिशा में प्रयत्नशील है।

6. **निराशाजनक फल:** अंकटाड के तीनों सम्मेलनों की प्रगति देखने से बड़ी भारी निराशा होती है। अविकसित देशों की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा मौद्रिक मामलों में नगण्य है। इनके निर्यात विश्व निर्यात के केवल 18 प्रतिशत हैं। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कुल मतो का 33 प्रतिशत से भी कम मताधिकार प्राप्त है।

सम्मेलन को अधिक प्रभावशाली बनाने के सुझाव

1. **क्षेत्रीय व्यापार संघों की स्थापना:** अविकसित देश अपने निर्यातों का मुश्किल से 2० प्रतिशत भाग ही विकसित राष्ट्रों को निर्यात कर पाते हैं। अत: इन्हें विकसित देशों के सहयोग की अपेक्षा न करके क्षेत्रीय व्यापार संघों की स्थापना करनी चाहिए तथा आपस में निर्यात को बढ़ाना चाहिए।
2. **विकसित देशों द्वारा उदारतापूर्वक सहायता:** विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष मेकनमारा ने विकसित देशों को सलाह दी है कि वे विकासशील देशों को उदारतापूर्वक सहायता दें। ऐसा करना उन्हीं के हित में होगा क्योंकि विकासशील देशों की समृद्धि में वृद्धि होने पर वे विकसित राष्ट्रों से अधिक मात्रा में क्रय कर सकेंगे।
3. **कार्यप्रणाली तन्त्र को अधिक सक्रिय करना:** अंकटाड सम्मेलनों में लिए नए निर्णयों को कार्यान्वित कराने की दृष्टि से अंकटाड के कार्यप्रणाली तंत्र को अधिक सक्रिय करने की आवश्यकता है।
4. **आपसी मतैक्य:** विकासशील देशों को परस्पर संगठित होकर आर्थिक विकास के लिए प्रयास करने चाहिए। विकासशील देशों द्वारा संगठित होकर विकसित देशों पर दबाव डाला जाए।

अत: यह कहा जा सकता है कि तृतीय अंकटाड, एक असफलता की सीढी ही चढ़ पाया।

अंकटाड - चतुर्थ (UNCTAD-IV)

अंकटाड का चतुर्थ सम्मेलन 5 मई, 1976 से 28 मई 1976 तक नैरोबी में सम्पन्न हुआ।

विचारणीय मामले:

1. विकासशील देशों के निर्मित और अर्द्धनिर्मित माल का निर्यात बढ़ाना;
2. व्यापारिक-शर्तों को अनुकूल बनाने पर बल देते हुए ठोस कार्यवाही;
3. निर्यातों में वृद्धि के लिए, विकासशील राष्ट्रों हेतु, विकसित राष्ट्रों द्वारा "मूल्य-स्थिरीकरण कोष" की स्थापना करना;
4. परस्पर तकनीकी हस्तान्तरण के लिए पूर्व में बनाई गई आचार-संहिता को वैधानिक स्वरूप प्रदान करना;
5. अत्यधिक पिछड़े राष्ट्रों के ऋणों को अनुदान मानते हुए समाप्त करना; तथा
6. "व्यापार एवं विकास मण्डल के अधीन "विकासशील देशों में आर्थिक सहयोग समिति'(Committee on Economic Co-operation among Development Countries) का गठन करके, वैचारिकता को व्यावहारिकता में परिवर्तित करना।

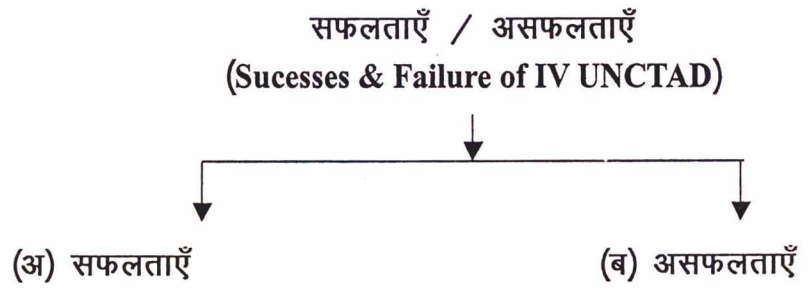

1. जिन्स से सम्बन्धित समन्वित (Related to The Committees) कार्यक्रम पर सहमति (18 प्रकार की वस्तुओं के बारे में);
2. विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के मध्य गठित किये जाने वाले साझा कोषा पर सहमति;
3. विकासशील राष्ट्रों के ऋणों के भार में कमी के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किये गये ताकि बाध्यता प्रकट हो सके;
4. तकनीक के हस्तान्तरण के लिए बनाई गई संहिता के और वैज्ञानिक आधार प्रदान किया गया; तथा
5. विकासशील देशों में तैयार किये गये अर्द्ध-निर्मित तथा निर्मित माल के निर्यात के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने की विधि निश्चित की गई थी।

1. विकसित राष्ट्र ऋणभार पर ली जाने वाली ब्याज को कम करने पर सहमति नहीं बना पाए;
2. साझा-कोषों की स्थापना के बारे में भी विकसित राष्ट्रों में परस्पर सहमति पर राजनीति खेली गई जिसमें उस पर कोई प्रगति नहीं हो पायी; तथा
3. तकनीकी प्रत्यावर्तन (हस्तान्तरण) की आचार-संहिता को वैधानिक मान्यता नहीं मिल पाई।

अंकटाड - पंचम (UNCTAD-V)

अंकटाड पंचम (7 मई, 1979 से 3 जून, 1979 तक) - यह अंकटाड निराशाजनक-समाप्ति" के रूप में जाना जाता है जिसमें विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों ने परस्पर दोषारोपण लगाते हुए असहयोग की स्थिति को ही जन्म दिया था। मूलत: यह सम्मेलन विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन की असफलता के सम्भवत: दो कारण रहे-

(i) विकसित राष्ट्र स्वयं ही आर्थिक शिथिलता, बेरोजगारी तथा मुद्रा-स्फीति से जूझने लगे थे तो वे विकासशील राष्ट्रों की सहायता कैसे कर पाते?

(ii) दूसरी ओर, विकासशील देशों के सामने विदेशी-विनिमय संकट, मुद्रास्फीति और तेल संकट का सामना करने जैसी समस्याएँ आ रही थी, जिनका शीघ्र निराकरण करना संभव नहीं था।

विचाराधीन मामले

(अ) विकसित राष्ट्रों में बढ़ते हुए संरक्षणवाद पर नियन्त्रण करना तथा विश्व अर्थ-व्यवस्था को नये रूप में ढालने का प्रयत्न करना;

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार करते हुए विकासशील राष्ट्रों के ऋण दायित्वों के भार में कमी करना;

(स) तकनीकी हस्तान्तरण हेतु बनाई गई नवीनतम आचार संहिता को वैधानिक स्वरूप प्रदान करना ताकि आत्म-निर्भरता को जन्म मिल सके, तथा

(द) विकासशील राष्ट्रों को विदेशी सरकारी सहायता में वृद्धि करते हुए सुविधाओं को विस्तृत बनाना एवं सामुद्रिक व्यापार की भूमिका को बढ़ावा देना आदि।

उपलब्धियाँ

इस सम्मेलन में लगातार 25 दिन तक विचार-विमर्श के बाद विकसित राष्ट्रों ने "समूह-77" के 119 सदस्यों के नैतिक दबाव के सामने झुकते हुए कुछ मदों पर अपनी सहमति व्यक्त की जो निम्न प्रकार से आशिक सफलता के रूप में अंकित मानी जा सकती हैं -

(i) उत्पादन एवं व्यापार की वार्षिक अध्ययन योजना की अपील पर सहमति प्रदान की गई जिससे कि मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण रखा जा सके

(ii) ऐसे 31 देशों को, जो कि सबसे कम विकास की श्रेणी में आते थे, उन्हें तीव्र विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत चुनते हुए 0.7% तक राष्ट्रीय आय (विकसित देशों की) का भाग प्रदान करने पर सहमति हुई

(iii) व्यापार एवं उत्पादन के स्वरूप की वार्षिक जाँच एवं संरक्षणवाद पर रोक लगाने पर सर्व-सम्मति से प्रस्ताव पास किया गया; तथा

(iv) बाहा बहाव (Brain Drain) कार्य-कुशलता तथा तकनीकी का विपरीत हस्तान्तरण, पेटेन्ट्स के सुधरे उपयोग एवं समुद्रतल साधनों के उपयोग पर संयुक्त राष्ट्र द्वारा विशेष अध्ययन पर बल दिया गया।

दूसरी ओर, अंकटाड पंचम की असफलताओं में यह बात स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है कि-

(i) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-व्यवस्था में सुधार करने की विकासशील राष्ट्रों की माँग को ठुकरा दिया गया,

(ii) विकसित राष्ट्र संरक्षणवाद पर प्रभावी नियन्त्रण रखने के लिए सहमत नहीं हुए,

(iii) ऋणों के भार से राहत के लिए ऋण आयोग की स्थापना का प्रश्न अभी को लटका दिया गया। टेक्नोलोजी प्रत्यावर्तन की वैधानिक मान्य आचार-संहिता अधर में झूली रही और विकसित देश विकासशील देशों के प्रति अपने रूख में उदारता लाने में असमर्थ रहे।

निष्कर्ष यह है कि अंकटाड-5 की विफलताओं ने भावी सफलताओं के लिए आधार तैयार किया और विकासशील देशों को परस्पर आर्थिक सहयोग की प्रेरणा मिली। तृतीय विश्व के देशों ले विकसित देशों के स्वार्थपूर्ण कठोर रवैये के विरूद्ध मोर्चा बनाने का बल मिला। अत: तत्काल कोई अच्छे परिणामो के अभाव में भी निराश नहीं होनी चाहिए।

अंकटाड - छठा (UNCTAD-VI)

अंकटाड का छठा सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में 6 जून को प्रारम्भ हुआ तथा 3 जुलाई, 1983 को कुछ आशिक सफलता के साथ समाप्त हो गया। इस सम्मेलन में विकसित एवं

विकासशील 167 देशों के लगभग 3000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। जहाँ एक ओर ग्रुप-77 के विकासशील देशों ने विकसित देशों से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि, संरक्षणात्मक प्रतिबंधों पर रोक एवं नियन्त्रण, व्यापार वृद्धि के लिए उदार व्यापार शर्तों एवं सुविधाओं के विस्तार, अधिक वित्तीय सहायता तथा अधिक आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग की आशा की थी वहाँ विकसित देशों ने इस समस्याओं के प्रति कठोर एवं स्वार्थपूर्ण रूख अपनाकर सम्मेलन के निराशा के कगार पर ला खड़ा किया। ऐसी विषम स्थिति में कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों से उसकी आशिक सफलता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

छठे अंकटाड के विचारणीय प्रमुख मुद्दे व समस्यायें

छठे अंकटाड में कोई नया मुद्दा न उठाकर प्रायः उन्हीं मुद्दों एवं समस्यओं के प्रति समर्थन दोहराया गया जिन पर अंकटाड सम्मेलनों में सामान्य स्वीकृतियाँ थी। अतः इसमें भी वे ही प्रमुख विचारणीय मुद्दे थे जिन पर अंकटाड-पंचम में आशिक सफलता के कारण आगे विचार-विमर्श के लिए छोंड़ दिया गया था।

पाँचवें अंकटाड के समय आर्थिक शिथिलता एवं बेरोजगारी की समस्या की आड़ में विकसित राष्ट्रों ने जिन मुद्दों को अधर-झूल में छोड़ दिया था। बदली उपयुक्त परिस्थितियों में विकासशील देशों ने विकसित राष्ट्रों से उनके प्रति पूर्ण आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग के साथ-साथ दृष्टिकोण की आशा से पाँचवें अंकटाड के अधूरे मुद्दों को पुनः छठे अंकटाड में प्रमुख विचारणीय मुद्दों के रूप में रखा जो इस प्रकार थे -

(1) नई विश्व आर्थिक व्यवस्था के निर्माण का आधार तैयार करना।
(2) बढ़ते संरक्षणवाद पर रोक एवं नियन्त्रण।
(3) अनुकूल एवं उदार व्यापार शर्तें तथ निर्यात सुविधाओं का विस्तार।
(4) विकास के लिए अधिकाधिक विदेशी सरकारी सहायता।
(5) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार।
(6) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों एवं ऋण भुगतान की समस्याओं का समाधान।
(7) टेक्नोलोजी प्रत्यावर्तन की वैधानिक आचार संहिता।
(8) बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों की भूमिका में वृद्धि।
(9) वस्तुओं के लिए समन्वित योजना तथा क्षतिपूरक वित्तीय व्यवस्था।
(10) सामुद्रिक व्यापार में विकासशील देशों की जहाजरानी की भूमिका में वृद्धि तथा व्यापारिक सेवाओं में भेद-भावपूर्ण प्रतिबन्धों की समाप्ति।

इन प्रमुख मुद्दों का विवरण इस प्रकार है -

(1) **नई विश्व आर्थिक व्यवस्था के निर्माण का आधार तैयार करना -** विकसित राष्ट्रों का यह नैतिक दायित्व है कि वे विकासशील देशों के तीव्र आर्थिक विकास में सक्रिय आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग प्रदान करें। विकासशील देश एक ऐसी सर्वोच्च स्तरीय विशेषज्ञ समिति के निर्माण पर अटल थे जो विश्व अर्थव्यवस्था को नये सिरे से ढालने का आधार तैयार करे, किन्तु विकसित राष्ट्रों में इसके लिए उपेक्षा भाव रहा।

(2) **उदार व्यापार शर्तें तथा निर्यात सुविधाओं का विस्तार-**विकसित राष्ट्रों के कठोर रूख तथा प्रतिकूल व्यापार शती के कारण विकासशील देशों का विश्व निर्यातों में भाग घटता जा

रहा है। आयातों की अनिवार्यता और निर्यातों में धीमी वृद्धि से उनका व्यापार घाटा बढ़ता जा रहा है, अत: अंकटाड-VI भी यह अपेक्षा करता है कि विकासशील देशों के निर्यात में वृद्धि के लिए उन्हें अधिकाधिक निर्यात सुविधायें प्रदान की जाये तथा उदार व्यापार शर्तों से प्रेरणा दी जाये, किन्तु दुर्भाग्य से विकसित राष्ट्रों का कठोर रूख इसकी सबसे बड़ी बाधा रहा है।

(3) **विकास कार्यो के लिए अधिकाधिक विदेशी सरकारी सहायता -** विकासशील देशों में तीव्र आर्थिक विकास हेतु विकसित राष्ट्रों की अधिकाधिक आर्थिक एवं तकनीकी सहायता जरूरी है, किन्तु विकसित राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त सरकारी सहायता उनके राष्ट्रीय आय के अनुपात में निरन्तर गिरती जा रही है। प्रारम्भ में विकसित राष्ट्रों ने अपनी सकल राष्ट्रीय आय का 1 प्रतिशत भाग विकास सहायता के रूप में देना सिद्धान्तत: स्वीकार कर लिया था। वह सहायता बढ़ाना तो दूर रहा, निरन्तर घटी है। अंकटाड-VI में विकसित राष्ट्रों ने उनकी GNP के 0.7 प्रतिशत विकास सहायता का आश्वासन दिया था जो पूरा होना संदिग्ध रहा।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार -** मौद्रिक सुधारों के अन्तर्गत मुख्यतः पाँच मुद्दों का समावेश है - (i) विशेष आहरण अधिकारों के आवंटन में वृद्धि (ii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साधनों की पर्याप्तता, (iii) सदस्य राष्ट्रों को मुद्राकोष साधनों के उपयोग में वृद्धि, (iv) ऋण शर्तों में उदारता एवं सुविधाओं का विस्तार तथा (v) विनिमय दरों एवं आर्थिक नीतियों सम्बन्धी निगरानी। विकासशील देश चाहते है कि न केवल विशेष आहरण अधिकारों का पर्याप्त नया आवंटन किया जाए वरन् मुद्राकोष के नवीं बार के अभ्यंश वृद्धि में पर्याप्तता हो और कोष के सदस्यों को इन साधनों से अधिकाधिक ऋण मिलें और वह भी उदार शर्तों पर।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों एवं ऋणों के भुगतान की समस्याएँ -** इसके अन्तर्गत तीन प्रमुख मुद्दों का समावेश था-

(i) व्यापार एवं विकास मण्डल द्वारा पारित उस प्रस्ताव को मूर्तरूप देना जिसमें गरीब देशों को प्रदत्त सरकारी विकास सहायता ऋणों को अनुदान में बदलने की व्यवस्था है।

(ii) विकसित राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त सरकारी विकास सहायता ऋणों अथवा गारण्टी ऋणों की वापसी का

पुन निर्धारण करना, किन्तु इसमें भी विकसित राष्ट्रों का कड़ा रूख रहा।

(iii) विकासशील देशों की ऋण समस्याओं के समाधान के लिए संस्थागत व्यवस्था मे, सुधार करना ताकि विकासशील देश यथासम्भव विदेशी ऋणों के शोषण एवं भार से बच सकें।

(6) **टेक्नोलोजी प्रत्यावर्तन की वैधानिक मान्य आचार-संहिता -** विकासशील देशों को विकसित राष्ट्रों से टेक्नोलोजी प्रत्यावर्तन के प्रतिबन्धात्मक तरीकों एवं प्रतिकूल शर्तों के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा ऊँची लागत चुकानी पड़ती है। इससे उनका शोषण होता है अत: इस स्थिति के निराकरण के लिए विकासशील राष्ट्र अंकटाड के माध्यम से आसान शर्तों एवं सौदेबाजी के आधार पर टेक्नोलोजी प्रत्यावर्तन की वैधानिक मान्य आचार-संहिता की माँग करते रहे हैं किन्तु विकसित राष्ट्र इसे वैधानिक न बनाकर

ऐच्छिक रखने पर तुले हुए हैं। छठे अंकटाड में भी कोई विशेष प्रगति दृष्टिगोचर नहीं हुई।

(7) **बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका में वृद्धि -** इसके अन्तर्गत विकासशील राष्ट्र यह चाहते हैं कि विश्व बैंक" तथा उससे सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम आदि के ऋणों में वृद्धि की जाए, बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों की शर्तों में सुधार एवं उदारता बरती जाए तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I.D.A.) के सातवें साधन वृद्धि कार्यक्रम में पर्याप्त वृद्धि की व्यवस्था की जाए तथा विकास कार्यो के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता दी जाए।

(8) **वस्तुओं के लिए समन्वित योजना तथा क्षतिपूरक वित्त व्यवस्था -** विकसित राष्ट्रों में संरक्षणवादी प्रतिबन्धों के कारण विकासशील राष्ट्रों को परम्परागत नियमित वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढाव के साथ-साथ प्रतिकूल व्यापार शर्तों का सामना करना पड़ता है, अत: पाँचवें अंकटाड में समर्थित सामान्य कोष की स्थापना को मूर्तरूप दिये जाने पर जोर दिया गया।

छठे अंकटाड की उपलब्धियाँ

विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में परस्पर विरोध-प्रतिरोध के वातावरण में छठा अंकटाड सम्मेलन अन्ततः आशिक सफलता के साथ समाप्त हो गया। विकसित राष्ट्रों के कठोर रूख तथा स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति से सफलता आशिक ही सम्भव हो पाई। कतिपय उपलब्धियाँ इस प्रकार है:-

(1) **संरक्षणवादी तरीकों की व्यवस्थित रूप से समापन की स्वीकृति -** विकसित राष्ट्रों ने यद्यपि विकासशील देशों की संरक्षणवादी प्रतिबन्धों को हटाने के समयबद्ध कार्यक्रम की माँग तो ठुकरा दी, किन्तु अन्ततः उन्होंने एक प्रस्ताव से संरक्षणवादी तरीकों को व्यवस्थित रूप से समाप्त करने की दिशा में काम करने की मन्जूरी दे दी। प्रस्ताव में संरक्षण को विकास एवं व्यापार दोनों के लिए हानिकारक बताते हुए उसके प्रति विरोध को स्वीकार किया गया तथा विकसित देशों ने संरक्षणवाद को रोकने का दायित्व लिया।

(2) **अधिमानों की सामान्य योजना में सुधार तथा विकासशील देशों से पर्याप्त विचार-**विमर्श का आश्वासन - छठे अंकटाड की सफलता इस बात में निहित है कि एक प्रस्ताव में विकसित राष्ट्रों से अधिमानों को सामान्य योजना में सुधार तथा समस्याग्रस्त क्षेत्रों के लिए विकासशील राष्ट्रों से विचार-विमर्श की पर्याप्त व्यवस्था का आश्वासन लिया गया।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु विशेष आहरण अधिकार (SDR) के आवंटन का आह्वान -** छठे अंकटाड के एक प्रस्ताव से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में पर्याप्त वृद्धि हेतु और विशेष आहरण अधिकार के आवंटन का आह्वान किया गया।

(4) **विनिमय दरों एवं आर्थिक नीतियों की प्रभावी निगरानी -** छठे अंकटाड ने मुद्रा कोष पर विनिमय दरों में भारी उतार-चढाव को रोकने तथा मुद्रा कोष के सदस्य देशों द्वारा प्रतिबन्धात्मक आर्थिक नीतियों पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए प्रस्ताव पारित किया।

(5) **मुद्रा कोष के नवें अभ्यंश निर्धारण में पर्याप्त वृद्धि की आवश्यकता पर जोर दिया -** छठे अंकटाड में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा कोष के नवें अभ्यंश निर्धारण में वृद्धि का प्रस्ताव

तो पारित नहीं किया गया, किन्तु कोष के साधनों में पर्याप्त वृद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया।

(6) **सरकारी विकास सहायता का लक्ष्य पूरा करने तथा विदेशी ऋणों के पुनर्भुगतान को उदार एवं सुविधाजनक बनाने का आह्वान -** छठे अंकटाड की सफलता इस बात में भी निहित है कि विकसित राष्ट्रों द्वारा दी जाने वाली सरकारी वित्तीय सहायता 0.7 प्रतिशत लक्ष्य से काफी कम रहने पर चिंता व्यक्त की गई तथा इस लक्ष्य को पूरा करने पर जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त विकासशील राष्ट्रों के ऋणों के पुनर्भुगतान हेतु उदार एवं सुविधाजनक व्यवस्था पर जोर दिया गया। मुद्रा कोष को भी इसमें आवश्यक सहयोग देने पर जोर दिया गया।

(7) **कृषि उत्पादनों के लिए सामान्य कोष की स्थापना** का समर्थन दोहराया गया तथा क्षतिपूरक वित्तीय व्यवस्था के विस्तार एवं पर्याप्त उदारता के लिए मुद्रा कोष से आग्रह किया गया।

इस प्रकार अंकटाड-VI में पारित प्रस्तावों में कहीं भी वैधानिक बाध्यता नहीं थी केवल मात्र आह्वान एवं आग्रह था जिन पर अमल करना ऐच्छिक एवं विकसित राष्ट्रों की दया पर निर्भर था। इसी कारण सफलता को आशिक ही कहना न्यायोचित है।

अंकटाड-VI की असफलतायें

छठे अंकटाड की सफलताएँ उसकी विफलताओं के सामने नगण्य - सी रही। इसकी मुख्य असफलताएँ निम्न तथ्यों से उजागर होती है-

(1) **संरक्षणवाद पर रोक का न कोई समयबद्ध कार्यक्रम और न कोई प्रभावी तरीका तय हो पाया।** केवल मात्र संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों को हटाने का आश्वासन और ऐच्छिक उपायों के पीछे कोई वैधानिक बाध्यता के अभाव में कोई भरोसा नहीं रहा।

(2) **विश्व आर्थिक व्यवस्था को नये सिर से ढालने हेतु सर्वोच्च-**स्तरीय विशेषज्ञ समिति का गठन चतुर्थ अंकटाड से अधरझूल में लटका रहा।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार के प्रभावी उपायों की माँग विकसित राष्ट्रों द्वारा नामन्जूर होने से** विकासशील राष्ट्र उनकी दया के पात्र ही बने रहे।

(4) **विकासशील राष्ट्रों की ऋण-भुगतान समस्याओं का कोई उपयुक्त हल नहीं निकल पाया** और भार की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है।

(5) **सरकारी विकास सहायता को लक्ष्य तक पहुँचाने की कोई बाध्यता नहीं रही।** सरकारी विकास सहायता राष्ट्रीय आय के 1 प्रतिशत / 0.7 प्रतिशत लक्ष्य के मुकाबले केवल 0.3 प्रतिशत रह गई।

(6) विकसित देशों ने टेक्नोलोजी प्रत्यावर्तन की वैधानिक मान्य आचार-संहिता की माँग को ठुकरा कर विकासशील देशों को निराश किया।

(7) **कृषिगत वस्तुओं के लिए सामूहिक कोष की स्थापना तथा निर्यात आय में होने वाली कमी की क्षतिपूर्ति की वित्त व्यवस्था का** विकासशील देशों का स्वप्न अधूरा रहा।

(8) बहुराष्ट्रीय व्यापार समझौतों के मूल्यांकन कुशलता के बाहा बहाव की समस्या (Brain Drain) और विकसित देशों द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति, सामुद्रिक व्यापार में विकासशील देशों का हिस्सा बेहतर बनाने के महत्वपूर्ण निर्णय अधर-झूल में लटके रहे।

इस प्रकार अंकटाड-VI की उपलब्धियाँ नगण्य ही रही। संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों पर रोक के प्रभावी समयबद्ध कार्यक्रम के अभाव, सरकारी विकास सहायता के लक्ष्य की विफलता, मौद्रिक सुधारों में अरुचि तथ ऋण भुगतान के उचित हल के अभाव में विकासशील राष्ट्रों को निराश होना पड़ा। विकासशील राष्ट्र आर्थिक विकास की प्रक्रिया तेज करने की आशा से सम्मेलन में आये थे, किन्तु विकसित राष्ट्रों के कठोर रूख तथा आर्थिक सहयोग में उदासीनता ने उसकी उम्मीदों पर पानी फेर दिया।

अंकटाड - सातवाँ (UNCTAD-VIII)

अंकटाड-VII 9 जुलाई से 3 अगस्त, 1987 तक जिनेवा में बड़े ही उत्साह एवं सहयोग के वातावरण में सन्तोषजनक परिणामों से सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में विश्व के लगभग 168 विकसित तथा विकासशील देशों के 3 हजार से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ती बेकारी, विकास दर में गिरावट, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निरन्तर स्थिरता और विकासशील देशों पर बढ़ते कर्जभार आदि आर्थिक चुनौतियों के वातावरण के कारण प्रारम्भ में तो सम्मेलन की सफलता संदिग्ध लग रही थी, किन्तु सम्मेलन के दौरान विकसित एवं विकासशील देशों में टकराव के स्थान पर सहयोग, आपसी सूझ-बूझ तथा रचनात्मक रवैये के कारण सम्मेलन काफी सफल रहा।

इस सम्मेलन में विचार-विमर्श के मुख्य मुद्दे चार थे -

(1) विकासशील देशों के लिए विकास के साधन एवं बढ़ते कर्ज की समस्या।

(2) कच्चे माल के बाजरों का विकास तथा गिरती कीमतें।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार।

(4) सबसे कम विकसित देशों की समस्यायें।

सातवें अंकटाड का एजेण्डा मुख्य चार मुद्दों तक सीमित रहा तथा कई अलग-अलग प्रस्तावों के स्थान पर एक ठोस प्रलेख अंकटाड का अन्तिम अधिनियम स्वीकृत किया गया। प्रत्येक मुद्दे के लिए एक-एक कमेटी बनाने से बातचीत में भाग लेने वाले सब देश मुख्य रूप से चार खेमों में बेटे थे - (i) विकासशील देशों का समूह ग्रुप-77, (ii) विकसित देशों का ग्रुप-बी, (iii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य देश तथा, (iv) समाजवादी राष्ट्र। विचार-विमर्श के दौरान प्रमुख मुद्दों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

(1) **विकासशील देशों के लिए विकास साधन तथा कर्ज की समस्या -** यह मुद्दा सर्वाधिक विवादास्पद रहा। जहाँ विकासशील राष्ट्र चाहते थे कि तीसरी दुनिया के देशों को दी जाने वाली विकास सहायता में वृद्धि हो तथा कर्ज की समस्या पर विचारार्थ एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाए जो नये उपायों पर विचार करे। विकसित पाश्चात्य राष्ट्र विरोधी रवैया अपनाते हुए इस जिद पर अड़े रहे कि समस्या का समाधान वर्तमान राष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए और आशिक जिम्मेदारी महसूस करते हुए नरमी का रूख तथा उचित कदम उठाने का वचन दिया। विकासशील एवं समाजवादी

राष्ट्र चाहते थे कि विकसित देश अधिक आर्थिक सहायता दें, कर्ज पर व्याज की दर कम करें तथा ऋणों के भुगतान में रियायतें दी जाए, पर विकसित राष्ट्रों ने अड़ियल रूप अपनाया और केवल अलग-अलग राष्ट्रों के आधार पर सकारात्मक लचीला रूख अपनाने को राजी हुए।

अन्तिम प्रलेख में यह भी आम सहमति व्यक्त की गई कि विदेशी सहायता का 0.7 प्रतिशत पूरा किया जाए तथा विश्व बैंक के पूँजीगत साधनों में भी वृद्धि की जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कृषि विकास कोष के लिए भी अतिरिक्त साधन जुटाये जायें। विकासशील राष्ट्र भी अपनी आन्तरिक बचतों को गतिशील बनावटें तथा विनियोगों में गुणात्मक सुधार हे।। मानवीय साधनों के विकास के साथ-साथ सामाजिक संरचना में विनियोगों से उपयोगी परिणामों की आशा की गई।

(2) **कच्चे माल के बाजारों का विकास तथा गिरते मूल्यों के घटक-**सातवें अंकटाड में कच्चे माल के क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता मिली। कच्चे माल के मूल्यों में पिछले 6-7 वर्षो में निरन्तर 38 प्रतिशत वार्षिक दर से गिरावट के कारण विकासशील देशों को लगभग 100 अरब डालर का घाटा होने से उनकी अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को सभी सदस्य राष्ट्रों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

सातवें अंकटाड में लगभग सभी राष्ट्रों में आम सहमति थी कि कच्चे माल के निर्यातक देशों को कच्चे माल के विविधकरण प्रोसेसिंग, विपणन तथा वितरण सम्बन्धी कार्यो के लिए अधिकाधिक तकनीकी एवं वित्तीय सहायता प्रदान की जाय ताकि उनके मूल्यों में स्थायित्व का मार्ग प्रशस्त हो सके।

विकासशील देशों ने जब विकसित राष्ट्रों द्वारा राजनीतिक कारणों से व्यापारिक प्रतिबन्धों को नाजायज बताया तो अमेरिका प्रतिनिधि ने गैट (GATT) के अन्तर्गत व्यापार प्रतिबन्धों को जायज करार देते हुए विकासशील देशों के प्रयास को विफल कर दिया, फिर भी कच्चे माल के क्षेत्र में सोवियत रूस के अथक प्रयासों से सामूहिक कोष स्थापना अंकटाड-VII की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार -** सातवें अंकटाड में आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अहम भूमिका को स्वीकार करते हुए विकसित देशों के बाजारों में विकासशील देशों के निर्यातों को सहज बनाने का अनुरोध किया गया। प्रलेख में सीमा शुल्क तथा व्यापार प्रतिबन्धों को कम करने तथा समाप्त करने पर जोर दिया। इस सम्मेलन के प्रलेख में अंकटाड सचिवालय द्वारा बहुपक्षीय व्यापार समझौतों से सम्बद्ध विचार-विमर्श में तकनीकी सहायता और सेवाओं के क्षेत्र में अपना कार्य करते रहने के साथ-साथ सेवाओं के व्यापार में निहित समस्याओं का विश्लेषण करने की व्यवस्था की गई।

(4) **सबसे कम विकसित देशों की समस्याएँ -** सातवें अंकटाड के प्रलेख में सबसे कम विकसित देशों को सर्वाधिक विदेशी सहायता देने की बात सम्मेलन की सफलता का संकेत रही। यद्यपि विकसित राष्ट्रों द्वारा अधिकाधिक विकास सहायता का लक्ष्य पूरा न करने पर रोष व्यक्त किया गया, फिर भी उनसे अपना वादा पूरा करने का आग्रह किया

गया। सबसे कम विकसित देशों की उदार ऋणों पर अत्यधिक निर्भरता तथा उनकी सीमित प्रशासनिक क्षमता के कारण सहायता में प्रभावी समन्वय पर जोर दिया गया। सातवें अंकटाड में सबसे कम विकसित देशों पर भारी विदेशी कर्ज के कारण उनकी बिगड़ती आर्थिक हालत पर चिन्ता व्यक्त की गई। ऋणदाता देश द्वारा कर्जों में राहत प्रदान करने का स्वागत करते हुए अन्य विकसित राष्ट्रों को भी इस प्रकार का अनुसरण करने का आग्रह किया गया।

सातवें अंकटाड की उपलब्धियाँ

विश्व में घटती विकास दर, विकासशील देशों में व्याप्त कर्ज भार की समस्या तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थिरता आदि कई अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों के वातावरण में अंकटाड-VII की सफलता प्रारम्भ से संदिग्ध लग रही थी, किन्तु विकसित राष्ट्रों के सहयोगी रूख तथा विकासशील राष्ट्रों के रचनात्मक राजनयिक कौशल एवं आपसी सूझबूझ के कारण सातवीं अंकटाड काफी हद तक सफल रहा, जो उसकी निम्नलिखित उपलब्धियों से उजागर होता है

(1) **वस्तुओं के सामूहिक कोष की स्थापना निश्चित हुई -** विकासशील देशों को कच्चे माल की कीमतों में होने वाली भारी उतार-चढाव से होने वाली क्षति से मुक्ति दिलाने के लिए तथा सामूहिक कोष की स्थापना प्रायः निश्चित हुई।

(2) **कच्चे माल उत्पादक राष्ट्रों को तकनीकी एवं वित्तीय सहायता को सामान्य स्वीकृति -** सातवें अंकटाड की दूसरी महत्वपूर्ण सफलता कच्चे माल उत्पादक राष्ट्रों को प्रोसेसिंग, विविधीकरण तथा विपणन आदि के लिए तकनीकी एवं वित्तीय सहायता की सामान्य स्वीकृति होना था। इससे विकासशील देशों की कई व्यापारिक समस्याएँ स्वतः हल हो जायेंगी।

(3) **अंकटाड तथा गेट (GATT) के परस्पर पूरक सम्बन्धों का उदय -** सातवें अंकटाड की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि रही कि अंकटाड तथा गेट के नये परस्पर पूरक सम्बन्धों का उदय हुआ जिससे यह परम्परागत धारणा समाप्त होगी कि अंकटाड विकासशील देशों के हितों की रक्षा करता है जबकि गेट विकसित देशों के हितों की।

(4) सबसे कम विकसित देशों को विकास सहायता तथा कर्जों के बोझ में कमी का नैतिक दायित्व विकसित देशों ने स्वीकार कर लिया।

(5) **संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों में ढिलाई का आश्वासन -** इस सम्मेलन में सीमा शुल्क एवं अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों को कम करने अथवा समाप्त करने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

(6) **सरकारी विकास सहायता (O.D.A.) के लक्ष्य को पूरा करने का आश्वासन दिया गया और विकसित** राष्ट्र विकास सहायता में आगे आने को तैयार हुए।

सातवें अंकटाड की असफलताएँ

अंकटाड-VII कई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान न निकाल पाने के कारण असफल रहा है। विकसित देशों के कठोर एवं स्वार्थी रूख के कारण अंकटाड-VII की मुख्य असफलताएं अग्र हैं -

(1) **संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों में कमी अथवा समाप्ति का कोई समयबद्ध कार्यक्रम एवं प्रभावी उपायों का** अभाव ज्यों का त्यों है। व्यापारिक प्रतिबन्धों को रोकने का न तो कोई

समयबद्ध कार्यक्रम और न कोई प्रभावी उपाय तय हो पाये है। अत: पाश्चात्य राष्ट्रों के मनमाने संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों को रोकना कठिन बना हुआ है। कोई वैधानिक व्यवस्था अभी तक नहीं है।

(2) **विकासशील देशों पर निरन्तर बढते कर्जभार तथा पुनर्भुगतान समस्याओं** का कोई उचित समाधान नहीं हो पाया है। विकसित राष्ट्रों ने कर्ज की समस्या पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाये जाने की विकासशील राष्ट्रों की माँग ठुकराकर वे विरोधी रूख व जिद पर अड़े रहे कि इस समस्या का हल वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत किया जावे व कोई रियायत न देने से अंकटाड-VII भी असफल ही कहा जायेगा।

(3) विकासशील राष्ट्रों से ऋणात्मक संसाधन बहाव रोकने हेतु कोई प्रभावी उपाय नहीं सुझाया।

(4) **सरकारी विकास सहायता में निरन्तर कमी -** हर अंकटाड में वचन पूरा करने के आश्वासनों के बावजूद सातवें अंकटाड में विकासशील राष्ट्रों को अधिक विकास सहायता के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया गया। अब भी विकासशील देश विकसित राष्ट्रों की दया के पात्र बने हुए हैं।

(5) **अधिमानों की सामान्य प्रणाली का क्रियान्वयन असफल -** सातवें अंकटाड में भी इस व्यवस्था की असफलता पर अफसोस जाहिर किया गया तथा उसके विस्तार, सुधार तथा प्रयोग पर इसमें भी कोई आम सहमति नहीं हो पाई।

(6) **सबसे कम विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं** का कोई प्रभावी समाधान नहीं हो पाया। विकसित राष्ट्रों द्वारा इन्हें सर्वाधिक आर्थिक सहायता देने तथा आपसी बात-चीत में उसमें सुधार लाने की बात केवल आश्वासन मात्र रही।

(7) **अन्य कई मुद्दों को अधर में छोड़ दिया -** सातवें अंकटाड में मुख्य रूप से चार मुद्दे ही महत्वपूर्ण रहे जबकि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं के मुद्दों पर विचार न होने से उनके समाधान की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई।

निष्कर्ष: यद्यपि अंकटाड-VII में अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक एवं व्यापारिक मुद्दों पर विचार-विमर्श हुआ, किन्तु सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों की ज्वलन्त समस्याओं का कोई ठोस प्रभावी उपाय नहीं निकल पाया। सातवें अंकटाड के फलस्वरूप, उत्तर-दक्षिण के सम्बन्धों में नई चेतना का सूत्रपात हुआ, वस्तुओं के सामूहिक कोष की स्थापना की पुष्टि हुई, अधिक विकास सहायता सुलभ कराने तथा विकासशील राष्ट्रों के ऋण बोझ को कम करने का आश्वासन मिला है: इस दृष्टि से सम्मेलन को सफल माना जा सकता है। किन्तु व्यवहार में विकसित राष्ट्रों ने अपने वचनों को नहीं निभाया और न ही उन्हें पूरा करने के लिए कोई समयबद्ध कार्यक्रम घोषित किया। अनेक मुद्दों पर विकसित राष्ट्रों ने विकासशील राष्ट्रों के दृष्टिकोण से असहमति जताई और उनकी उचित माँगों को मानने से इंकार कर दिया। इस दृष्टि से अंकटाड-VII असफल रहा। कुल मिलाकर अंकटाड को सफलता की ओर बढ़ा हुआ एक कदम माना जा सकता है।

अंकटाड - अष्टम (UNCTAD-VIII)

अंकटाड-VIII विश्व अर्थव्यवस्था की व्यापार एवं विकास की समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए 8 फरवरी से 25 फरवरी, 1992 तक कोलम्बिया के कारटेजना डी इण्डियाज नगर में सम्पन्न हुआ।

अंकटाड-VIII के उद्देश्य

अंकटाड-अष्टम के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित थे.

(1) **अंकटाड को पुनर्जीवित करना -** अंकटाड का सर्वप्रमुख और तात्कालिक उद्देश्य यह रखा गया कि अंकटाड को नये परिप्रेक्ष्य में पुनर्जीवित किया जाये। यह उद्देश्य इसलिए रखा गया कि विगत वर्षो में प्रतिबद्धता की कमी तथा संघर्ष के वातावरण के कारण अंकटाड ने विभिन्न आर्थिक वार्ताओं में अपनी सार्थकता खो दी थी।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक "समस्याओं से निपटने में अंकटाड को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करना -** अंकटाड को सुदृढ बनाने की दृष्टि से विश्व की सभी प्रमुख आर्थिक समस्याओं से निपटने में अंकटाड को एक केन्द्रीय भूमिका प्रदान करने का दुसरा उद्देश्य रखा गया। इस हेतु विकास वार्ताओं को सुचारू रूप से जारी रखने तथा बहुपक्षीय सहयोग को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता महसूस की गयी।

(3) **व्यापारिक वातावरण में सुधार करना -** अंकटाड अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ते हुए संरक्षणवाद तथा व्यापारिक प्रतिबन्धों को कम करने का हर सम्मव प्रयास करेगा। अंकटाड-VIII का एक उद्देश्य गैर प्रशुल्कीय प्रतिबन्धों (NTB) को दूर करना और अभियानों की सामान्य प्रणाली (GSP) को व्यापक और सुदृढ़ बनाना था।

(4) **प्रौद्योगिकी गत्यात्मकता को बढ़ावा देना -** अंकटाड विकासशील देशों में प्रोद्योगिकी विकास को बढ़ाने के लिए अनुसन्धान एवं विकास (R & D) में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, कौशल, उपलब्धि परीक्षण एवं विपणन के विश्व-तंत्र को सुदृढ़ करने के प्रयास करेगा।

(5) **सेवा क्षेत्र को विकसित करना -** मानवीय जान में वृद्धि करने की दृष्टि से विकासशील देशों में सेवा क्षेत्र को सुदृढ करना अंकटाड-VIII का एक अन्य उद्देश्य रखा गया। सम्मेलन में इस बात पर बल दिया जायेगा कि विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों के व्यवसायियों तथा संस्थाओं को विशिष्ट सेवाएँ प्रदान करने की सुविधा दें। विकासशील राष्ट्रों में मानवीय पूँजी को प्रोन्नत करने एवं तकनीकी क्षमताओं को सुदृढ़ करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की आवश्यकता होगी, अंकटाड-अष्टम में इन मुद्दों पर विचार-विमर्श किया जायेगा।

(6) **वस्तु अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना -** विश्व बाजार को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से अंकटाड-VIII के लिए निम्न प्राथमिकताएँ निश्चित की गयीं:

(i) प्रत्येक जिन्स की व्यक्तिगत माँग व पूर्ति को वास्तविक मूल्य स्तरों पर सन्तुलित किया जायेगा;

(ii) वस्तु क्षेत्र में विकास को इष्टतम (Optimise) किया जायेगा, तथा

(iii) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु नीतियों को सुस्थिर विकास (Sustainable Development) के अनुरूप ढाला जायेगा।

अंकटाड-VIII की उपलब्धियाँ

अंकटाड-अष्टम की निम्नांकित प्रमुख उपलब्धियाँ रही हैं.

(1) **संस्थागत सुधारों की आवश्यकता की स्वीकारोक्ति -** अंकटाड-VIII में एकता और सहयोग के वातावरण में संस्थागत मूलभूत सुधारों पर प्रस्ताव पारित किया। सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र की संरचना में परिवर्तित विश्व व्यवस्था की चुनौतियों का सामना करने के लिए संस्थागत सुधार किये जाने का निर्णय लिया। इस सुधार प्रक्रिया में अंकटाड के विद्यमान कार्यो को गतिशील एवं प्रगतिशील कम में पूरा किया जाना चाहिये।

(2) **प्राथमिक कार्यक्षेत्रों का निर्धारण -** अंकटाड-VIII में अगले वर्षो में सम्पन्न किये जाने वाले कार्यो की प्राथमिकता निश्चित की गयी। इन कार्यों को अग्रलिखित चार भागों में वर्गीकृत किया गया है:

(i) विकास के लिए नयी अन्तर्राष्ट्रीय साझेदारी।

(ii) विश्व-अन्त: निर्भरता को सुदृढ़ करना।

(iii) विकास के मार्गों की खोज।

(iv) सुस्थिर विकास को प्रोत्साहन देना।

(3) **अंकटाड की पुन: संरचना -** अंकटाड-VIII की एक महत्वपूर्ण सफलता इसके अन्तर्सरकारी तंत्र की पुनर्संरचना करने का निर्णय लेना रहा। इसके अन्तर्गत:

(i) अंकटाड के व्यापार एवं विकास बोर्ड (Trade & Development): को नवीन नीतिगत मुद्दे सौंपे गये तथा प्राथमिकताओं के आधार पर इसके कार्यो का पुनर्गठन किया गया।

(ii) व्यापार एवं विकास बोर्ड की वर्तमान कार्यरत सभी समितियों को भंग कर दिया गया और उनके स्थान पर स्थायी समितियाँ, विशेष समितियाँ तथा तद्र्थ समितियाँ गठित करने का निर्णय लिया गया।

(iii) निम्नलिखित विशेष क्षेत्रों की निगरानी करने हेतु चार स्थायी समितियों (Standing Committees) का गठन किया गया: (अ) वस्तुओं का बाजार विकास एवं उसकी समस्याएँ, (ब) गरीबी निवारण, (स) विकासशील देशों में आर्थिक सहयोग तथा (द) विकासशील देशों में प्रतिस्पर्धात्मक सेवा क्षेत्रों को प्रोत्साहन देना।

(iv) निम्नलिखित क्षेत्रों की देखभाल के लिए तद्र्थ समितियों (Ad hoc Committees) का गठन किया गया: (अ) वित्तीय एवं विनियोग प्रवाह, (ब) व्यापारिक कुशलता, (स) निजीकरण के तुलनात्मक अनुभवों का विश्लेषण, (द) विकासशील देशों के लिए व्यापारिक अवसरों का विकास; तथा (घ) विनियोग तथा प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण के पारस्परिक सम्बन्धों की निगरानी करना।

(4) **वस्तुओं पर विश्व सम्मेलन का प्रस्ताव स्वीकृत -** अंकटाड-VIII की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही की इसने वस्तुओं पर विश्व सम्मेलन आयोजित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस सम्मेलन के माध्यम से वस्तुओं के उत्पादकों, उपभोक्ताओं, विपणन साहसियों तथा बाजार घटकों को एक साथ एक मंच पर लाया जा सकेगा।

(5) **विकास के लिए संसाधन जुटाने पर विशेष ध्यान -** अंकटाड-VIII ने विकासशील राष्ट्रों द्वारा विकास के लिए विदेशी तथा घरेलू साधन जुटाने के बारे में प्रस्ताव पारित किया गया। इसके अलावा विकसित राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था में इस प्रकार संरचनात्मक सुधार करें ताकि वे सबसे कम विकसित राष्ट्रों को अधिक से अधिक रियायती विदेशी सहायता प्रदान कर सकें।

इस सम्मेलन में प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग में वृद्धि करने तथा उचित अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यूह रचना बनाने पर भी प्रस्ताव पारित किया गया।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर सकारात्मक प्रस्ताव -** इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनेक सकारात्मक प्रस्ताव पारित किये गये। इन प्रस्तावों की खास बात निम्नांकित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है:

(i) संरक्षणवाद को समाप्त करने के लिए सभी सदस्य देशों ने संरचनात्मक समायोजनों का महत्व स्वीकार किया।

(ii) अधिमानों की सामान्यीकृत प्रणाली (GSP) के अन्तर्गत राष्ट्रों एवं वस्तुओं के विस्तार को अधिक व्यापक बनाने के लिए विकसित राष्ट्रों से अनुरोध किया गया।

(iii) उन्नत बाजार तथा वित्तीय प्रवाहों में वृद्धि के द्वारा विकासशील राष्ट्रों के व्यापार सुधारों को समर्थन देने का अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से आग्रह किया गया तथा ऐसे देशों के प्रति विभेदकारी नीतियों को समाप्त किया जाना चाहिए जो बाजार अर्थव्यवस्था और अभिगमन प्रक्रिया में है। साथ ही में ऐसे राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन देने की बात स्वीकार की गयी।

(iv) उरूग्वे दौर की वार्ता के परिणामों का मूल्यांकन कार्य अंकटाड को सौंपा गया!

(7) **व्यापार कुशलता में वृद्धि -** सम्मेलन में नवीनतम कम्प्यूटर आधारित तकनीकों एवं प्रविधियों को अपनाकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार कुशलता में वृद्धि की ठोस योजनाओं के निर्माण पर. बल दिया गया और 1994 में व्यापार कुशलता पर एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी आयोजित करने का निर्णय लिया गया।

(8) **प्रौद्योगिकी पहुँच की सुविधाएँ -** सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों को नवीन प्रौद्योगिकी तक की पहुँच की सुविधा देने तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी संस्थाओं तथा अन्य उद्यमों में अधिक से अधिक सहयोग करने का विकसित राष्ट्रों से आग्रह किया गया।

(9) **विकासशील राष्ट्रों में सहयोग अभिवृद्धि -** विकासशील राष्ट्रों द्वारा परस्पर सहयोग बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से आग्रह किया गया। परिवहन, आधारभूत संरचना, संदेशवाहन तथा पर्यावरण के क्षेत्र में सहयोग वृद्धि पर विशेष बल दिया गया।

(10) **सुस्थिर विकास की भावना पर बल -** इस संदर्भ में निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती हैं -

(i) सुस्थिर विकास के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए पारिस्थितिकीय संयोजित को आर्थिक कार्यक्षमता तथा सामाजिक समता से सम्बद्ध किया गया।

(ii) संरक्षणवाद को रोकने के लिए पर्यावरणीय उपायों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमों के सह-अस्तित्व की निगरानी का काम अंकटाड को दिया गया।

अंकटाड - नवम् (UNCTAD-IX)

विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) की स्थापना एवं संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) के सामने वित्तीय संकट के मंडराते बादल, विकासशील देशों के बढ़ते कर्ज-भार, तथा उनके विकासशील देशों के प्रति कड़े रूख आदि के कारण बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में नौवें अंकटाड (UNCTAD-IX) का शुभारम्भ हुआ।

अंकटाड का नौवां सम्मेलन दक्षिणी अफ्रीका के **मिडरेण्ड** शहर में 27 अप्रेल, 1996 को सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में विश्व के 134 अंकटाड सदस्य राष्ट्रों के 2000 से अधिक वरिष्ठ अधिकारियों ने भाग लिया जिसमें 5 राष्ट्राध्यक्ष, 62 मंत्री तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रमुख शामिल थे।

अंकटाड IX के प्रमुख उद्देश्य

अंकटाड IX (UNCTAD-IX) के निम्नलिखित दो व्यापक उद्देश्य निर्धारित किये -

(1) विश्व अर्थव्यवस्था में वैश्वीकरण, प्रतिस्पर्द्धा, प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति तथा विकास।

(2) अन्तर्निर्भरता तथा व्यापार एवं विकास की दृष्टि से वैश्विक आर्थिक मुद्दे:

इन व्यापक उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में अंकटाड IX सम्मेलन में जहाँ एक ओर मिडरेण्ड घोषणा में अंकटाड को विकास एवं व्यापार से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर विचार-विमर्श का नाभीय केन्द्र स्वीकार किया गया वहाँ दूसरी ओर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग तथा अंकटाड की संगठनात्मक पुनर्संरचना एवं सुधार के महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

IX-अंकटाड (UNCTAD-IX) में दो प्रलेख स्वीकार - IX-अंकटाड में दो महत्वपूर्ण प्रलेख (Document) स्वीकार किये गये जो इस प्रकार हैं -

(1) मिडरेण्ड घोषणा

(2) अंकटाड नवम् का अन्तिम प्रलेख - जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में संवृद्धि तथा विकास के लिये साझेदारी का पैगाम है।

IX - अंकटाड प्रलेखों की मुख्य विशेषताएँ - नौवें अंकटाड के प्रलेखों की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार है-

(1) **अंकटाड-एक नाभीय केन्द्र-**मिडरेण्ड घोषणा में अंकटाड के सभी सदस्य देशों ने पुन: प्रतिबद्धता प्रकट की है कि अंकटाड सदस्य देशों के आर्थिक विकास, व्यापार तथा तत्सम्बन्धी मुद्दों पर विचार-विमर्श के लिये नाभीय केन्द्र बना रहेगा।

(2) **नीतिगत विचार-विमर्श मंच -** नौवें अंकटाड में इस बात पर बल दिया गया कि अंकटाड सदस्य देशों के मध्य नीतिगत विचार-विमर्श का मंच बना रहे ताकि विकासशील देशों को न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से पर्याप्त लाभ मिले वरन् वे और अधिक समानता ओर सक्रियता से विश्व अर्थव्यवस्था में हिस्सा ले सकें।

(3) **अंकटाड और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में निकट सहयोग -** अंकटाड के नौवें सम्मेलन में अंकटाड और सभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं - विशेषकर विश्व व्यापार संगठन के मध्य परस्पर पूरकता के कारण निकट सहयोग की आवश्यकता प्रतिपादित की गई।

(4) **विकासशील देशों के प्रति संवेदनशीलता पर जोर -** नौवें अंकटाड में इस बात पर भी जोर दिया गया कि विकसित देशों को विकासशील राष्ट्रों की विकासात्मक आवश्यकताओं के प्रति काफी संवेदनशील होना चाहिए ताकि वे बहुपक्षीय व्यापार में अधिक समानता के आधार पर भाग ले सकें।

(5) **तीन महत्त्वपूर्ण आयोगों के गठन का निर्णय -** नौवें अंकटाड की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि इसमें निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण आयोगों के गठन का निर्णय लिया गया-

(i) **वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यापार के लिये आयोग -** जो सदस्य देशों के व्यापार सम्बन्धी मामलों को देखेगा।

(ii) **विनियोग प्रौद्योगिकी एवं सम्बन्धित वित्तीय मामलों पर आयोग -** यह आयोग अंकटाड के सदस्य राष्ट्रों की विनियोग, प्रौद्योगिकी तथा तत्सम्बन्धी वित्तीय मामलों की देख-रेख करेगा।

(iii) **उद्यम, व्यवसाय सुविधाकरण तथा विकास पर आयोग -** यह आयोग अंकटाड के सदस्य राष्ट्रों के उद्यमों, व्यवसायों के सुविधाकरण तथा विकासात्मक मामलों की देखभाल करेगा।

इन तीनों आयोगों का गठन 10 जुलाई, 1996 के पहले ही करने का निर्णय लिया गया और यह तय हुआ कि ये आयोग अपने-अपने विशिष्ट मुद्दों से सम्बन्धित विशेषज्ञों की बैठकें आयोजित करेंगे। एक वर्ष के दौरान केवल 10 विशेषज्ञ बैठकें आयोजित करने का प्रावधान है जिसमें 4 बैठकें वस्तुओं एवं सेवाओं के आयोग द्वारा, तीन-तीन बैठकें दोनों शेष आयोगों द्वारा आयोजित करने की व्यवस्था है।

नौवें अंकटाड की उपलब्धियाँ

कुछ मुद्दों पर आम सहमति न बन पाने पर भी अंकटाड-IX कई दृष्टि से सफल रहा। उसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं -

(1) **संगठन में व्यापक सुधार -** अंकटाड के नौवें सम्मेलन में अंकटाड की अन्तर्सरकारी मशीनरी की पुनर्संरचना की गई है तथा उसकी कार्यप्रणाली और व्यवस्था में व्यापक सुधार किये गये हैं। तीन महत्त्वपूर्ण आयोगों का गठन किया गया है।

(2) **तीन महत्त्वपूर्ण आयोगों का गठन** - अंकटाड IX की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं के विश्लेषण पर नीतिगत सुझाव देने के उद्देश्य से तीन महत्त्वपूर्ण आयोगों - (i) वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यापार पर आयोग (ii) विनियोग, प्रौद्योगिकी एवं सम्बन्धित वित्तीय मामलों पर आयोग तथा (iii) उद्यम, व्यवसाय सुविधाकरण तथा विकास पर आयोग-के गठन का निर्णय लिया गया है।

(3) **अंकटाड तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के मध्य निकट सहयोग पर बल -** नवें अंकटाड की यह भी सफलता रही कि इसमें सभी सदस्य राष्ट्रों में अंकटाड तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की परस्पर पूरक भूमिकाओं के महत्व को मद्देनजर रखते हुए उन सब में निकट सहयोग तथा उचित तालमेल पर आम सहमति थी।

(4) **अंकटाड की नाभीय केन्द्र के रूप में पुन: स्वीकारोक्ति -** अंकटाड के IX सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों ने पुन: यह प्रतिबद्धता व्यक्त की कि अंकटाड न केवल विकास, व्यापार तथा उससे सम्बन्धित मुद्दों पर विचार-विमर्श के नाभीय केन्द्र के रूप में कार्य करता रहेगा वरन् सदस्य देशों के बीच नीतिगत विचार-विमर्श के लिए भी सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय मंच बना रहेगा।

(5) **विकासशील देशों की विकासात्मक आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशीलता पर बल -** नवें अंकटाड में भी इस बात पर जोर था कि विकसित देशों को विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की विकासात्मक आवश्यकताओं के प्रति अधिक संवेदनशील एवं जागरूक होना चाहिए।

(6) **विकासशील देशों की अधिक समानता के आधार पर बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था में सहभागिता पर जोर -** IX अंकटाड की यह सफलता भी महत्त्वपूर्ण है कि सम्मेलन में समवेत स्वर से यह स्वीकार किया गया कि विकासशील देशों की अधिक समानता के आधार पर बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था में सहभागिता होनी चाहिए। यह विकासशील देशों की विश्व व्यापार में बढ़ती भूमिका का शुभ संकेत है।

(7) **विकासशील देशों के निवेश वातावरण में सुधार जरूरी -** अंकटाड के IX सम्मेलन में इस बात पर भी जोर दिया गया कि विकासशील देशों में विदेशी निवेशों को प्रोत्साहन हेतु उनके निवेश वातावरण में सुधार किया जाना जरूरी है।

(8) **विदेशी निवेश नीति का अंकटाड द्वारा पुनर्निरीक्षण -** IX अंकटाड सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों की यह आम सहमति थी कि अंकटाड द्वारा विदेशी निवेश नीति का पुनर्निरीक्षण किया जाता रहना चाहिये ताकि समयानुकूल नीति से विदेशी निवेशों में वृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सके। आशा है यह निर्णय सदस्य देशों के लिए पर्याप्त लाभदायक सिद्ध होगा।

(9) **विकासशील देशों में पारस्परिक सहयोग -** IX अंकटाड सम्मेलन की सफलता इस बात में भी निहित है कि अंकटाड के सदस्य राष्ट्रों ने विकासशील देशों के बीच पारस्परिक सहयोग पर बल दिया ताकि वे एक-दूसरे को सहयोग देकर त्वरित आर्थिक विकास में मददगार सिद्ध हो सकें।

(10) **अंकटाड की भूमिका बढ़ी -** IX अंकटाड के निर्णयों के कारण अंकटाड की भूमिका भविष्य के लिये बढ़ती जा रही है। अंकटाड के संगठनात्मक सुधारों और उसकी अन्त: सरकारी मशीनरी की पुनर्संरचना, तीन महत्त्वपूर्ण आयोगों का गठन ओर उनके द्वारा कार्य शुरू कर देने से अंकटाड की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विकास मुद्दों पर प्रभावी भूमिका और सार्थक हस्तक्षेप की क्षमता बढ़ी है।

IX - अंकटाड की असफलताएँ

अंकटाड-IX की सफलताओं के उपरोक्त विवेचन से यद्यपि काफी प्रेरणा मिलती है किन्तु कई मुद्दों पर अंकटाड-IX में भी आम सहमति न हो पाने से कई असफलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं -

(1) **विकासशील देशों पर बढ़ते कर्ज भार की समस्या का उपाय नहीं -** अंकटाड IX की असफलता यह रही कि काफी प्रयासों के बावजूद इस सम्मेलन में भी विकासशील देशों के बढ़ते ऋण भार की समस्या का कोई विशेष हल नहीं मिल पाया और अभी भी यही

दोहराया गया कि ऋणी एवं ऋणदाता देश पारस्परिक विचार-विमर्श से समस्या का समाधान करें।

(2) **सरकारी विकास सहायता लक्ष्य से काफी कम हो रही है -** विकसित देशों द्वारा अपनी राष्ट्रीय आय का 1% भाग विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिये देने का वादा अभी भी सुनहरा स्वप्न बना हुआ है। विकसित देशों की सरकारी सहायता निरन्तर गिरती जा रही है। यहाँ तक कि उनकी राष्ट्रीय आय का

लगभग 0.25% तक घट गई है। इसका बढ़ना तो दूर घटना जारी है अत: विकसित देशों द्वारा वादा खिलाफी अंकटाड IX की भी असफलता का प्रतीक है।

(3) **संरक्षणवाद को समाप्त करने में विफल -** IX अंकटाड की असफलता में उसके द्वारा संरक्षणवाद की समस्या का कोई प्रभावी हल नहीं निकाल पाना है। अभी भी तटकर और गैर-तटकर बाधाओं को दूर नहीं किया जा सका है परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधाएँ विकासशील राष्ट्रों के लिये घातक बनी हुई है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं एवं रुकावटों का प्रभावी हल नहीं -** अंकटाड के IX सम्मेलन में भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास की समस्याओं का कोई प्रभावी हल नहीं निकल पाया है। उसमें विकसित राष्ट्रों का अड़ियल रवैया अभी भी बाधक है।

(5) **केन्द्रीय महत्व के व्यापार एवं विकास मुद्दों पर समयबद्ध कार्यवाही का अभाव -** IX अंकटाड में भी केन्द्रीय महत्व के व्यापार एवं विकास मुद्दों पर समयबद्ध कार्यवाही का नितान्त अभाव रहा। इनसे सम्बन्धित नीतियाँ और प्रभावी कार्यवाही निर्धारण की प्राथमिकताएँ निर्धारित करने पर विचार-विमर्श आगे के लिये टाल दिया है।

(6) **विकसित राष्ट्रों का अड़ियल रवैया -** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विकास की समस्याओं के शीघ्र समाधान में सदैव की भाँति IX अंकटाड में भी विकसित राष्ट्रों का अड़ियल रवैया हावी रहा जो IX अंकटाड की असफलता का महत्त्वपूर्ण कारण है।

निष्कर्ष - IX अंकटाड की आशिक सफलता के बावजूद यह आशा की जाती है कि वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार, विदेशी निवेशों एवं प्रौद्योगिकी तथा सम्बन्धित वित्तीय मामलों पर तीन आयोगों के गठन का निर्णय लाभप्रद रहेगा। विदेशी निवेशों में वृद्धि तथा व्यापार में वृद्धि से विकास का मार्ग प्रशस्त होगा। विकासशील देशों में परस्पर सहयोग का मार्ग प्रशस्त होगा। विकासशील देशों की विकासात्मक आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशीलता बढ़ेगी।

दसवाँ अंकटाड सम्मेलन (UNCTAD- X)

अंकटाड का सात दिवसीय X सम्मेलन 12-19 फरवरी, 2000 को बैंकॉक में उदारीकरण के प्रति विरोध तथा अनिश्चितता के वातावरण में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में विश्व के 146 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

यद्यपि अंकटाड का यह X सम्मेलन विश्व व्यापार के मुद्दों पर विकसित एवं विकासशील देशों के हितों के टकराव से ग्रसित रहा फिर भी भारत सहित कई विकासशील राष्ट्र विकास सम्बन्धी मुद्दों को विश्व व्यापार संगठन की प्रस्तावित नये दौर की वार्ता का महत्त्वपूर्ण अंग बनाने में सफल रहे। इसके अलावा इन देशों ने भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप निर्धन राष्ट्रों के सामने उपस्थित-समस्याओं एवं कठिनाइयों को दूर करने पर विशेष जोर दिया।

दसवाँ अंकटाड - बैंकॉक घोषणा-पत्र

X अंकटाड की सफलता उसमें भाग लेने वाले 146 देशों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत बैंकॉक घोषणा-पत्र से उजागर होती है। इस घोषणा-पत्र में विकास को गति प्रदान करने तथा विश्व स्तर पर सन्तुलित एवं सतत विकास हेतु विकसित एवं विकासशील देशों में परस्पर सहयोग एवं विवादित मुद्दों को आपसी सहमति से सुलझाने तथा बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली के द्वारा सभी राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जोड़ने पर बल दिया गया है। इस घोषणा-पत्र की मुख्य बातें इस प्रकार हैं -

1. **बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली द्वारा सभी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ते जोड़ने का प्रयास-** विभिन्न देशों को ठोस प्रयासों से यह सुनिश्चित करना चाहिए कि बहुपक्षीय प्रणाली सभी देशों को, विशेष तौर पर अल्पविकसित राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जोड़ने में सफल रहे।
2. **आपसी हितों की रक्षा के लिए विवादित मुद्दों को विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों द्वारा खुली एवं सीधी बहस `के जरिये आपसी सहमति से सुलझाना -** बैंकॉक घोषणा-पत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि विश्वस्तर पर सन्तुलित एवं सतत विकास के लिए विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों को खुली एवं सीधी बहस के जरिये विवादित मुद्दों कों आपसी सहमति तथा सद्भाव से सुलझाना आवश्यक है।
3. **भूमण्डलीकरण के जरिये विकास को बढ़ावा देने के लिए सही प्रबन्ध -** बैंकॉक घोषणा-पत्र में यह भी स्पष्ट रूप में कहा गया हे कि यदि भूमण्डलीकरण के जरिये विकास को बढ़ावा देना है तो उसका प्रबन्ध भी सही तरीके से होना चाहिए।

अंकटाड - X की सफलता

यद्यपि, अंकटाड X की सफलता के प्रति मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई हे किन्तु इसे अनेक मामलों में सफल माना जा सकता है। इसकी सफलता निम्नांकित बिन्दुओं से समझी जा सकती है.

1. **बैंकाक घोषणा-पत्र की सर्वसम्मति से स्वीकृति -** इस सम्मेलन की सबसे महत्वपूर्ण सफलता इस बात प्रकट होती है कि भाग लेने वाले सभी देशों ने सर्वसम्मति से बैंकाक घोषणा-पत्र को स्वीकार किया।
2. **विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहयोग और सौहार्द -** अंकटाड - X की दूसरी महत्त्वपूर्ण सफलता इस बात से प्रकट होती है कि इस सम्मेलन में विकसित एवं विकासशील राष्ट्र विवादित मुद्दों को खुली एवं सीधी बातचीत के द्वारा सुलझाने के लिए सहमत हो गये इसलिए उनके बीच पारस्परिक सहयोग एवं सौहार्द का वातावरण निर्मित हुआ।
3. **सन्तुलित और सुस्थिर विकास के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अल्पविकसित राष्ट्रों को विश्व अर्थव्यवस्था से एकीकरण पर सहमति -** अंकटाड - X के सम्मेलन में इस बात पर सहमति बन सकी की इसमें सभी सहभागी राष्ट्रों द्वारा इस बात को स्वीकार किया गया कि अल्पविकसित राष्ट्रों को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़े बिना विश्व-स्तरीय सन्तुलित और सुस्थिर विकास के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

4. **बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली द्वारा सभी देशों को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ने का प्रयास -** इस सम्मेलन में इस बात के प्रयासों पर बल दिया गया कि गरीबी, बेरोजगारी तथा अल्प विकास की समस्याओं के निराकरण के लिए तथा सन्तुलित विकास के लिए बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली द्वारा सभी देशों को विश्व अर्थव्यवस्था कें साथ सुनियोजित तरीके से जोड़ा जाये।
5. **वैश्वीकरण के सही प्रबन्धन की स्वीकारोक्ति -** इस सम्मेलन में इस बात को स्वीकार किया गया कि केवल वैश्वीकरण के मार्ग पर चल कर ही सन्तुलित विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वैश्वीकरण का सही प्रबन्धन अति-आवश्यक है। वैश्वीकरण के सही प्रबन्धन के अभाव में गरीब एवं पिछड़े राष्ट्रों की समस्याएँ कम होने के स्थान पर उल्टे और बढ़ जायेंगी।

अंकटाड - X की असफलताएँ

अंकटाड - X के आयोजन की आलोचना करते हुए इसे झूठा ओर असफल करार दिया है। इस सम्मेलन की असफलता को निम्नांकित बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है -

1. **वैश्वीकरण के सही प्रबन्धन के लिए कोई ठोस और कारगर नीति नहीं -** यद्यपि इस सम्मेलन में वैश्वीकरण की नीति पर चलने और उसके सही प्रबन्धन पर बल देने की बात तो कही गयी है, किन्तु वैश्वीकरण के सही प्रबन्धन के लिए कोई ठोस ओर कारगर नीतिगत उपाय नहीं सुझाये गये हैं।
2. **विकसित एवं विकासशील देशों के बीच आपसी समझ और सामंजस्य का अभाव -** बैंकाक घोषणा-पत्र में कुछ भी नयापन नहीं है क्योंकि ये बातें तो प्रायः सभी अंकटाड सम्मेलनों में कहीं जाती रही हैं। विकसित राष्ट्रों ने विकासशील राष्ट्रों की ज्वलन्त समस्याओं को दूर करने के लिए न तो कोई ईमानदार प्रतिबद्धता का प्रदर्शन किया और न ही कोई ठोस कार्य योजना पर अपनी सहमति प्रदान की।
3. **संरक्षणवाद को समाप्त करने की पहल का अभाव -** इस सम्मेलन में स्वीकृत बैंकाक घोषणा-पत्र में इस बात का तो उल्लेख किया गया है कि बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली द्वारा सभी देशों को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ने का प्रयास किया जायेगा, लेकिन इस बात पर कहीं भी जोर नहीं दिया गया है कि विकसित राष्ट्रों में संरक्षणवाद के प्रति बढ़ते रूझान को कैसे रोका जाए।
4. **विकसित राष्ट्रों का विकासशील राष्ट्रों के प्रति गलत दृष्टिकोण -** बैंकाक घोषणा-पत्र में विश्व व्यापार संगठन के सिएटल सम्मेलन की विफलता के लिए विकासशील देशों को जिम्मेदार ठहराना स्पष्ट रूप से विकसित देशों के विकासशील देशों के प्रति दुराग्रह एवं पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण का प्रतीक है।
5. **विकासशील राष्ट्रों की ज्वलन्त समस्याओं की पूर्णतया अनदेखी -** अंकटाड - X में विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों की निम्नांकित ज्वलन्त समस्याओं को दूर करने के लिए कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया।

(अ) विकासशील देशों पर बढ़ते कर्जभार तथा पुराने ऋणों और उस पर ब्याज के बोझ को कम करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया;

(ब) सरकार विकास सहायता की गिरती प्रवृत्ति को रोकने तथा उसमें यथोचित वृद्धि के लिए न तो कोई वादा किया गया और न ही कोई सुधारात्मक उपायों की घोषणा की गयी;

(स) विकासशील देशों की विकासात्मक आवश्यकताओं के प्रति न तो संवेदनशीलता दिखाई गयी और न ही उनके निवेश वातावरण में सुधार हेतु उपायों की घोषणा की गयी;

(द) विकसित और विकासशील राष्ट्रों के बीच बढ़ती आर्थिक विषमता की खाई को पाटने के लिए कोई ठोस कार्यवाही नहीं की गयी ओर न ही वैश्वीकरण और उदारीकरण के दुष्प्रभावों की रोकथाम के लिए कोई कदम उठाये गये; तथा

(य) विश्व व्यापार में विकासशील राष्ट्रों के घटते निर्यात भाग को रोकने तथा उसमें निरन्तर अभिवृद्धि के लिए कोई ठोस प्रयत्न नहीं किये गये।

निष्कर्ष - बैंकाक घोषणा-पत्र पर सर्वसम्मति से विकसित और विकासशील राष्ट्र अपने आपसी हितों से सम्बन्धित विवादित मुद्दों को खुली और सीधी बातचीत के जरिए आपसी समझ और सहमति से सुलझाने के लिए सहमत हो गए हैं, जिससे न केवल उनकी समस्याओं का त्वरित और प्रभावी निराकरण हो सकेगा, वरन् उनमें आपसी समझ, सद्भाव एवं सौहार्द का वातावरण निर्मित हो सकेगा।

16.8 अंकटाड की अब तक सफलताएँ एवं उपलब्धियाँ

अंकटाड के सम्मेलनों से विश्व व्यापार ओर विकास के लिए नये द्वार खुले हैं और विकासशील राष्ट्रों को विकसित देशों ने वित्तीय और तकनीकी सहायता के क्षेत्रों में अनेक सुविधायें एवं रियायतें सुलभ करवायी हैं। विकासशील देशों के बीच पहले की तुलना में आपसी तालमेल अधिक हुआ है और वे पहले से अधिक संगठित ओर शक्तिशाली हुए हैं जिसके कारण उनका मनोबल और नैतिक दबाव बढ़ा है। यह अंकटाड के सराहनीय प्रयासों से ही सम्भव हो सका है। अंकटाड की अब तक की समग्र उपलब्धियाँ एवं सफलताएँ निम्नांकित रही हैं -

(1) **निरपेक्ष सरकारी विकास सहायता में निरन्तर वृद्धि -** अंकटाड के सफल ओर प्रभावी प्रयासों के फलस्वरूप ही विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों को प्रदान की जाने वाली निरपेक्ष सरकारी विकास सहायता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, यद्यपि यह विकसित राष्ट्रों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात के रूप में घटी है।

(2) **ऋणों की उदार शर्तों पर उपलब्धि -** अंकटाड सम्मेलनों में विकासशील राष्ट्रों पर बढ़ते कर्ज भार और कर्जों की शर्तों पर सार्थक और गम्भीर विचार-विमर्श हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप अब विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों को अधिक और आसान शर्तों पर ऋण देने लगे हैं। ऋणी और ऋणदाता राष्ट्र आपसी विचार-विमर्श द्वारा ऋणों की भुगतान तिथियों का पुनर्निर्धारण करने लगे हैं जिससे ऋणों के पुनर्भुगतान में सुविधा मिली है। सुलभ ऋण अब पहले से अधिक दिये जाने लगे हैं।

(3) **स्वैच्छिक प्रौद्योगिकी प्रत्यावर्तन -** यद्यपि अंकटाड प्रौद्योगिकी प्रत्यावर्तन की वैधानिक मान्य आचार संहिता को विकसित राष्ट्रों से स्वीकृत नहीं करा पाया है, किन्तु फिर भी वह उनसे स्वैच्छिक आधार पर उदार शर्तों पर प्रौद्योगिकी अन्तरण करवाने में सफल रहा है। इसके कारण विकासशील राष्ट्रों को उन्नत राष्ट्रों के प्रौद्योगिक ज्ञान, विकास तकनीक, ट्रेडमार्क, पेटेन्ट्स आदि के लाभ प्राप्त हो सके हैं।

(4) **बहुपक्षीय-अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साधनों एवं ऋणों में वृद्धि -** अंकटाड की सफलता इस बात में सन्निहित है कि इसके प्रयासों के फलस्वरूप विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के साधनों में कई बार वृद्धि की गयी है साधनों में वृद्धि के परिणामस्वरूप ही ये संस्थायें विकासशील राष्ट्रों को उदार शर्तों पर अधिक से अधिक विकास ऋण प्रदान कर सकी है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार -** अंकटाड के प्रयासो से ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार किया जाना सम्मव हो सका। एक तरफ जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के पूँजीगत साधनों में वृद्धि हुई, वहीं दूसरी ओर कोष द्वारा प्रदत्त संकटकालीन एवं क्षतिपूरक ऋणों में भी वृद्धि हुई। मुद्राकोष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए विशेष आहरण अधिकारों का सृजन एवं आवंटन किया गया तथा इन्हें कोष मुद्रा के रूप में मान्यता प्रदान की। विनिमय दरों को बाजार अभिमुख वास्तविक स्थायित्व प्रदान करने हेतु निगरानी व्यवस्था कायम की गयी और सार्थक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन दिया गया।

(6) **संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन की स्थापना -** विकासशील राष्ट्रों में औद्योगिकरण को प्रोत्साहन देने तथा आर्थिक सहयोग प्रदान करने के लिए प्रथम अंकटाड की अनुशंसा के कारण सन् 1965 में संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन की स्थापना की जा सकी। इस संगठन की सहायता से विश्व के अनेक राष्ट्रों को उनके औद्योगीकरण करने में वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्राप्त हुई है।

(7) **वस्तु सामान्य कोष की स्थापना -** विकासशील राष्ट्रों के कृषि जिन्सों तथा कच्चे माल के निर्यात मूल्यों में होने वाले उतार-चढ़ाव को रोकने के लिए 'वस्तु साझाकोष' स्थापना का विचार अंकटाड IV में स्वीकार किया गया। अंकटाड- IV तक इसमें लक्ष्य का 65 प्रतिशत अंशदान प्राप्त हो गया था। अब इस कोष की स्थापना का कार्य लगभग पूर्ण व निश्चित हो चुका है। इस कोष की स्थापना से कृषि जिन्सों के मूल्यों में उतास्चढ़ाव को रोकने के अतिरिक्त विकासशील राष्ट्रों को भुगतान असंतुलन के संकट से निपटने के लिए अल्पकालीन ऋणों तथा क्षति-पूरक वित्तीय सहायता का भी प्रावधान किया गया है।

(8) **संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों में ढील -** अंकटाड सम्मेलनों में लिये गये निर्णयों के कारण ही अब विकसित देशों ने अपने संरक्षणात्मक प्रतिबन्धों को पहले से कम किया है जिससे विकासशील देशों का निर्यात व्यापार बढ़ा है ओर साथ में विश्व व्यापार भी बढ़ा है। अंकटाड के कारण ही अब विश्व में उदारीकरण तथा मुक्ता व्यापार की हवा बहने लगी है। अब प्रत्येक राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था को मुक्त (नियन्त्रण रहित) रखने में विश्वास करने लगे हैं।

(9) **भावी आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग का मार्ग प्रशस्त -** अंकटाड की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि इसने विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों को एक साझा मंच प्रदान कर उनमें आपसी समझ-बूझ एवं सहयोग का वातावरण निर्मित किया है। इसके कारण इन राष्ट्रों के बीच न केवल वर्तमान में आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग बढ़ा है, वरल् भविष्य में और अधिक बढ़ने की सम्भावना का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

16.9 अंकटाड की असफलताएँ

अंकटाड अपनी स्थापना के मूल उद्देश्य को प्राप्त करने में विफल रहा है। इसकी स्थापना मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों को न्यूनतम अथवा समाप्त करके विकासशील राष्ट्रों की विश्व व्यापार में सहभागिता बढ़ाना था। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि अंकटाड के प्रयत्नों के बावजूद भी विश्व व्यापार में विकासशील राष्ट्रों के निर्यातों का प्रतिशत भाग बढ़ने के बजाय उल्टा घट गया।

यद्यपि अंकटाड विश्व व्यापार व आर्थिक विकास के पारस्परिक सहयोग के अनेक विषयों पर सामान्य सहमति व सिद्धान्त प्रतिपादन में सफल रहा है पर इन निर्णयों को वैधानिक रूप से लागू करने की शक्ति व बाध्यता का अभाव होने के कारण उनका व्यावहारिक पक्ष बड़ा कमजोर रहा है जैसा कि निम्न तथ्यों से स्पष्ट है -

1. **आर्थिक सहायता नगण्य -** विकसित देशों ने विकासशील देशों को अपनी राष्ट्रीय आय का कम से कम 1% भाग आर्थिक सहायता के रूप में देना तो स्वीकार किया पर अब तक दी गई सहायता उनकी राष्ट्रीय आय का 0.25% भाग है। सबसे बड़े देश अमेरिका की सहायता की कुल मात्रा भी पिछले दशक (1961-70) में उसके राष्ट्रीय आय के 0.5% से घटकर 0.33% रह गई।
2. अधिनियमों की सामान्य योजना को भी समान रूप से लाग नहीं किया गया है उसमें अनेक कमियाँ रही हैं जिसके कारण विकासशील देशों को वांछित लाभ नहीं मिल पाया है। अनेक क्षेत्रीय संधियों से उसमे भेद-भाव बढ़ता जा रहा है।
3. **ऋण भार के सम्बन्ध में उदार शर्तों का अभाव -** सिद्धान्त रूप में सहमति के बावजूद भी विकासशील देशों के ऋण-भार व दायित्वों का भार निरन्तर बढ़ा है, उनको दिये जाने वाले ऋणों की शर्तें भी पर्याप्त उदार न होने से उन्हें भुगतान असन्तुलन व विदेशी विनिमय संकट का सामना करना पड़ता है। ऋण भार जो व 1969 में 70 अरब डालर था, 1980 में बढ़कर 650 अरब डालर, 1984 में 929 अरब डालर, 1989 में बढ़कर व 300 अरब डालर तथा 1991 में 1500 अरब डालर होने का अनुमान हे।
4. **विकासशील देशों के निर्यातों का विश्व व्यापार में प्रतिशत घट रहा है -** यद्यपि देशों के निर्यात में निरपेक्ष रूप से वृद्धि हुई है, किन्तु सापेक्षित रूप से देखने पर स्पष्ट होता है कि विकासशील देशों का भाग कुल विश्व निर्यातों में निरन्तर घट रहा है क्योंकि विकसित देशों के निर्यात अपेक्षाकृत तीव्र गति से बढ़े है।
5. **गैर-शुल्क व प्रशुल्क प्रतिबन्धों में कमी नगण्य व धीमी गति** से हुई है।
6. **सम्पन्नता व विपन्नता की खाई चौड़ी हुई है -** विकसित राष्ट्र और अधिक धनी होते जा रहे हैं पर विकासशील राष्ट्रों के सामने अनेक कठिनाइयां होने से उनका विकास मंद-गति से हो रहा है अत: सम्पन्नता व गरीबी के बीच अन्तराल बढ़ता ही जा रही है। यह अंकटाड के सिद्धान्तों की असफलता है।
7. **विकसित देशों का कड़ा रूख है** वे विकासशील राष्ट्रों की तीव्र प्रगति के प्रति खिन्न है क्योंकि इसके कारण उनके शोषण का बाजार बन्द होता जा रहा है।

इस सफलताओं को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंकटाड विकासशील राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग प्रदान करने की दृष्टि से निर्बल संगठन रहा है। विकसित राष्ट्र केवल शाब्दिक सहानुभूति जताकर विकासशील राष्ट्रों पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व व आर्थिक श्रेष्ठता कायम रखना चाहते हैं। विकसित देश विकासशील राष्ट्रों के प्रति कड़ा रूख अपनाते रहे हैं जिससे वांछित लाभ नहीं मिल पाया है। इस प्रकार अंकटाड अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में पूर्णत: सफल नहीं रहा है।

16.10 अंकटाड की भावी सफलता के लिए सुझाव

अंकटाड की सफलता के लिए विकसित देशों में विकासशील देशों के प्रति उदार दृष्टिकोण की आवश्यकता है। यद्यपि विकसित राष्ट्रों के सामने भी उनकी अपनी समस्यायें है फिर भी वे आर्थिक सहयोंग से विकासशील देशों के तीव्र आर्थिक विकास व व्यापार वृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव अंकटाड के सातवें सम्मेलन में विचारणीय हैं -

1. **अधिक उदार रूख -** प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क प्रतिबन्धों में वांछित कमी करने के लिये सभी विकसित राष्ट्रों को उदार रूख अपनाना चाहिए।
2. **पर्याप्त आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग -** विकासशील देशों के प्राकृतिक साधनों के विदोहन के लिए विकसित देशों को पर्याप्त आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग देना चाहिए। विकासशील देशों के लिए औद्यौगिक विकास के कार्यक्रम तैयार करके उनके कार्यान्वयन में तेजी पर ध्यान देना उचित होगा।
3. **ठोस नीति एवं निश्चित समयावधि -** अंकटाड के निर्णयों को लागू करने व उन्हें मूर्तरूप देने के लिए एक ठोस नीति व निश्चित समयावधि होनी चाहिए।
4. **व्यापक अधिमान योजना -** अधिमानों की सामान्य योजना को व्यापक बनाकर उसको व्यावहारिक रूप से लाग करना चाहिए। अब तक जो महत्वपूर्ण वस्तुएं अधिमानों की सूची में नहीं आई है उनका समावेश किया जाना चाहिए।
5. **निर्यातों की वृद्धि हेतु विशेष योजनायें -** विकासशील देशों से निर्यात बढ़ाने के लिए अंकटाड सचिवालय द्वारा कुछ विशेष योजनाएँ (Pilot Project) तैयार कर उन्हें कार्यान्वित करना चाहिए।
6. **अधिक मात्रा में दीर्घकालीन उदार ऋणों को प्रोत्साहन -** विकासशील देशों को अधिक मात्रा में दीर्घकालीन उदार ऋणों के लिए विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के साधनों में वृद्धि करनी चाहिए तथा अधिक ऋणों की व्यवस्था पर जोर देना चाहिए।
7. **अंकटाड को विश्व की प्रमुख आर्थिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व -** अंकटाड को अधिक प्रभावशाली बनाने तथा विश्व की प्रमुख वित्तीय एवं व्यापारिक संस्थाओं में उसकी नीतियों को मूर्तरूप देने के लिए अंकटाड का प्रतिनिधित्व एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। इससे विकासशील देशों की आशाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने में मदद मिलेगी।
8. **पारस्परिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा -** विकासशील देशों को स्वयं अपने ही क्षेत्रीय संगठन बनाकर आपसी सहयोग करना चाहिये। क्योंकि विकसित देशों पर सहायता की अत्यधिक आश्रितता मृगतृष्णा के समान है।

निष्कर्ष - उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "अंकटाड" की स्थापना जिन उद्देश्यों से प्रेरित थी उन उद्देश्यों की पूर्ति विकसित राष्ट्रों के कड़े रूख के कारण नहीं हो पाई। अत: उसकी सफलता के लिए सभी राष्ट्रों को मिलकर उदारपूर्वक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, ताकि विकासशील देशों के व्यापार व आर्थिक विकास में तीव्रता, सम्पन्नता व गरीबी की गहरी खाई को पाटा जा सके।

16.11 सारांश

संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD) की स्थापना का मूल उद्देश्य पारस्परिक आर्थिक सहयोग के जरिये विकासशील राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान कर विकास को गति देना था।

किन्तु प्रथम अंकटाड से लेकर दसवें अंकटाड तक कोई ऐसी बात दृष्टिगोचर नहीं हो रही है कि विकासशील राष्ट्रों को पनपाने में विकसित राष्ट्रों ने कोई ऐसी सहायता की हो जिससे इन राष्ट्रों में समृद्धि आ सके तथा वहाँ की सरकार जन कल्याणकारी नीतियों के लिए कोई विशेष कदम उठा सके। अपितु, विकसित राष्ट्रों ने पक्षपात पूर्ण रवैया अपना कर, यही प्रयास किया है कि विकासशील राष्ट्रों के साथ कोई व्यापारिक संधि कर ली जाए। फिर भी अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों में विकासशील राष्ट्रों के विकास को प्रमुख मुद्दा मानकर विचार-विमर्श किया है।

16.12 शब्दावली

अंकटाड (United Nation Conference on Trade and Development) - यह विश्व में व्यापार व विकास को बढ़ाने के लिए संयुका राष्ट्र संघ का एक स्थाई संगठन है।

16.13 स्वपरख प्रश्न

1. अंकटाड के संगठन व कार्यो की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। विकासशील देशों के लिए इसका क्या महत्व है? समझाइए।
2. अंकटाड के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। अंकटाड की उपलब्धियों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
3. अंकटाड के क्या कार्य है? इसके कार्यो के संबन्ध में संक्षिप्त टिप्पणी दीजिए।
4. अंकटाड के कार्य तथा सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
5. अंकटाड की अब तक की सफलताओं एवं असफलताओं पर प्रकाश डालिए।
6. अंकटाड अपने उद्देश्यों में कहीं तक सफल रहा है? परीक्षण कीजिए।

16.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

ओझा बी.एल. : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त

अग्रवाल, सिंह, गुप्ता : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त

टंडन, जे.के, : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त

Mithani D.M. : Money, Banking, International Trade and Public Finance I.M.F.Annual Reports

इकाई-17 : निर्यात संवर्द्धन: अर्थ, निर्यातों की वृद्धि हेतु आधारभूत संरचना, ईसीजीसी-कार्य प्रणाली

(Export Promotion - Meaning, Basic Infrastructure to increase exports, ECGC- Working System)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 निर्यात संवर्द्धन का अर्थ

17.3 निर्यात संवर्द्धन की आवश्यकता एवं महत्व

17.4 भारत में निर्यात संवर्द्धन की आधारभूत संरचना

17.5 भारतीय निर्यात साख एवं गारंटी निगम लिमिटेड की स्थापना एवं उद्देश्य

17.6 ईसीजीसी के कार्य

17.7 ईसीजीसी की कार्यप्रणाली

17.8 सारांश

17.9 शब्दावली

17.10 स्व-परख प्रश्न

17.11 संदर्भ ग्रन्थ

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- निर्यात संवर्द्धन का आशय जान सकेंगे।
- निर्यात संवर्द्धन की आवश्यकता एवं महत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- भारत में निर्यात वृद्धि हेतु उपलब्ध आधारभूत संरचना से अवगत हो सकेंगे।
- ईसीजीसी की स्थापना के उद्देश्यों के बारे में जान सकेंगे।
- ईसीजीसी की कार्य प्रणाली के बारें ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

निर्यात संवर्द्धन विकासशील राष्ट्रों के लिए न केवल अपरिहार्य, अपितु युगधर्म बन गया है। निर्यात संवर्द्धन किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के लिए प्राणदायिनी ऑक्सीजन के समान है। निर्यातों को प्रोत्साहित कर न केवल उपभोग एवं विकास हेतु आवश्यक आयातों का वित्त पोषण किया जा सकता है, बल्कि अर्थ व्यवस्था के विकास को त्वरित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दीर्घकालिक सुस्थिर विकास (Long Term Sustainable Development) के लक्ष्य प्राप्ति हेतु भी निर्यात संवर्द्धन आवश्यक है। देश को स्वावलम्बन के मार्ग पर प्रशस्त करने, विकास

विविधता तथा औद्योगिकरण एवं रोजगार प्रोत्साहन की दृष्टि से भी निर्यातों को प्रोत्साहित करना विवेकशील कदम माना जा सकता है।

निर्यात संवर्द्धन हेतु एक आवश्यक आधारभूत अथवा संस्थागत ढाँचा होना अनिवार्य है। इसके अन्तर्गत निर्यात वृद्धि हेतु विभिन्न संस्थाओं की स्थापना एवं उनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य-कलापों को सम्मिलित किया जा जाता है। भारत में निर्यात संवर्द्धन हेतु उपलब्ध संस्थागत ढाँचे का अध्ययन हम इस इकाई के अन्तर्गत करेंगे।

देश के निर्यातों को प्रतिस्पर्धात्मक बनाने और उसका विस्तार करने, निर्यात साख की सहज एवं पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित करने, विदेशी आयतकों की आर्थिक स्थिति अथवा साख क्षमता की सही एवं समय पर सूचना निर्यातकों को उपलब्ध करवाने के उद्देश्य से भारतीय निर्यात साख गारन्टी निगम (Export Credit & Guarantee Corporation of India- ECGC) की स्थापना की गयी थी। इस इकाई के अन्तर्गत हम ईसीजीसी की कार्य प्रणाली के बारे में भी अध्ययन करेंगे।

17.2 निर्यात संवर्द्धन का अर्थ

निर्यात संवर्द्धन से आशय उन सभी सरकारी एवं गैर-सरकारी कार्यो, नीतिगत उपायों एवं प्रयासों से है जो किसी देश के निर्यातों को प्रोत्साहित (बढ़ाना) करने हेतु किया जाते हैं। सरल अर्थ में, निर्यातों में वृद्धि हेतु किये जाने वाले समस्त प्रयत्नों को निर्यात संवर्द्धन की संज्ञा दी जाती है। निर्यात संवर्द्धन के अन्तर्गत निम्नांकित को सम्मिलित किया जाता है :

- जाँच समितियों की स्थापना
- विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना
- वित्तीय (नकद) सहायता
- करों में छूट/ रियायतें
- आर्थिक सहायता/ अनुदान
- व्यापार समझौते
- प्रदर्शनियों एवं मेलों का आयोजन
- विदेशों में व्यापार प्रतिनिधियों की नियुक्तियाँ
- सलाहकार एवं निर्यात संवर्द्धन परिषदों की स्थापना
- निर्यात क्षेत्र में किये गये प्रशंसनीय कार्यो के लिए पुरस्कार
- निर्यात-आयात नीति में परिस्थितिनुसार आवश्यक परिवर्तन/ संशोधन तथा
- निर्यात की जाने वाले वस्तुओं के उत्पादन हेतु आवश्यक कच्चे माल व मशीनों की व्यवस्था करना एवं सहायक वस्तुओं का उदारता पूर्वक आयात करने की सुविधा।

ध्यान रहे कि निर्यात संवर्द्धन के अन्तर्गत आयात नियंत्रण एवं आयात प्रतिस्थापन की नीति को भी समाविष्ट किया जाता है।

17.3 निर्यात संवर्द्धन की आवश्यकता एवं महत्व

अग्रांकित कारणों की वजह से निर्यात संवर्द्धन विश्व के सभी राष्ट्रों के लिए एक सर्वयुगीन आवश्यकता बन गयी है:

1. **विदेशी विनिमय संकट से मुक्ति:** विकासशील देशों का व्यापार शेष एवं भुगतान शेष प्रायः प्रतिकूल (घाटे मे) रहता है जिससे उनके सम्मुख विदेशी विनिमय संकट उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ भारत के सम्मुख 1966 तथा 1990-91 व में विदेशी विनिमय का घोर संकट उपस्थित हो गया था। यहाँ तक कि 1990-91 में श्री चन्द्रशेखर के प्रधानमंत्रीत्वकाल में देश को इंगलेण्ड के केन्द्रीय बैंक के पास इस संकट से निपटने के लिए स्वर्ण गिरवी रखना पड़ा था। विदेशी विनिमय के ऐसे घोर संकट से निजात पाने के लिए निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाना एकमात्र दीर्घकालिक उपाय है क्योंकि निर्यातों में वृद्धि कर पर्याप्त विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है।
2. **विदेशी ऋणों का भुगतान:** विकास परक आयातों के भुगतान तथा भुगतान संतुलन की असाम्यता कम अथवा समाप्त करने हेतु विकासशील राष्ट्रों को विदेशों से ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है। इन ऋणों के मूल धन एवं ब्याज का नियमित भुगतान करने हेतु विदेशी मुद्रा भण्डारों की आवश्यकता होती है जिसके लिए निर्यातों को प्रोत्साहित करना परमावश्यक है। अर्थ विशेषज्ञों के अनुसार किसी भी देश का ऋण सेवा अनुपात (Debt Servicing Ratio) उसकी कुल निर्यात आय का 20 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए, लेकिन यह तभी संभव है जब निर्यातों में येन-केन-प्रकारेण वृद्धि की जाए जो निर्यात संवर्द्धन उपायों के बिना संभव नहीं है।
3. **आयातों एवं आर्थिक विकास की वित्त व्यवस्था:** विकास की प्रक्रिया में प्रत्येक देश को उपभोग एवं विकास परक वस्तुओं के आयात की आवश्यकता होती है यथा मशीनरी, पूंजीगत सामग्री, कच्चा माल, प्रौद्योगिकी उपभोग वस्तुएं, तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाएँ इत्यादि। इन सबके आयात हेतु विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है। जिसे निर्यात संवर्द्धन द्वारा पूरा किया जा सकता है।
4. **व्यापार शेष एवं भुगतान शेष में असाम्यता को कम/समाप्त करना:** व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन में उत्पन्न घाटे को कम अथवा समाप्त करने लिए एकमात्र स्थायी समाधान निर्यात संवर्द्धन ही है। भारत सरीखे विकासशील राष्ट्रों के व्यापार एवं भुगतान संतुलन में प्रायः घाटा ही रहता है। जिसे निर्यातों को प्रोत्साहन देकर दूर किया जा सकता है।
5. **औद्योगिकीकरण व रोजगार वृद्धि:** निर्यात माल की पूर्ति नई औद्योगिक इकाईयों की स्थापना अथवा पुरानी इकाईयों का विस्तार करके करनी पड़ती है। इन दोनों स्थितियों में ही देश का औद्योगिकरण होता है और रोजगार के नये अवसरों का सृजन होता है। निर्यात संवर्द्धन प्रयत्नों के कारण देश में "निर्यातांन्मुख इकाईयों" की स्थापना को बल मिलता है।
6. **राष्ट्रीय आय व उत्पादन में वृद्धि:** निर्यातों को प्रोत्साहित करने से देश के माल की माँग विदेशों में बढ़ती है, फलस्वरूप वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन बढ़ाना लाजिमी हो जाता है। इस कारण से देश की राष्ट्रीय आय, उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि होती है।
7. **देश की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में सुधार:** निर्यात वस्तुओं की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में सुधार हेतु निर्यातकों को अनुसंधान एवं विकास (R&D) के द्वारा सतत् प्रयत्नशील रहना पड़ता है। जिससे न केवल प्रौद्योगिकी में सुधार होता है, वरन् नव-प्रवर्तन को भी प्रोत्साहन मिलता है।

8. **आत्मनिर्भरता:** विदेशी विनिमय क्षेत्र में आत्मनिर्भर होने के लिए देश के पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा भण्डार होने चाहिए। ज्ञातव्य है कि पर्याप्त विदेशी विनिमय अर्जन केवल निर्यातों को प्रोत्साहन देकर ही किया जा सकता है।
9. **विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना:** आधुनिक व्यावसायिक युग आज पहले से अधिक जटिल एवं प्रतिस्पर्धी हो गया है, फलस्वरूप निर्यातों को निर्यात संवर्द्धन प्रयत्नों (रियायतें एवं छूट) द्वारा प्रतिस्पर्धी बनाये रखना आवश्यक है।
10. **विदेशी व्यापार की सरंचना एवं दिशा में परिवर्तन:** निर्यात संवर्द्धन द्वारा एक देश अपनी वस्तुओं के निर्यातों में वृद्धि हेतु नये बाजारों की खोज करता है तथा नये-नये उत्पादों का विकास कर उनका निर्यात करने लगता है। इससे देश के विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा में परिवर्तन आता है, परिणामस्वरूप उसकी कुछ देशों पर तथा कुछ वस्तुओं के ही निर्यात करने पर निर्भरता समाप्त हो जाती है। भारत के निर्यातों की संरचना एवं दिशा में विगत वर्षों में हुआ परिवर्तन इसका जीवन्त उदाहरण है।
11. **अन्य (Other):** कूटनीतिक यात्राओं तथा विदेशी दूतावासों पर बढ़ते व्यय की पूर्ति, सामरिक सुदृढ़ता एवं आन्तरिक सुरक्षा हेतु आवश्यक साजसामान एवं उपकरणों के आयात के लिए भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पूर्वापेक्षा बढ़ गयी है जिसके अर्जन हेतु निर्यातों को प्रोत्साहन देना अनिवार्य हो गया है। आर्थिक अस्थिरता (विशेष कर मंदी) से निपटने के लिए भी देश के पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा भण्डार होने चाहिए अन्यथा देश आर्थिक दलदल में फँस सकता है। इसके लिए निर्यातों को प्रोत्साहन देना अथवा निर्यात संवर्द्धन आवश्यक हो जाता है।

17.4 भारत में निर्यात संवर्द्धन की आधारभूत संरचना

कार्यक्रम की सफलता के लिए निर्यात विपणन प्रयासों की महति भूमिका होती है। निर्यात विपणन प्रयासों को सुदृढ़ करने के लिए कुछ विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना करना आवश्यक होता है जो निर्यातों की वृद्धि हेतु आधारभूत संरचना का कार्य कर सके। इन विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना से निर्यात संवर्द्धन का वातावरण तैयार होता है तथा निर्यात संस्कृति की रचना होती है। जिसके आधार पर निर्यात विपणन प्रयासों को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सके। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने अनेक विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की है जिसका उद्देश्य विभिन्न निर्यात इकाईयों को सफल निर्यात प्रयास के लिए आवश्यक सेवा एवं सहायता प्रदान करना है। भारत सरकार ने उत्पाद/उद्योग स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों के निर्यातकर्ताओं की सहायता के लिए विशिष्ट प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की है। भारत सरकार ने निर्यात संवर्द्धन हेतु अलग-अलग स्तर की निम्नांकित 6 संस्थाएँ स्थापित की हैं :

1. **वाणिज्य विभाग:** शीर्ष स्तर पर वाणिज्य मंत्रालय का वाणिज्य विभाग है जिसका प्रमुख दायित्व व्यापार नीति की रचना करना तथा उसका पथ प्रदर्शन करना है।
2. **परामर्शदाता संगठन:** द्वितीय स्तर पर विवेचक तथा परामर्शदाता संगठन है। इन संगठनों की स्थापना इस बात को सिद्ध करती है कि सरकार तथा उद्योग जगत के बीच निर्यात समस्याओं के बारे में व्यापक एवं पारस्परिक विवेचना होती रहे तथा सरकार और उद्योग जगत के बीच भ्रम एवं अस्पष्टता की स्थिति न रहे।

3. **वस्तु विशिष्ट संगठन:** तृतीय स्तर पर वस्तु विशिष्ट संगठन है जो पृथक-पृथक वस्तुओं तथा अथवा वस्तु समूहों की समस्याओं को समझकर उनका निपटारा कर सके।
4. **सेवा संस्थाएँ:** चतुर्थ स्तर पर वे सेवा संस्थाएँ है जो निर्यातकर्ताओं को उनके परिचालन को प्रशस्त करने तथा विश्व बाजार में अधिक प्रभावी तरीके से प्रवेश करने में सुविधा एवं सहायता प्रदान करती हैं।
5. **सरकारी व्यापारिक संस्थाएँ:** पंचम स्तर पर वे सरकारी व्यापारिक संस्थाएँ आती हैं जिनकी स्थापना विशेष रूप से विशिष्ट वस्तुओं के निर्यात-आयात के संचालन हेतु की गयी हैं। ये संस्थाएँ निजी उद्योगों के निर्यात संवर्द्धन तथा निर्यात प्रबन्ध के क्षेत्र में किये गये निर्यात प्रयासों के पूरक के रूप में कार्य करती हैं।
6. **राज्य स्तरीय संस्थाएँ:** षष्टम स्थान पर राज्य स्तर पर निर्यात संवर्द्धन के लिए स्थापित एजेंसियाँ/संस्थाएँ आती हैं। इन संस्थाओं की स्थापना एवं परिचालन सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा किया जा जाता हैं।

सरकारी नीति-निर्धारण तथा परामर्श

निर्यात संवर्द्धन प्रयासों की सफलता निर्यात क्षेत्र में उपयुक्त एवं स्पष्ट सरकारी नीति तथा उसके प्रभावी क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार की बढ़ती हुई महत्ता को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने एक अलग मंत्रालय की स्थापना की। इस मंत्रालय का प्रमुख उत्तरदायित्व भारत में विदेशी व्यापार तथा इससे सम्बन्धित समस्त मुद्दों (निर्यात संवर्द्धन सहित) पर नीति निर्धारण करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत के हितों का संवर्द्धन करना है।

व्यापार मण्डल (Board of Trade): व्यापार मण्डल की स्थापना भारत सरकार द्वारा विदेशी व्यापार नीतियों तथा परिचालनों की समीक्षा करना, नियमित परामर्श करना तथा निगरानी (Monitoring) करने के लिए की गयी है। व्यापार मण्डल में वाणिज्य तथा केन्द्र सरकार के अन्य महत्वपूर्ण मंत्रालयों के प्रतिनिधि, व्यापार तथा उद्योग संघों एवं निर्यात सेवा संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं। व्यापार मण्डल विदेशी व्यापार का राष्ट्रीय स्तर का एक महत्वपूर्ण मंच है। इसकी बैठकों में सरकार, व्यापार एवं उद्योग जगत के बीच नियमित वार्ताएँ एवं विचार-विमर्श चलता रहता है। इस मंच पर हुए वार्ता-विवेचन के मंथन से जो विचार निकलते हैं, उससे सरकार को उपयुक्त नीति-निर्माण के क्षेत्र में तथा निवारणात्मक कदम उठाने में मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

निर्यात सम्बन्धी केबिनेट समिति (Cabinet Committee on Export): भारतीय निर्यातों से सम्बन्धी नीतियों के नियमित एवं प्रभावी निरीक्षण एवं निगरानी हेतु निर्यात सम्बन्धी केबिनेट समिति का गठन किया गया है।

सचिवों की अधिकृत समिति (Empowered Committee of Secretaries): त्वरित एवं शीघ्र निर्णय लेने के लिए तथा निर्यात सम्बन्धी समिति की सहायता के लिए सचिवों की एक अधिकृत समिति भी बनाई गई है।

विशिष्ट संगठनों की स्थापना (Establishment of Specialized Organization) :

निर्यात संवर्द्धन हेतु निम्नांकित पाँच प्रकार के विशिष्ट संगठनों की स्थापना भारत सरकार द्वारा की गयी है:

(I) **वाणिज्य मंत्रालय के अन्तर्गत संगठन:** भारत सरकार ने 1984 में मंत्रालयों का पुनर्गठन कर विदेशी व्यापार के नियंत्रण एवं विस्तार का कार्य वाणिज्य मंत्रालय के अधीन 'वाणिज्य विभाग' को सौंपा। वाणिज्य विभाग के अन्तर्गत अग्रांकित चार डिवीजनों की स्थापना की गयी:

1. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार डिविजन:** इसके अन्तर्गत गैट (GATT), अंकटाड (UNCTAD), विश्व व्यापार संगठन (WTO), एसकेप (ESCAPE), यूरोपीयन आर्थिक समुदाय (EEC) तथा राष्ट्र मण्डलीय व्यापार है।
2. **विदेशी व्यापार क्षेत्रीय डिवीजन:** इसके अधीन द्विपक्षीय समझौते, मेले तथा प्रदर्शनियों का आयोजन तथा व्यापारिक प्रचार-प्रसार का कार्य है।
3. **निर्यात उत्पाद डिवीजन:** इसके अन्तर्गत तीन कार्यात्मक डिवीजन निर्यात वस्तु डिवीजन, निर्यात उद्योग डिवीजन एवं निर्यात सेवाएँ डिवीजन आते है।
4. **संलग्न कार्यालय:** (i) आयात-निर्यात महानियंत्रक कार्यालय, (ii) वाणिज्य एवं सांख्यिकी निदेशालय, (iii) काण्डला स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र विकास आयुक्त तथा (iv) शान्तक्रुंज विद्युत निष्पादन क्षेत्र विकास आयुक्त

(II) **स्वायत्त संस्थाओं की स्थापना:** निर्यात संवर्द्धन हेतु जिन स्तायत्त संगठनों की स्थापना की गयी हैं, वे अग्रांकित हैं.

(i) **वस्तु मण्डल (Commodity Boards):** निर्यात प्रोत्साहन हेतु 9 विधि सम्मत वस्तु मण्डलों की स्थापना की गयी हैं। इनके नाम चाय, काफी, रबड़, नारियल, जूट, इलायची, दस्तकारी, हथकरघा तथा सिल्क बोर्ड है।

(ii) **निर्यात संवर्द्धन परिषदें (Export Promotion Councils):** विभिन्न वस्तुओं के निर्यातों को प्रोत्साहित करने हेतु 19 निर्यात संवर्द्धन परिषदों की स्थापना की गयी है। इन परिषदों का कार्य निर्यात संभावनाओं का पता लगाना, विपणन सहायता प्रदान करना, मेले व प्रदर्शनियों का आयोजना करना, उद्योगों के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में कार्य करना तथा उत्पादों/उद्योगों की सामयिक स्थिति की जानकारी रखना है। सेवाओं के निर्यात को प्रोत्साहित करने हेतु 2004-09 की निर्यात-आयात नीति के अन्तर्गत सेवा निर्यात संवर्द्धन परिषद की स्थापना की गयी है।

(iii) **निर्यात संवर्द्धन सलाहकार परिषद (Export Promotion Advisory Council):** निर्यात नीति की समीक्षा करने तथा केन्द्र सरकार को समय-समय पर आवश्यक सुझाव देने के लिए इस परिषद की स्थापना की गयी है।

(iv) **निर्यात संवर्द्धन निदेशालय (Directorate of Export Promotion):** निर्यातकों को आवश्यक सूचना देने, निर्देशन एवं सहायता करने तथा व्यापार मण्डल के सुझावों कों कार्यान्वित करने के लिए निर्यात संवर्द्धन निदेशालय की स्थापना की गयी। इसके चार क्षेत्रीय तथा तीन बन्दरगाह कार्यालय हैं।

(v) **भारतीय विदेशी व्यापार संस्थान (Indian Institute of Foreign Trade):** व्यापार विधियों का प्रशिक्षण, समस्याओं की खोज, विपणन सर्वेक्षण तथा अनुसंधान एवं

सूचनाओं का आदान-प्रदान करने के लिए भारत सरकार ने 1964 में इस संस्थान की स्थापना की थी।

(vi) **वस्तु मण्डल (Commodity Barots):** इस परिषद की स्थापना सन् 1963 में निर्यात किस्म नियंत्रण एवं निरीक्षण अधिनियम 1983 के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा जहाज लदान से पूर्व माल की गुणवत्ता की जाँच के लिए की गयी है। अब तक 1000 से भी अधिक वस्तुओं को किस्म नियंत्रण की दृष्टि से इस परिषद के अधीन लाया जा चुका है

(vii) **भारतीय पेकेजिंग संस्थान (Indian Institute of Packaging):** वस्तुओं की पेकिंग की गुणवत्ता में सुधार तथा इसमें लगने वाले श्रम, समय एवं धन की बचत करने की दृष्टि सें इस संस्था की स्थापना की गयी है।

(viii) **भारतीय पंच फैसला परिषद (Indian Council of Arbitration):** इस परिषद का गठन 1958 में निर्यातों से सम्बन्धित विवादों को आपसी सहमति से सुलझाने हेतु किया गया।

(ix) **व्यापार विकास प्राधिकरण (Trade Development Authority):** इस प्राधिकरण की स्थापना 1971 में नई दिल्ली में की गयी। इसका प्रमुख काम छोटे एवं मध्यम दर्जे के निर्यातकों को सहायता एवं प्रोत्साहन देना है।

(x) **भारतीय व्यापार मेला प्राधिकरण (Marine Product Export Development Authority):** इस प्राधिकरण की स्थापना 1977 में प्रदर्शनी एवं प्रचार निदेशालय, व्यापारिक मेला संगठन तथा मेलों एवं प्रदर्शनी परिषद का एकीकरण करके की गई। इसका प्रमुख कार्य विभिन्न वस्तुओं के मेले लगाकर उनके प्रचार-प्रसार द्वारा निर्यातों को बढ़ाना है।

(xi) **समुद्री उत्पाद निर्यात विकास प्राधिकरण (Marine Product Export Development Authority):** समुद्री पदार्थों, मछलियों तथा इनमें निर्मित उत्पादों के निर्यात को प्रोत्साहित करने हेतु इस प्राधिकरण का गठन किया गया। इसका प्रधान कार्यालय एर्नाकुलम में स्थापित किया गया।

(xii) **केन्द्रीय व्यापार सलाहकार परिषद (Central Trade Advisory Council):** यह परिषद 1978 में सरकार को निर्यात-आयात नीति कार्यक्रम, निर्यात-आयात नियंत्रण, निर्यात उत्पादन के विस्तार तथा व्यापारिक सेवाओं के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए स्थापित की गयी। इसे व्यापार मण्डल तथा व्यापार सलाहकार परिषद को भंग करके बनाया गया है।

(xiii) **भारतीय मानक संस्थान (Indian Standard Institute-ISI):** यह निर्यात माल का राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करने वाली संस्था है।

(xiv) **टेक्सटाइल कमेटी, मुम्बई:** इसकी स्थापना सूती वस्त्र, धागों, सूत आदि की जहाल लदान से पूर्व गुणवत्ता की जांच के लिए की गयी है।

(III)सार्वजनिक क्षेत्र में व्यापारिक उपक्रमों की स्थापना (Establishment of Public Sector trading undertaking): निर्यात संवर्द्धन हेतु भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में निम्नलिखित महत्वपूर्ण व्यापारिक उपक्रमों की स्थापना की है।

(i) **राज्य व्यापार निगम:** इस निगम की स्थापना विदेशी व्यापार को गति प्रदान (विशेषकर समाजवादी देशों में निर्यात बढ़ाने के लिए) करने तथा नियंत्रण करने के लिए की गयी। इस निगम के अन्तर्गत अग्रांकित सहायक कम्पनियाँ निर्यात वृद्धि हेतु प्रयत्नरत हैं :
(अ) भारतीय काजू निगम (ब) दस्तकारी एवं हाथकरघा निगम (स) परियोजना एवं उपकरण निगम (द) रसायन एवं औषधि निगम (य) केन्द्रीय कुटीर उद्योग निगम तथा (र) भारतीय चल-चित्र निर्यात संवर्द्धन निगम।

(ii) **चाय व्यापार निगम:** इस निगम की स्थापना 1971 में चाय के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए की गयी।

(iii) **खनिज एवं धातु व्यापार निगम:** इस निगम की स्थापना 1963 में देश में खनिजों एवं धातुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए की गयी। यह निगम धातुओं के आयात एवं वितरण का कार्य भी करता है।

(iv) **अभ्रक व्यापार निगम:** इस निगम की स्थापना 1972 में अभ्रक के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए की गयी।

(IV) निर्यात वित्त एवं गारण्टी हेतु संस्थाएँ (Institute for Export Finance & Guarantee)

निर्यात क्षेत्र को समुचित मात्रा में साख सुविधा उपलब्ध करवाने एवं गारण्टी देने हेतु निम्नांकित संस्थाओं की स्थापना की गयी:

(i) निर्यात साख एवं गारण्टी निगम (ECGC)
(ii) निर्यात-आयात बैंक (EXIM-BANK)
(iii) विपणन विकास निधि
(iv) राष्ट्रीयकृत बैंकों की अल्पकालीन वित्त व्यवस्था,
(v) रियायती ब्याज दरों पर ऋण प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाएँ।

(V) सलाहकार संस्थाओं की स्थापना (Establishment of Advisory Bodies)

विदेशी व्यापार क्षेत्र में (विशेषकर निर्यात संवर्द्धन हेतु सलाह देने हेतु भारत सरकार द्वारा निम्नांकित निकायों संस्थाओं की स्थापना की गयी है:

(i) केन्द्रीय व्यापार सलाहकार परिषद,
(ii) क्षेत्रीय आयात-निर्यात सलाहकार समितियाँ
(iii) निर्यात संवर्द्धन सलाहकार परिषद,
(iv) विभिन्न प्रकार के व्यापार राहों की स्थापना - व्यापार गृह, स्टार व्यापार गृह एवं सूपर स्टार व्यापार गृह आदि।

उपर्युक्त संस्थाओं की स्थापना के अतिरिक्त भारत सरकार ने निर्यात वृद्धि हेतु निर्यात सदनों को मान्यता प्रदान की तथा परिवहन के क्षेत्र में उड्डयन, जहाजरानी एवं रेलवे स्थायी समितियों की स्थापना की।

17.5 भारतीय निर्यात साख एवं गारण्टी निगम लिमिटेड की स्थापना एवं उद्देश्य

भारतीय निर्यात साख एवं गारण्टी निगम को संक्षेप में ईसीजीसी (ECGC) कहते है, इसलिए हम आगे इस शब्द का प्रयोग करेंगे। ईसीजीसी की स्थापना वस्तुतः 1983 में निर्यात साख एवं गारण्टी निगम लिमिटेड" का नाम बदलकर की गयी। ईसीजीसी भारत की पूर्ण स्वामित्व वाली कम्पनी है। इसका प्रशासनिक नियंत्रण वाणिज्य मंत्रालय के अन्तर्गत विदेशी व्यापार विभाग का है। स्थापना के समय इसकी अधिकृत पूँजी 5 करोड़ रू थी जो 1997-98 में 150 करोड़ रू कर दी गयी।

निगम का मुख्यालय मुम्बई में है और इस का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा होता है। संचालक मण्डल में एक अध्यक्ष एवं प्रबन्ध संचालक होता है तथा कम से कम तीन तथा अधिक से अधिक तेरह संचालक हो सकते हैं। संचालक मण्डल में भारत सरकार, बैंक, बीमा, वाणिज्य एवं उद्योग जगत के प्रतिनिधि निदेशक के रूप में होते हैं। निगम के 5 क्षेत्रीय कार्यालय और 22 शाखा कार्यालय हैं।

ईसीजीसी की स्थापना का मुख्य उद्देश्य देश के निर्यातकों को निर्यात साख बीमा की सुविधा प्रदान करना है। आधुनिक प्रतिस्पर्धी युग में निर्यायतकों को साख पर माल बेचने की विवशता होती है जिसमें अनेक प्रकार की जोखिम होती है। इन जोखिमों को निर्यात साख बीमा द्वारा काफी हद तक कम किया जा सकता है।

17.6 ईसीजीसी के कार्य

ईसीजीसी द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यो को निम्नांकित तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(i) **निर्यात साख बीमा प्रदान करना -** विशेषकर जो वाणिज्यिक बीमा कम्पनियों द्वारा प्रदान नहीं की जाती। निगम के इस कार्य से निर्यातक निःसंकोच होकर अपना माल विदेशों में निर्यात कर सकते हैं।

(ii) बैंक गारण्टी प्रदान करना ताकि निर्यातकों को आसानी से साख उपलब्ध हो सके।

(iii) निर्यात संवर्द्धन के वे सभी कार्य करना जो सरकार द्वारा इसे निर्यात वृद्धि हेतु समय-समय पर बताए जाते है। निगम का संचालन "न लाभ न हानि" के व्यावसायिक सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। यही कारण है कि ईसीजीसी बीमा तथा गारण्टियों पर न्यूनतम दरों पर प्रीमियम वसूल करता है।

17.7 ईसीजीसी की कार्य प्रणाली

ईसीजीसी के संचालन के दो आधारभूत सिद्धान्त हैं। प्रथम, जोखिमों को वितरित कर देना ताकि प्रीमियम की दरों को यथा संभव न्यूनतम रखा जा सके। द्वितीय, आयातकर्ता एक सह बीमाकर्ता होता है अर्थात माल के क्रेता (आयातकर्ता) के द्वारा बीमा अनुबन्ध के दायित्वों को पूरा करने से मना करने पर ही निर्यातकर्ता को हुई हानि का ईसीजीसी अधिकतम 90 प्रतिशत तक ही क्षतिपूर्ति करता है।

बीमा पॉलिसी प्राप्त करने की कार्यविधि: निर्यातकर्ता को निगम के सभी कार्यालयों में उपलब्ध प्रस्ताव पत्र फार्म (सं.121) को पूरी तरह भरकर किसी निकटतम कार्यालय में प्रस्तुत करना चाहिए। निगम प्रस्ताव पत्र की जाँच करने के पश्चात् निर्यातकर्त्ता को अपनी रक्षा की शर्तों तथा प्रीमियम की दरों का उल्लेख करते हुए स्वीकृति पत्र भेजेगा। निर्यातक द्वारा प्रीमियम की दरों की स्वीकृति की सूचना देने और निर्धारित शुल्क (न्यूनतम 7500/ - रू) जमा करने के पश्चात् उसे पॉलिसी जारी की जाती है। निगम द्वारा वसूल की जाने वाली प्रीमियम की दरें जोखिम से सम्बद्ध हैं तथा ये निम्नांकित घटकों पर निर्भर करती हैं-

(i) साख की समय सीमा (ii) भुगतान की शर्तें (iii) आयातकर्ता की साख योग्यता एवं उसका देश (iv) निर्यातकर्ता का विगत आलेख (Past Record).

ईसीजीसी सामान्यत: प्रत्येक पॉलिसी वर्ष में प्रत्येक पोत लदान के सम्बन्ध में अपने दायित्व की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देता है। अत: प्रत्येक निर्यातकर्ता के लिए यह ठीक रहता है कि वह पॉलिसी अवधि के किसी भी समय आयातकर्ताओं से प्राप्त होने वाली अधिकतम बकाया राशि का आकलन कर ले तथा इस राशि के लिए अधिकतम देनदारी (Maximum Liability) की पॉलिसी प्राप्त कर ले। पॉलिसी के अन्तर्गत आवश्यकता होने पर अधिकतम देनदारी की राशि को बाद में भी बढ़ाया जा सकता है।

दावा पेश करने की कार्यविधि (Procedure for Making a Claim) -

पॉलिसी के अधीन बीमाकृत जोखिमों में से किसी जोखिम के उत्पन्न होने पर दावा उत्पन्न होता है। यदि कोई आयातकर्ता दिवालिया हो जाता है तो निर्यातक को उसकी सम्पत्ति में से अपनी हानि के लिए कानूनी रूप से दावेदार स्वीकार कर लिये जाने के एक माह बाद अथवा नियत तिथि के चार माह के बाद (इनमें से जो पहले हो) निर्यातक दावा करने के लिए पात्र हो जाता है। भुगतान नियत तिथि के चार माह बाद किया जाता है। भारत के बाहर यात्रा में अवरोध उत्पन्न होने अथवा मार्ग परिवर्तन के कारण निर्यातक द्वारा माल की ढुलाई, परिवहन अथवा प्रचार के सम्बन्ध में किये गये अतिरिक्त व्यय की अदायगी हानि का प्रमाण पत्र प्रस्तुत किये जाने पर की जाती है। अन्य सभी मामलों में दावे की अदायगी उत्पन्न करने वाली घटना होने की तिथि से चार माह पश्चात् की जाती है। परन्तु जिन देशों के अन्तरण के मामले में विलम्ब की अवधि लम्बी होती है, उन देशों को किये जाने वाले निर्यातों के सम्बन्ध में निगम प्रतीक्षा की अवधि बढ़ा सकता है तथा ऐसे पोत लदानों के लिए दावों की अदायगी ऐसी बढ़ायी गयी अवधि के समाप्ति के बाद की जाती है।

जहाँ निर्यातक द्वारा संविदा की शर्तों की पूर्ति के सम्बन्ध में मतभेद होने, प्रति दावा किये जाने अथवा मुआवजा माँगने के कारण आयातकर्ता माल स्वीकार नहीं करता या उसके लिए रकम अदा नहीं करता, वहाँ निगम पक्षकारों के बीच विवाद का समाधान हो जाने और क्रेता के देश में किसी न्यायालय की डिक्री प्राप्त हो जाने के पश्चात् देय राशि निश्चित हो जाने पर दावों पर विचार करता है। जिन मामलों में निगम इस बात से संतुष्ट हो कि निर्यातक का कोई दोष नहीं है और आयातकर्त्ता के विरूद्ध कार्यवाही करने से कोई लाभ नहीं होगा, ऐसे मामलों में इस शर्त से छूट दी जाती है।

कार्यविधि सम्बन्धी औपचारिकताएँ (Procedural Formalities)

ईसीजीसी के पास निम्नांकित तीन प्रकार के दावे फार्म हैं:

(i) **फॉर्म संख्या 501:** इसका उपयोग आयातकर्ता द्वारा स्वीकार किये गये माल की कीमतों का भुगतान न करने की स्थिति में किया जाता है।

(ii) **फॉर्म संख्या 502:** इसका उपयोग आयातकर्ता द्वारा माल प्रलेखों के स्वीकार न करने पर किया जाता है।

(iii) **फॉर्म संख्या 503:** इसका उपयोग उस स्थिति में किया जाता है जब विक्रय राशि का हस्तान्तरण भारत में करने में विलम्ब होता है।

उक्त तीन प्रकार के दावों से भिन्न दावे एक पत्र के रूप में पेश किये जा सकते हैं, जिसमें दावे के कारणों का पूरा विवरण तथा हुई हानि का भी उल्लेख होना चाहिए। ऐसे दावे निगम के उसी कार्यालय में प्रस्तुत किये जाने चाहिए जिसने पॉलिसी का निर्गमन किया है या फिर दावे का फार्म उसे बैंक द्वारा भेजा जाना चाहिए जिसने सम्बद्ध निर्यात बिल का क्रियान्वयन किया है।

दावे के समर्थन में प्रलेख (Documents in Support of Claim) -

प्रत्येक दावे के समर्थन में प्रलेखीय साक्ष्य होना अनिवार्य है। प्रत्येक दावे के साथ निम्नांकित महत्वपूर्ण प्रलेख लगाये जाने आवश्यक है:

(i) निर्यात आदेश की प्रमाणित प्रति है। (ii) बीजकों की प्रमाणित प्रतियाँ (iii) जहाजी बिल्टी की प्रमाणित प्रति (iv) क्रेता के साथ हुए पत्रव्यवहार की प्रति (v) क्रेता के दिवालिया हो जाने की स्थिति में अधिकारिक निवारक ()Official Receiver) परिसमायक (Liquidator) से पत्र की प्रतिलिपी जिसमें दावे को स्वीकृत किया जाता है (iv) दीर्घ बाकी राशि (Protracted Default) की स्थिति में विरोध पत्रक, भुगतान किये गये बिलों की मूल प्रतियाँ, बैंक से प्राप्त वह पत्र जिसमें भुगतान न होने के बारे में सूचना दी गयी है और यदि मुकदमा दायर किया गया है तो मुकदमा का वादी पत्र (Copy of Plaintive) (vii) यदि हस्तान्तरण विलम्ब से हुआ है, तो भुगतान सम्बन्धी पत्र की प्रमाणित प्रति जो संग्राहक बैंक से प्राप्त की गयी हो तथा जिसमें यह उल्लेख किया हो कि क्रेता द्वारा स्थानीय मुद्रा में किस तिथि को भुगतान किया गया है।

निगम द्वारा सभी दावों का भुगतान भारतीय मुद्रा में उस बैंक द्वारा किया जाता है जिसने सम्बद्ध बिलों का क्रियान्वयन किया है।

ईसीजीसी द्वारा निर्गमित निर्यात साख बीमा पॉलिसियाँ

ईसीजीसी निर्यातकों को निर्यात व्यापार की विभिन्न प्रकार की जोखिमों से सुरक्षा प्रदान करने के लिए निम्नांकित बीमा पॉलिसियाँ निर्गमित करता है:

(i) **मानक पॉलिसियाँ (Standard Policies):** ये निर्यातकों को भुगतान के जोखिम से बचाने के लिए जारी की जाती हैं।

(ii) **विशिष्ट पॉलिसियाँ (Special Policies):** इनका उद्देश्य भारतीय फर्मों को भुगतान सम्बन्धी जोखिमों से बचाना है, जो इस प्रकार है: (अ) भुगतान स्थगन की शर्तें (ब) विदेशी पक्षों को प्रदान किये गये सेवा स्त्रोत (स) निर्माण कार्य तथा विदेशों में लिये गये टर्न की प्रोजेक्ट (Turn Key Project-TKP)

(iii) **लघु निर्यातक पॉलिसियाँ (Small Export Policies):** ये मूल रूप से मानक पॉलिसियाँ ही हैं जो लघु निर्यातकों को जारी की जाती है। ये उन निर्यातकों को जारी की जाती है जिनका अगले एक वर्ष के लिए अनुमोदित पण्यावर्त 25 लाख रू से अधिक न हो।

(iv) **सेवाएँ तथा निर्माण कार्य पॉलिसियाँ (Services and construction policies):** सेवा पॉलिसियाँ भारतीय फर्मों को प्रदान की जाती है जो विदेशी पक्षकारों को अपनी सेवाएँ प्रदान करती है तथा जिन्हें भुगतान जोखिमों का सामना करना पड़ता है। निर्माण कार्य पॉलिसी उन संविदाकत्ताओं को भुगतान के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए जारी की जाती है जो विदेशों में सिविल निर्माण कार्य करते है।

(v) **वित्तीय गारण्टी (Financial Guarantee):** ये उन बैंकों को प्रदान की जाती है जो निर्यातकों को माल के पोत लदान पूर्व तथा पश्चात वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं।

(vi) **विशेष योजनाएँ (Special Schemes):** जैसे हस्तान्तरण आश्वासन जिसका आशय बैंकों को सुरक्षा प्रदान करना है, जो विदेशी बैंकों द्वारा कार्यगत किये गये साख पत्रों क्रेता साख हेतु बीमा के बचाव पत्र, साख लाइन पत्र, विदेशी निवेश बीमा तथा विनिमय उच्चावचन जोखिम बीमा पत्रों को अपनी संतुष्टि प्रदान करते है।

उक्त वर्णित पॉलिसियाँ बीमाकर्ता को राजनीतिक जोखिम (Political Risks), वाणिज्यिक जोखिम (Commercial) तथा व्यापक जोखिम (Comprehensive Risks) से सुरक्षा प्रदान करती है।

ईसीजीसी ने 30 जुलाई 2007 को अपनी स्थापना के 50 वर्ष पूरे कर लिए है। इन 50 वर्षो में निगम ने अपने कार्यो में महत्वपूर्ण प्रगति की है। 31 मार्च 2007 को निगम के कार्यो के बारें में प्रमुख समंक अग्रांकित तालिका में दर्शाये गये है:

क्र. स. विवरण	**संख्या**
1. बीमा पॉलिसियाँ (Insurance Covers)-	6165
2. जहाजी प्रेषाएँ (Shipments Covered)-	3,80,600
3. क्रेता संरक्षित (Buyers Covered)-	48,463
4. देश संरक्षित (Countries Covered)-	195
5. बैंक जिन्हें निर्यात साख बीमा प्राप्त है (Banks having export Credit insurance cover)-	66
6. बैंक शाखाएँ जो निगम से लेन-देन करती हैं(Banks Branches dealing with ECGC)-	4045
7. निर्यातक जिन्हें बैंकों से वित्त प्राप्त हुआ तथा निगम द्वारा संरक्षित (Exporters Financed by Banks and Covered by ECGC)-	18053

- निगम द्वारा विगत 50 वर्षो में 34,00,000 करोड़ रू की जोखिम का बीमा किया है।
- निगम के पास 3 लाख विदेशी क्रेताओं के बारे में समंक व सूचना उपलब्ध है।
- निगम ने ग्राहक सन्तुष्टि 1-10 तक के स्केल पर 8 अंक प्राप्त किये हैं।

– निगम विश्व में निर्यात व्यापार की जोखिम उठाने वाली पाँचवी सबसे बड़ी संस्था है।

17.8 सारांश

निर्यात वृद्धि हेतु किये जाने वाले समस्त शासकीय एवं गैर-शासकीय प्रयासों को निर्यात संवर्द्धन की, संज्ञा दी जाती है। आधुनिक वैश्विक प्रतिस्पर्धा के परिप्रेक्ष्य में निर्यात संवर्द्धन प्रत्येक देश की वाणिज्यिक नीति का अपरिहार्य अंग बन गया है। विदेशी विनिमय संकट से मुक्ति, विदेशी कर्जों का भुगतान, आवश्यक आयातों का वित्त पोषण, व्यापार शेष के घाटे की पूर्ति, राष्ट्रीय आय, उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि, देश की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति में वृद्धि इत्यादि ने निर्यातों को प्रोत्साहित करना आवश्यक बना दिया है। भारत में निर्यात संवर्द्धन की आधारभूत संरचना अलग-अलग स्तर पर 8 प्रकार की संस्थाओं से निर्मित है। इनमें 5 केन्द्र सरकार के स्तर की है तथा एक राज्य स्तरीय संस्थाओं का है। देश में निर्यात संवर्द्धन हेतु पाँच प्रकार के विशिष्ट संगठनों की स्थापना की गयी है। इनमें वाणिज्य मंत्रालय के अधीन संगठन, स्वायत्त संस्थाओं की स्थापना, सार्वजनिक क्षेत्र में व्यापारिक उपक्रमों की स्थापना, निर्यात वित्त एवं गारण्टी हेतु संस्थाएँ एवं सलाहकार संस्थाओं की स्थापना सम्मिलित है।

ईसीजीसी की स्थापना देश के निर्यातकों को निर्यात साख बीमा की सुविधा प्रदान करने के लिए की गयी। इसकी स्थापना से निर्यातकों को निर्यात व्यापार में सन्निहित राजनीतिक, वाणिज्यिक एवं व्यापक जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा कवच प्राप्त हो सका है। निगम का मुख्य कार्य निर्यात साख बीमा एवं बैंक गारण्टी प्रदान करना है। ईसीजीसी विभिन्न प्रकार की पॉलिसियाँ निर्गमित कर निर्यातकों को अनेक प्रकार की जोखिमों से मुक्ति प्रदान करती है। निगम ने अपने 50 साल के कार्यकाल में उल्लेखनीय प्रगति की है। निगम की कार्यप्रणाली सुव्यवस्थित, पारदर्शी एवं लाभप्रद रही है।

17.9 शब्दावली

- **निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion) :** निर्यात वृद्धि के समस्त प्रयत्नों का सामूहिक नाम निर्यात संवर्द्धन है।
- **विकास परक आयात (Development Oriented Imports) :** इन्हें विकास मूलक आयात भी कहते हैं। जो आयातित वस्तुएं विकास को प्रोत्साहित करती हैं, उन्हें इस श्रेणी में रखा जाता है, यथा कच्चा माल, पूँजीगत सामग्री, प्रौद्योगिकी इत्यादि।
- **व्यापार शेष/संतुलन (Balance of Trade) :** दृश्य निर्यातों व आयातों के अन्तर को व्यापार संतुलन कहा जाता है। सूत्र रूप मे, X-M=Balance of Trade
- **भुगतान शेष/संतुलन (Balance of Payments) :** एक देश की कुल प्राप्तियों (R) तथा कुल दायित्वों (P) का अन्तर भुगतान संतुलन कहलाता है। यह एक देश के शेष विश्व के साथ किये गये आर्थिक व्यवहारों का लेखा-जोखा होता है।
- **निर्यात साख बीमा (Export Credit Insurance) :** यह निर्यातकों द्वारा साख पर बेचे गये माल का बीमा होता है जो निर्यातकों को भुगतान सम्बन्धी जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है।

- **ईसीजीसी (ECGC):** इसका पूरा नाम भारतीय निर्यात साख एवं गारण्टी निगम लिमिटेड है। इसका मुख्य कार्य निर्यातकों को निर्यात साख बीमा प्रदान करना है।

17.10 स्व-परख प्रश्न

1. निर्यात साख बीमा का महत्व बताइए।
2. भारतीय निर्यात साख गारण्टी निगम के कार्य स्पष्ट कीजिए।
3. ईसीजीसी की कार्यप्रणाली पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
4. ईसीजीसी द्वारा निर्गमित की जाने वाली विभिन्न बीमा पॉलिसियों का वर्णन कीजिए।
5. भारत में निर्यात संवर्द्धन की आधारभूत संरचना पर प्रकाश डालिए।
6. निर्यात संवर्द्धन से आप क्या समझते है? इसकी आवश्यकता एवं महत्व को प्रतिपादन कीजिए।

17.11 सन्दर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, सिंह एवं गुप्ता : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त, अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर

सिंहाई, जी.सी. : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा

मिथानी,डी.एम. : मुद्रा, बैंकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई

इकाई-18 : विदेशी विनियोग नीति-भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति

(Foreign Investment Policy - Present Scenario of Foreign Trade in India)

इकाई की रूपरेखा-

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 विदेशी विनियोग नीति का अर्थ

18.3 भारत की विदेशी विनियोग नीति

18.4 भारत में विदेशी निवेश अन्तर्प्रवाह

18.5 द्विपक्षीय व बहुपक्षीय व्यापार

18.6 भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

18.9 स्व-परख प्रश्न

18.10 संदर्भ ग्रन्थ

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के पश्चात आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- विदेशी विनियोग नीति का अर्थ जान सकेंगे
- भारत की वर्तमान विदेश नीति से अवगत हो सकेंगे।
- द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार का आशय समझ सकेंगे।
- भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

इंग्लैण्ड को छोड़ कर विश्व अर्थव्यवस्था में संभवतः ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि किसी राष्ट्र ने बिना विदेशी पूंजी की सहायता से अपना आर्थिक विकास किया हो। विश्व के प्रायः प्रत्येक राष्ट्र ने अपनी विकास प्रक्रिया में किसी न किसी रूप में तथा किसी न किसी सीमा तक विदेशी सहायता प्राप्त की है। यह बात अलग है कि अन्यान्य कारणों की वजह से विभिन्न राष्ट्रों की विदेशी पूंजी पर निर्भरता भिन्न-भिन्न रही है। परन्तु इस महत्वपूर्ण तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विदेशी पूंजी ने विश्व के अनेक देशों के आर्थिक विकास और औद्योगीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे यह बात स्वत: ही सिद्ध हो जाती है कि किसी देश के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी के योगदान से इन्कार नहीं किया जा सकता। चीन और भारत में बढ़ते विदेशी पूंजी प्रवाह से न केवल इन अर्थव्यवस्थाओं का भला हो रहा है, वरन् इससे इन देशों के

विकास को भी बल मिला है। इस इकाई में हम भारत की वर्तमान विदेशी विनियोग नीति का अध्ययन करेंगे।

वैश्वीकरण के वर्तमान युग में बहुपक्षीय व्यापार का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जबकि द्विपक्षीय व्यापार का महत्व कम होता जा रहा है। वैसे भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक, वित्तीय एवं व्यापार से सम्बन्धित संस्थाओं का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य विश्व के राष्ट्रों के बीच बहुपक्षीय व्यापार को प्रोत्साहित करना रहा है। बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली से न केवल विदेशी व्यापार त्वरित गति से बढ़ रहा है, बल्कि इससे सम्पूर्ण वैश्विक समुदाय को सस्ती एवं अच्छी वस्तुएं भी प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से इसका अध्ययन समाचीन/समसामयिक है। विगत वर्षो में भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, संरचना एवं दिशा में भारी परिवर्तन हुए हैं। इसलिए इन सब परिवर्तनों के बारे में वस्तुपरक एवं तथ्यात्मक जानकारी करना आवश्यक हो जाता है। इस इकाई में हम भारत के विदेशी व्यापार के बारे में अध्ययन कर जानकारी प्राप्त करेंगे।

18.2 विदेशी विनियोग नीति का अर्थ

किसी देश की विदेशी पूँजी के विनियोग के प्रति जो नीति एवं दृष्टिकोण होता है उसे ही विदेशी विनियोग नीति के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए भारत में विदेशी पूंजी विनियोग के प्रति भारत सरकार की जो नीति है वही भारतीय विदेशी विनियोग नीति कहलायेगी। विदेशी पूंजी विनियोग से जहाँ एक तरफ किसी देश को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से सभी देशों को विदेशी पूंजी के सकारात्मक प्रभावों को यथा संभव अधिकतम एवं नकारात्मक प्रभावों को न्यूनतम रखना है एक देश को अपनी विदेशी विनियोग नीति के अभाव में विदेशी पूंजी के अन्तर्प्रवाह में अनेक बाधाऐं आती हैं। उसके विभिन्न क्षेत्रों के निवेश के बारे में संशय बना रहता है। जो न देश हित में होता है और न ही विदेशी विनियोगकर्ता के हित में।

18.3 भारत की विदेशी विनियोग नीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात अनेक वर्षा तक विदेशी पूजी की भूमिका के प्रति देश की सरकार ने कोई विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। अप्रेल 1948 में भारत सरकार ने ओद्यगिक नीति प्रस्ताव में औद्योगीकरण के लिए विदेशी पूंजी की उपयोगिता को तो स्वीकारा किन्तु साथ में इस बात पर भी जोर दिया कि जिन इकाईयों में विदेशी पूंजी निवेश की अनुमति दी जायेगी उनके स्वामित्व एवं प्रबंध में विदेशी हितों की प्रधानता नहीं रहनी चाहिए और साथ में ही जिन उद्योगों में विदेशी तकनीशियनों की सेवाऐं ली गयी हों उनमें भारतीयों को प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि ये याद में चलकर विदेशी विशेषज्ञों का स्थान ले सके। उस नीति के प्रति विदेशी विनियोग कर्ताओं के विरोध के चलते 6 अप्रेल 1949 को पं नेहरू ने संसद में उस नीति को स्पष्ट करते हुए विदेशी पूंजीपतियों कों निम्नलिखित के बारे में आश्वस्त किया -

(अ) भारत सरकार स्वदेशी व विदेशी पूंजी में भेदभाव नहीं करेगी।

(ब) विदेशी हितों को भारत में लाभ कमाने के पूरे अवसर दिये जायेंगे तथा विदेशी विनियोजकों को विदेशी विनिमय की स्थिति को देखते हुए लाभ व पूजी को वापस ले जाने की सुविधा दी जायेगी।

(स) यदि भारत सरकार किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करती है तो निवेशकों को उचित हर्जाना दिया जायेगा।

आगे चल कर 2 जून, 1950 के घोषणा पत्र के द्वारा भारत सरकार ने विदेशी निवेशकों को यह आश्वासन दिया कि उनके द्वारा 1 जनवरी 1950 के पश्चात् किये गये पूंजी निवेश (लाभ के पुनर्निवेश सहित) को वापस ले जा सकेंगे। इस नीति घोषणा के पश्चात् विदेशी विनियोग नीति के प्रति संशय के बादल छंटने लगे। फलस्वरूप विदेशी पूंजी निवेश को बल मिला। सरकार द्वारा जुलाई 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति में विदेशी पूंजी निवेश को अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिये गये। उस नीति के पूर्व विदेशी निवेश की अनुमति आमतोर पर उन्हीं क्षेत्रों मे दी जाती थी जिसमें निवेश हेतु घरेलू पूंजी की कमी थी। इसके अलावा व्यापारिक क्षेत्रों में बैंकिंग व वित्तीय संस्थाओं में विदेशी निवेश की अनुमति उन क्षेत्रों में भी नहीं दी जाती थी जिन्हें सरकारी संरक्षण प्राप्त था और जो देश के मूलभूत सामाजिक महत्व के थे। सरकार की नीति उपभोग वस्तुओं के क्षेत्र में विदेशी निवेश को हतोत्साहित करने की थी परन्तु उसका कड़ाई से पालन नहीं किया गया। विदेशी निवेश की अनुमति केवल उन्हीं क्षेत्रों को प्रदान की गई जिनसे या तो निर्यात संवर्द्धन होता हो या फिर आयात प्रतिस्थापन। सरकार ने उन क्षेत्रों में भी यह शर्त रखी थी कि जिन उद्योगों में विदेशी निवेश की अनुमति दी जायेगी उनका स्वामित्व एवं प्रभावी नियंत्रण भारतीयों के हाथों में होगा (परन्तु इस शर्त में अक्सर ढील दी गई)। जिन क्षेत्रों में कुशल एवं अनुभवी भारतीयों की कमी के कारण विदेशी विशेषज्ञों व प्रबंधकों को काम करने की छूट थी उनमें भी यह व्यवस्था की गई कि भारतीयों को यथाशीघ्र प्रशिक्षण देकर उन्हें विदेशियों की जगह नियुक्ति दी जाये।

विगत कुछ वर्षो में अनिवासी भारतीयों के निवेश को प्रोत्साहन देने हेतु कई प्रकार की रियायतें प्राथमिकता वाले उद्योगों में निम्न कर दरों, कुछ अवधि तक नई स्थापित इकाईयों के लाभों पर कर छूटो जैसी सुविधाओं की घोषणा की गई। परन्तु सबसे क्रांतिकारी परिवर्तन तो जुलाई 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति से आया। जिसके कारण विदेशी विनियोग नीति पूरी तरह बदल गई और विदेशी निवेश के बारे में हमारी सोच में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। उस नीति में विदेशी निवेश की विकास प्रक्रिया में सकारात्मक भूमिका को दृष्टिगत रखते हुए उसे प्रोत्साहित करने के लिए अनेक कदम उठाये गये। उस नीति का घोषणा के पश्चात भी कुछ और रियायतों व छूटो की घोषणा की गई। वर्तमान में निर्धारित सीमाओं के भीतर अर्थव्यवस्था के प्रायः सभी क्षेत्रों में विदेशी पूंजी निवेश की पूरी छूट है। केवल कुछ एक क्षेत्रों में ही विदेशी निवेश पर प्रतिबन्ध है। अधिकतर क्षेत्रों, उद्योगों के लिए अब स्वतः अनुमोदन की व्यवस्था है। अतः सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।

जुलाई 1991 की नई औद्योगिक नीति में तथा उसके पश्चात् (1991-2009) तक विदेशी पूंजी को देश में आकर्षित करने के लिए जो कदम उठाये गये उनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं -

(1) **उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों की सूची-** 1991 में भारत सरकार ने उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों (जिसमें विशाल निवेश ओर जटिल प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होती है) की एक सूची तैयार की जिसमें सीधे निवेश के लिए 51 प्रतिशत समता अंश पूंजी की अनुमति प्रदान की गई उन उद्योगों में मुख्यतः पूंजीगत सामग्री निर्माण करने वाले उद्योग, इलेक्ट्रोनिक वस्तुएं बनाने वाले उद्योग तथा निर्यातोन्मुखी उद्योग सम्मिलित.

है। उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगो में विदेशी निवेश की सीमा को बाद मे चल कर 74 प्रतिशत तथा कई उद्योगों में 100 प्रतिशत कर दिया गया। इसके अलावा कई और उद्योगों को भी उस सूची में सम्मिलित किया गया।

(2) **सेवा क्षेत्रों में विनियोग-** 1991 से पूर्व सरकार होटलों के अलावा अन्य सेवा क्षेत्रों में विदेशी अंश पूंजी सहभागिता को हतोत्साहित करती रही है। 1991 की नीति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक कंपनियों द्वारा 51 प्रतिशत तक विदेशी अंश पूंजी को अनुमति दी गई तथा होटलों के साथ-साथ अन्य संबधित क्षेत्रों जैसे पर्यटन से सम्बन्धित क्षेत्रों में भी 5 व प्रतिशत अंश पूंजी भागीदारी को अनुमति दी गई।

(3) **विशेषाधिकार प्राप्त बोर्ड का गठन-** बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय फर्मों के साथ बातचीत करने के लिए एक विशेषाधिकार प्राप्त बोर्ड का गठन किया गया जो चुने हुए क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का मूल्यांकन व अनुमोदन करेगा।

(4) **विदेशी तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाएँ-** 1991 की नीति से पूर्व विदेशी तकनीकी विशेषज्ञों को प्राप्त करने तथा देश में विकसित प्रोद्योगिकी की जाँच करने हेतु सरकार की पूर्व अनुमति लेनी होती थी उसके कारण अनावश्यक विलम्ब होता था। इसलिए सरकार ने पूर्व स्वीकृति लेने की शर्त को हटा दिया।

(5) **विद्युत उत्पादन क्षेत्रों में विदेशी विनिमय-** उस क्षेत्र में विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए शत-प्रतिशत विदेशी पूंजी की अनुमति दी गई। लाभों का सीधे अंतरण की स्वीकृति के कारण विदेशी निवेशक बिना किसी बाधा के विद्युत संयंत्रों की स्थापना भारत में कर सकेंगे।

(6) **अनिवासी भारतीयों को प्रोत्साहन-** अनिवासी भारतीयों तथा उनके अधीन समुद्र पारित निर्गमित निकायों को यह छूट दी गई की वे उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में शत प्रतिशत अंश पूंजी निवेश कर सकते हैं। अनिवासी भारतीय निर्यात गृहों, स्टार व्यापार गृहों, अस्पतालों, निर्यातोन्मुखी इकाइयों, औद्योगिक इकाइयों इत्यादि में शत प्रतिशत अंश पूंजी तक निवेश कर सकते हैं। भारतीय मूल के विदेशी नागरिकों को अब रिजर्व बैंक की पूर्वानुमति बिना भारत में घर बनाने व क्रय करने की अनुमति प्रदान की गई।

(7) **ट्रेड मार्क की अनुमति-** 14 मई 1992 से भारत में अपनी वस्तुओं पर विदेशी कम्पनियों को अपना ट्रेड मार्क प्रयोग करने की अनुमति प्रदान की गई।

(8) **विनिवेश की स्वतंत्रता-** नवीन नीति के अर्न्तगत अब विदेशी निवेशकों को लिए अनिवार्य नहीं है कि अपनी अंश पूंजी का विनिवेश रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित कीमतों पर ही करें। 15 सितम्बर 1992 से उन्हें यह छूट प्रदान की गई है कि वे बाजार दरों पर विनिवेश कर सकते हैं। इसमें प्राप्त राशि को विदेशों में भेज सकते हैं।

(9) **विदेशी संस्थागत निवेश-** विदेशी संस्थागत निवेशकों तथा अनिवासी भारतीयों को स्टॉक एक्सचेंजों की सूची में

सम्मिलित किसी भी भारतीय कंपनी में निवेश करने की छूट प्रदान की गई किन्तु उनका निवेश कंपनी की 30 प्रतिशत पूंजी से अधिक नहीं हो सकता। बाद में उस सीमा की 2000-01 में बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर दिया गया है।

(10) **विदेशी निवेशकों द्वारा विनियोग-** विदेशी निवेशकों को भारतीय कंपनी में सार्वभौमिक न्यासी रसीदों के माध्यम से निवेश करने की अनुमति प्रदान की गई। इस सम्बंध में न्यूनतम सीमा का प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया गया है।

(11) **अन्य घोषित उपाय-** 1998-99 में विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने के अनेक उपायों की घोषणा की गई जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण उपाय निम्न हैं -

(अ) विद्युत उत्पादन, वितरण, सड़क तथा राजमार्ग बन्दरगाह तथा वाहनों की सुरंगें एवं पुलों की परियोजनाओं को स्वत: ही अनुमोदन नीति के अन्र्तगत 100 प्रतिशत इक्विटी की अनुमति दी गई बशर्ते कि विदेशी इक्विटी पन्द्रह सौ करोड़ रूपये से अधिक न हो।

(ब) निजी क्षेत्रों के बैंकों में बहुपक्षीय वित्तीय संस्थानों को सहभागिता की अनुमति दी गई है।

(स) उपग्रह के माध्यम से सार्वभौमिक चलायमान संचार सेवाएँ उपलब्ध कराने वाली कम्पनियों को लाईसेन्स की शर्त के साथ कुल अंश पूंजी के 49 प्रतिशत तक के प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी गई।

(द) अनिवासी भारतीय तथा भारतीय मूल के व्यक्तियों के समुद्रपारीय निगमित निकायों द्वारा निवेश सीमा को चुकता पूजी के 1 प्रतिशत से बढ़ा कर 5 प्रतिशत कर दिया गया तथा उक्त के लिए सकल निवेश सीमा किसी कंपनी की चुक्ता पूजी के 5 प्रतिशत से बता कर 10 प्रतिशत कर दिया गया।

(य) अनिवासी भारतीय मूल के व्यक्तियों तथा समुद्रपारीय निकायों को असूचीबद्ध कंपनियों में निवेश करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई।

(र) विदेशी संस्थागत निवेशकों को समग्र ऋण सीमाओं के भीतर सरकारी प्रतिभूतियों तथा राजकोषी हुण्डियों का क्रय एवं विक्रय करने की अनुमति दी गई।

(ल) 100 प्रतिशत विदेशी संस्थागत निवेशकों की ऋण निधियों को भारतीय कम्पनियों की असूचीबद्ध ऋण प्रतिभूतियों में निवेश की अनुमति दी गई।

(12) **पारस्परिक निधियों को** इस बात की अनुमति प्रदान की गई कि वे अनिवासी भारतीय मूल के लोगों तथा समुद्रपारीय निकायों को अपने युनिट निर्गमित कर सकते हैं। अब इन्हें रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।

(13) **विदेशी स्वामित्वधारक कम्पनियाँ-** अनुप्रवाही निवेश को निवेश हेतु विदेशी निवेश संवर्द्धन बोर्ड से अनुमति लेने की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई।

(14) **विदेशी संस्थागत निवेश का विस्तार-** करने के उद्देश्य से सरकार ने विदेशी कम्पनियों तथा धनी व्यक्तियों को सेबी के साथ पंजीकृत संस्थागत निवेशकों के माध्यम से निवेश करने की अनुमति प्रदान कर दी गई है।

(15) **अगस्त 1999 में उद्योग मंत्रालय के अधीन विदेशी निवेश कार्यान्वन प्राधिकरण** की स्थापना विदेश निवेश संबंधी अनुमोदनों की यथा शीघ्र वास्तविक प्रवाहों में बदलने के लिए की गई।

(16) **दिसम्बर 1999 में भारतीय सॉफ्टवेयर कंपनियों** को यह अनुमति प्रदान की गई कि अब वे भारत सरकार, रिजर्व बैंक से पूर्व अनुमति बिना ही विदेशी सॉफ्टवेयर कंपनियों का अधिग्रहण कर सकती है तथा एडीआर तथा जीडीआर जारी कर सकती हैं बशर्ते कि उनका कुल मूल्य 100 मिलियन डालर से अधिक न हो।

(17) **दिसम्बर 1999 में बीमा नियामक एवं विकास अधिनियम** संसद द्वारा परित किया गया जिसका उद्देश्य बीमा क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित करना था। इस अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार निजी बीमा कंपनियाँ कुल चुकता पूंजी के 26 प्रतिशत तक विदेशी अंश पूंजी भागीदारी कर सकती है।

(18) **फरवरी 2000 में सरकार द्वारा एक महत्वपूर्ण निर्णय** लिया गया जिसके अनुसार एक छोटी सी नकारात्मक सूची के अलावा अन्य सभी वस्तुओं के लिए स्वत: अनुमोदन की व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था के तहत कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़ कर सभी मदों को स्वत: अनुमोदन के अधीन विदेशी निवेश प्राप्त करने की छूट दी गई।

(19) **2001-01 में विदेशी निवेश को प्रोत्साहन** देने के लिए लिए निम्नांकित महत्वपूर्ण निर्णय लिए गये-

(अ) ई-कामर्स के लिए शत-प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(ब) विद्युत उत्पादन, पारितोषण एवं वितरण में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की 1500 करोड़ रूपये की अधिकतम सीमा को समाप्त करना।

(स) तेल शोधन क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर स्वत: अनुमोदन 49 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत करना।

(द) विशिष्ट आर्थिक क्षेत्रों में अधिकांश विनिर्माण गतिविधियों में स्वत: अनुमोदन के अर्न्तगत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(य) दूर संचार क्षेत्र में कुछ सीमाओं के अन्दर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की 100 प्रतिशत तक की छूट प्रदान करना।

(र) सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में स्वत: अनुमोदन की अनुमति प्रदान करना।

(ल) समुद्रपारीय उपक्रम पूंजी कंपनियों निधियों को कुछ शर्तों के अधीन देश की अपक्रम पूंजी कंपनियों में स्वत: अनुमोदित मार्ग के जरिये निवेश करने की अनुमति प्रदान की गई।

(20) **2001-02 तथा 2002-03 में सरकार ने प्रत्यक्ष विदेशी** निवेश के क्षेत्र में निम्नांकित रियायतें व छूट दी-

(अ) स्वत: अनुमोदित माध्यम से दवाइयों के क्षेत्र में अधिकतम निवेश सीमा को 74 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत करना।

(ब) एयरपोर्ट के क्षेत्र में निवेश सीमा को 74 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत करना।

(स) होटल एवं पर्यटन क्षेत्र में निवेश सीमा को 51 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत करना।

(द) केरियर सेवा क्षेत्र में 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(य) व्यापक त्वरित परिवहन प्रणाली क्षेत्र में शत प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(र) नगर विकास क्षेत्र में 100 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(ल) इंटरनेट सेवा प्रमाणकों के लिए निवेश सीमा 49 प्रतिशत से बढ़ाकर 74 प्रतिशत करना।

(व) बैंकिंग क्षेत्र में रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित शती के अधीन प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सीमा को बढ़ाकर 74 प्रतिशत करना।

(श) प्रतिरक्षा क्षेत्रों में 26 प्रतिशत तक विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(स) प्रिंट मीडिया क्षेत्र में भारतीय उद्योगपति की 26 प्रतिशत चुकता पूंजी तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान करना।

(21) **15 जनवरी 2004** में सरकार द्वारा विदेशी निवेश हेतु निम्नांकित रियायतों की घोषणा की है।

(अ) कोई भी विदेशी बैंक तथा उनके अधीन कार्यरत वित्तीय नियंत्रण किसी भी निजी बैंक में 100 प्रतिशत तक निवेश कर सकता है एवं अन्य कोई विदेशी निवेश प्रत्यक्ष अथवा पोर्टफोलियो निवेश द्वारा निजी बैंक में 74 प्रतिशत तक निवेश कर सकता है।

(ब) पेट्रोलियम विपणन में विदेशी निवेश की सीमा को 75 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत करना तेल व गैस के लिए पाइप लाईन के लिए निवेश सीमा को 51 प्रतिशत से बढ़ा कर 100 प्रतिशत करना तथा तेल अन्वेषण में 100 प्रतिशत की अनुमति प्रदान करना।

(स) वैज्ञानिक एवं तकनीकी पत्रिकाओं में 100 प्रतिशत तक की अनुमति प्रदान करना

(22) **12 जनवरी 2005 को जारी दिशा निर्देशों के अनुसार** अब किसी ऐसे विदेशी निवेशक को जिसका किसी भारतीय कंपनी के साथ संयुका उद्यम है और वह उसी क्षेत्र में कोई और नया संयुक्त उद्यम लगाना चाहता है उसे विदेशी निवेश सर्वधन बोर्ड से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।

(23) **निजी घरेलू में एयरलाइंस में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा** को बढा कर 49 प्रतिशत कर दिया गया।

(24) **एकल ब्रांड के फुटकर व्यापार में** सरकारी अनुमोदन के अन्तर्गत 51 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की छूट प्रदान की गई।

(25) **30 जनवरी 2006 को सरकार ने** वायुयान चालन, खनन, तेलशोधन, वास्तविक भू सम्पत्ति, वस्तु एक्सचेंज तथा साख सूचना कंपनियों के क्षेत्र में किये जाने वाले प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सीमा को बढ़ाया। वस्तु एक्सचेंजों में 26 प्रतिशत तक की प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की तथा 23 प्रतिशत तक विदेशी संस्थागत निवेश की अनुमति दी गई। इसके अतिरिक्त औद्योगिक पार्क के क्षेत्र में प्रवेश हेतु विदेशी निवेश शर्तों में ढील दी गई।

(26) **फरवरी 2009 में भारत सरकार** के उद्योग वाणिज्य मंत्रालय ने विदेशी निवेश गणना के लिए नए दिशा। निर्देश जारी किए हैं। जिनके अनुसार भारतीय कंपनियों में कुल विदेशी नियंत्रण ज्ञात करने के लिए मानक तैयार किये गये हैं।

18.4 भारत में विदेशी निवेश अन्तर्प्रवाह

भारत में विदेशी निवेश अन्तर्प्रवाह की वर्तमान स्थिति को नामांकित तालिका के अवलोकन के अध्ययन से आसानी से समझा जा सकता है।

तालिका नं 1

विभिन्न माध्यमों से विदेशी निवेश अर्न्तप्रवाह (यू एस डीलर के अनुसार)

		2000-01	2006-07	2007-08	2008-09
(1)	**प्रत्यक्ष निवेश**	4,029	22,526	34,362	35,146

(अ) सरकार	1,456	2,156	2,298	4,677
(ब) रिजर्व बैंक (स्वत:	4,54	7,151	17,129	17,998
अनुमोदित मार्ग)	67	6,278	5,148	-
(स) अनिवासी भारतीय	2,760	7,003	29,395	-13855
(2) पोर्ट फोलियो निवेश	1,847	3,225	20,325	-15017
(अ) विदेशी संस्थागत निवेश	831	3,776	8,769	1,162
(FIIS)	82	02	298	-
(ब) यूरों ईक्विटी एवं				
(GDRS/ADRS)				
(स) समुद्रपारीय निधि एवं अन्य				

तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में 2000-2001 से लगातार वृद्धि हो रही है। वहीं दूसरी ओर पोर्टफोलियो निवेश 2000-01 से लेकर 2007-08 तक तो बढ़ा किन्तु 2008-09 में यह तेजी से गिरकर ऋणात्मक हो गया। इसका बड़ा कारण संभवतः विश्वव्यापी मंदी रहा है।

18.5 द्विपक्षीय व बहुपक्षीय व्यापार

द्विपक्षीय व्यापार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दो देशों के बीच वस्तु विनिमय का संशोधित रूप है। जब दो देश आपस में एक दूसरे से एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से करते है तो यह द्विपक्षीय व्यापार कहलाता है।

भारत चाँवल निर्यात के बदले ईराक से खनिज तेल का आयात करता है तो यह द्विपक्षीय व्यापार है। इसमें सामूहिक निर्भरता के स्थान पर दो देशों के बीच पारस्परिक निर्भरता अधिक महत्वपूर्ण होती है। द्विपक्षीय व्यापार प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें रूप बदल कर वस्तु विनिमय के समस्त दोष आ जाते है। इसलिए वर्तमान वैश्वीकरण के इस युग में इसका प्रचलन कम होता जा रहा है। इसके विपरीत बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली के अन्र्तगत एक देश अपनी वस्तु को विश्व के किसी भी देश में बेचकर उससे प्राप्त विदेशी मुद्रा से अपनी आवश्यकता की वस्तु किसी भी देश से क्रय कर सकता है।

बहुपक्षीय व्यापार के अन्र्तगत न तो अपने माल को किसी देश विशेष को बेचने की विवशता है और न ही अपनी आवश्यकता की वस्तु उसी देश से क्रय करने की लाचारी है। इस व्यापार प्रणाली से विश्व के सभी राष्ट्रों को उच्च गुणवत्ता वाली वस्तु का सस्ते दामों पर रसोस्वादन करने का अवसर प्राप्त होता है। बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली व्यापार को तुलनात्मक लागत लाभ सिद्धांत के आधार पर संचालित होने देती है। जिससे व्यापार करने वाले सभी राष्ट्रों का लाभ मिलता है। इसी प्रकार बहुराष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था ने उत्पादन एवं व्यापार के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित किया है।

18.8 भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति

भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति को मुख्यतः व्यापार की मात्रा व्यापार की संरचना तथा व्यापार की दिशा के आधार पर समझा जा सकता है। जिसका चित्रण आगे किया जा रहा है।

भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा

तालिका सं 2 में भारत के विगत वर्षों में निर्यात व आयातों के मूल्य को दर्शाया गया है। इस तालिका के विश्लेषण से यह स्वत: ही स्पष्ट है कि भारत के कुल निर्यात एवं आयातों में अधिक वृद्धि हुई है। 1950-51 में भारत के कुल निर्यात 1269 मिलियन डालर थे जो 2007-08 में बढ़कर 159007 मिलियन डालर हो गए थे। इसी अवधि में देश के आयात 1273 मिलियन डालर से बढ़कर 239651 मिलियन डालर हो गये हैं। 1950-51 से लेकर 2007-08 की सम्पूर्ण अवधि में केवल 2 वर्ष (1972-73 तथा 1976-1977) छोड़ कर भारत का व्यापार संतुलन ऋणात्मक घाटे में रहा है। देश के आयातों व निर्यातों में होती निरन्तर वृद्धि इसके आर्थिक विकास में सुधार की प्रवृति को इंगित करती है। देश के आयातों में वृद्धि अधिकांशतः अधिक रही है।

तालिका संख्या 2

निर्यात व आयातों का मूल्य अमेरिकी (मिलियन डालर)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार शेष
1950-51	1,269	1,273	- 4
2000-01	44,560	50,537	- 5,976
2006-07	1,26,362	1,85,749	- 59,387
2007-08	1,59,007	2,39,651	- 80,644

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना

विदेशी व्यापार की संरचना से तात्पर्य देश के निर्यात एवं आयात के स्वरूप अथवा बनावट से है अर्थात विदेशी व्यापार में कौन-कौन सी मदें सम्मलित है। इससे देश के आर्थिक विकास की स्थिति प्रकट होती है। विदेशी व्यापार की संरचना को दो भागों में विभक्त कर अध्ययन किया जाता है।

1. **आयात संरचना**

सुविधा की दृष्टि से भारत के आयातों को चार वर्गो में रखा गया है-

(अ) खाद्य उपभोग वस्तुएं।

(ब) कच्चे पदार्थ एवं मध्यवर्ती विर्निमित वस्तुएँ।

(स) पूंजीगत वस्तुएँ तथा अन्य (अवर्गीकृत वस्तुएँ।

उक्त चारों वर्गो के सापेक्षिक महत्व में काफी परिवर्तन हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि अनाज एवं उत्पादन के आयात में तेजी से गिरावट आयी है। 1960-61 में इनका कुल आयातों में 16.1 प्रतिशत भाग था जो 2007-08 में लगभग शून्य हो गया है। कच्चे पदार्थ एवं मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात में तेजी से वृद्धि हुई है। पूँजीगत वस्तुओं का आयात भी बड़ा है किन्तु उसका सापेक्ष महत्व भी थोड़ा कम हुआ है। फिर भी यह कुल आयात व्यय का लगभग एक चौथाई है। भारत में आयात संरचना की वर्तमान स्थिति को तालिका संख्या 3 में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या 3

भारत की आयात संरचना

	वस्तुएँ	कुल आयात का प्रतिशत भाग (अप्रैल - अक्तूबर)			
		2003-04	2004-05	2005	2006
1.	पी.ओ.एल	26.3	27.3	26.6	33.7

2.	मोती, मूल्यवान तथा अर्द्ध मूल्यवान पत्थर	9.1	8.6	7.5	4.1
3.	पूंजी वस्तुएँ	12.7	11.5	10.7	12.1
4.	इलेक्ट्रोनिक वस्तुएँ	9.6	8.9	9.1	9.4
5.	सोना एवं चांदी	8.8	10.0	9.0	8.6
6.	रसायन	7.4	6.0	6.1	5.5
7.	खाद्य तेल	3.2	2.1	1.7	1.3
8.	कोयला, कोक तथा ब्रिकेट	1.8	2.6	2.6	2.4
9.	मेटलीफोरस अयस्क तथा धातु स्केप	1.7	2.2	2.7	3.9
10.	पेशागत औजार व प्रकाशकीय वस्तुएं	1.6	1.4	1.4	1.3

2. **निर्यात संरचना**

भारत में निर्यातों की संरचना तालिका संख्या-4 में दी गई है। इस तालिका से स्पष्ट है कि देश के निर्यातों में कृषि एवं उससे संबंधित वस्तुओं का महत्व घटता जा रहा है और विनिर्मित वस्तुओं का महत्व बढता गया है। 1960-61 में महत्वपूर्ण निर्यात वस्तु जूट उत्पाद थे जिनका निर्यात आये में 21 प्रतिशत हिस्सा था जो 2007-08 में गिरकर मात्र 02 प्रतिशत ही रह गया है।

इसी प्रकार चाय का निर्यात आय में 1960-61 में 19.3 प्रतिशत भाग था जो 2007-08 में घट कर 0.3 प्रतिशत हो गया।2004-05 एवं उसके बाद में निर्यात आय में इंजीनियरिंग वस्तुओं का स्थान प्रथम रहा है। निर्यात आय में पेट्रोलियम उत्पादों का स्थान दूसरा है। जवाहरात व आभूषणों, सिले-सिलाये कपड़ों तथा रसायन एवं सम्बद्ध उत्पादों का भी भारतीय निर्यातों में महत्वपूर्ण स्थान हो गया है।

तालिका संख्या 4

भारत की निर्यात संरचना

वस्तुएँ	**19**60-61		2006-07		2007-08	
	मि. डालर	कुल का %	मि. डालर	कुल का %	मि. डालर	कुल का %
1. कृषि व सम्बन्धित वस्तुएँ	596	44.2	12684	10.0	1860	11.4
(अ) चाय और मेट	260	19.3	435	0.3	502	0.3
(ब) मछली व मछली उत्पादन	10	0.8	1768	1.4	1703	1.1
2. अयस्क एवं खनिज (कोयले के अतिरिक्त)	109	8.1	7003	5.5	9005	5.7
	36	2.6	3092	3.1	5745	3.6
	610	45.3	84921	67.2	101099	63.6
	02					

(अ) कच्चा लोहा	283	0.1	8892	7.0	9492	6.0
3. विर्निमित वस्तुएँ	59	21.0	260	0.2	322	0.2
(अ) सिले सिलाए कपड़े		4.4	3017	2.4	3432	2.1
(ब) जूट उत्पादन	02					
(स) चमड़ा उद्योग व उससे निर्मित सामान	15	0.1	15977	12.6	19657	12.4
(द) रत्न और आभूषण	46	1.1	14211	11.2	20454	12.9
(य) रसायन और सम्बद्ध उत्पादन (र) इंजीनियरिंग वस्तुएँ	15	3.4	29429	23.3	36722	23.1
4. पेट्रोलियम उत्पादन (कोयले सहित)		1.1	18697	14.8	24869	15.6

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

विदेशी व्यापार की दिशा का अर्थ है कि किसी देश का विदेशी व्यापार किन-किन देशों से होता है अर्थात देश का निर्यात एवं आयात मुख्यतः किन-किन देशों के साथ होता है। भारत के व्यापार की दिशा में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारी परिवर्तन हुआ। इस बात की पुष्टि करने के लिए हम निर्यातों व आयातों के बारे में जानकारी करेंगें।

आयातों की दिशा- भारत में आयातों की दिशा को तालिका संख्या 5 में दर्शाया गया है। इस तालिका के अनुसार भारत के आयातों में तेल निर्यातक देशों का संगठन तथा विकासशील राष्ट्रों का भाग बढ़ा है और ओ.ई.सी.डी., अमेरिका तथा पूर्वी यूरोप के देशों का भाग कम हुआ है। चीन से आयातों में भारी वृद्धि हुई है।

तालिका संख्या 5

भारत के आयातों की दिशा

	1960-61	2006-07	2006-08
1. ओ. ई. सी. डी.	78.8	34.5	31.6
(अ) यूरोपीय संघ	37.1	15.3	13.8
(इंग्लैण्ड)	(19.4)	(2.2)	(13.8)
(स) अमेरिका	29.2	6.3	5.5
(द) जापान	5.4	2.5	2.6
2. तेल निर्यातक देशों का संगठन	4.6	30.6	31.8
3. पूर्वी यूरोप	3.4	2.7	2.2
4. विकासशील देश	11.8	32.2	33.6
(अ) चीन	-	9.4	11.3
5. अन्य	2.2	0.4	0.8

2007-08 में भारत के आयातों में चीन का स्थान प्रथम (11.3 प्रतिशत), सउदी अरब का दूसरा (81 प्रतिशत) संयुक्त अरब अमीरात का तीसरा (56 प्रतिशत), अमेरिका का चौथा (55 प्रतिशत) तथा ईरान का पाँचवां स्थान (46 प्रतिशत) रहा है। इस के पश्चात् स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी तथा सिंगापुर का स्थान रहा है।

भारत के निर्यातों की दिशा- समूह की दृष्टि से निर्यातों में विकासशील देशों का प्रथग स्थान रहा है और तत्पश्चात ओ ई. सी. डी. तेल निर्यातक देशों का संगठन तथा अमेरिका का स्थान रहा। भारत के निर्यातों की दिशा को तालिका संख्या-6 में दर्शाया गया है।

तालिका संख्या 6

भारत के निर्यातों की दिशा

	1960-61	2006-07	2006-08
1. ओ. ई. सी. डी.	66.1	41.2	38.8
(अ) यूरोपीय संघ	18.4	20.4	20.2
(इंग्लेण्ड)	(26.8)	(4.4)	(4.1)
(स) अमेरिका	16.0	14.9	13.0
(द) जापान	3.4	2.3	2.2
2. तेल निर्यातक देशों का संगठन	4.1	16.4	16.5
3. पूर्वी यूरोप	21.0	2.0	2.1
4. विकासशील देश	14.8	40.2	42.3
(अ) चीन	-	6.6	6.8
5. अन्य	8.0	0.2	0.3

2007-08 में अमेरिका को निर्यातों में हिस्सा सर्वाधिक 13 प्रतिशत था और बाद में क्रमशः संयुका अरब अमीरात (9.7 प्रतिशत), चीन (6.8 प्रतिशत), सिंगापुर (4.3 प्रतिशत), इंग्लैण्ड (4.10 प्रतिशत) का स्थान रहा।

तालिका संख्या 7

2007-08 में भारत के प्रमुख विदेश व्यापार सहयोगी देश (आयातों व निर्यातों को मिलाकर)

देशों के नाम	व्यापार में भागीदारी प्रतिशत
1. चीन	9.5
2. अमेरिका	8.5
3. संयुक्त अरब अमीरात	7.2
4. सउदी अरब अमीरात	5.6
5. सिंगापुर	3.6
6. जर्मनी	3.7
7. ईरान	3.2
8. इंग्लैण्ड	

9.	स्विट्जरलैण्ड	2.9
10.	जापान	2.6
11.	हांगकांग	2.5
		2.3

18.7 सारांश

विदेशी पूंजी के प्रति किसी देश का नीतिगत प्रस्ताव उसकी विदेशी विनियोग नीति कहलाती है। स्वतंत्रता के पश्चात प्रारंभिक वर्षो में भारत की विदेश निवेश नीति अधिक सकारात्मक एवं उत्साहवर्द्धक नहीं थी। किन्तु 1991 की नई औद्योगिक नीति में विदेशी विनियोग प्रोत्साहित करने के लिए अनेक सकारात्मक एवं उत्साहवर्द्धक कदमों की घोषणा की गई। अनेक क्षेत्रों मे 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति प्रदान की गई। विदेशी संस्थागत निवेशकों को भी निवेश करने की अनेक रियायतें एवं छूट दी गई। 1991 की नीति के पश्चात भी भारत सरकार ने समय-समय पर अनेक प्रतिबन्धों में ढील देकर विदेशी पूंजी विनियोगों को प्रोत्साहित करने का सार्थक प्रयास किया है। भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, रचना एवं दिशा में भी भारी परिवर्तन हुआ है। देश के विदेशी व्यापार की मात्रा में भी काफी वृद्धि हुई है। किन्तु निर्यातों की तुलना में आयातों की अधिकता के कारण देश अभी तक भी विदेशी व्यापार के घाटे का दंश झेल रहा है। भारत के आयात व निर्यात में अब विकासशील राष्ट्रों की भूमिका बढ़ी है तथा इंग्लैण्ड, अमेरिका व जापान की भूमिका में कमी हुई है।

18.8 शब्दावली

- **विदेशी विनियोग नीति-** विदेशी पूंजी के प्रति किसी देश की नीति को विदेशी विनियोग नीति कहते हैं। उस नीति का निर्माण विदेशी विनियोग को नियंत्रित एवं नियमन करने के लिए किया जाता है।
- **लाभ का पुनर्निवेश-** जब किसी कंपनी निकाय द्वारा अर्जित लाभ को व्यवसाय विस्तार हेतु उसी कंपनी में निवेश कर दिया जाता है तो वह पुनर्निवेश कहलाता है।
- **प्रत्यक्ष विदेशी निवेश-** जब किसी देश के व्यवसायिक उपक्रम में किसी दूसरे देश के द्वारा अंश पूंजी सहभागिता की जाती है अर्थात उनके स्वामित्व एवं नियंत्रण में सहभागिता की जाती है तो उसे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश कहते है।
- **विदेशी संस्थागत निवेश-** जब विदेशी संस्थाओं द्वारा किसी देश में पोर्टफोलियो निवेश किया जाता है। तो इस प्रकार का निवेश विदेशी संस्थागत निवेश होता है। भारत के स्टॉक एक्सचेंजों में विदेशियों द्वारा किया गया निवेश उसका सुन्दर उदाहरण है।
- **विदेशी पूंजी का अन्तर्प्रवाह-** जब बाहर के निवेश कर्ताओं द्वारा किसी भी मार्ग से किसी देश विशेष में निवेश किया जाता है तो उससे निवेश किये जाने वाले देश में विदेशी पूंजी अन्तर्प्रवाह बढ़ता है अर्थात उसकी आवक बढ़ती है।
- **विनिवेश-** जब कोई उपक्रम अपने निवेश की हिस्सेदारी को कम करने के लिए अंश पूंजी किसी व्यक्ति संस्था को बेचता है तो यह अविनियोग कहलाता है। भारत में इस शब्द

का प्रचलन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की अंश पूंजी को निजी हाथों संस्थाओं को बेचने के अर्थ में रहा है। विनिवेश के कई रूप हो सकते हैं।

- **विदेशी व्यापार की संरचना-** यह किसी देश के विदेशी व्यापार की बनावट है। अर्थात वह देश किन-किन वस्तुओं का निर्यात और आयात करता है।
- **विदेशी व्यापार की दिशा-** इसके द्वारा किन-किन देशों के साथ आयात एवं निर्यात किया जाता है, की जानकारी की जा सकती है। अर्थात किसी देश के विदेशी व्यापार में कौन-कौन से देश सहभागी है।

18.9 स्व-परख

1. विदेशी विनियोग नीति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. 1991 में तथा उसके पश्चात भारत की विदेशी विनियोग नीति में हुए परिवर्तन पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
3. द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार में अंतर कीजिए।
4. भारत में विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए।
5. भारत में विदेशी पूजी के अन्तर्प्रवाह पर आलोचनात्मक लेख लिखिए।
6. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और पोर्टफोलियो निवेश में अंतर कीजिए और बताइये कि आप उन दोनों में किसे अच्छा समझते हैं।

18.10 संदर्भ ग्रंथ

- मिश्र एवं पुरी : भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 2009
- माथुर, बी.एल. : भारतीय अर्थव्यवस्था, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 2009
- वशिष्ठ, मिण्डा शर्मा व लोढा : भारत में आर्थिक पर्यावरण, अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर
- दत्त एवं सुन्दरम : भारतीय अर्थव्यवस्था, सुल्तान चन्द्र, नई दिल्ली 2009
- रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन : जुलाई 2009
- भारत का आर्थिक सर्वेक्षण : 2008-2009
- रिजर्व बैंक वार्षिक रिपोर्ट : 2008-2009

ISBN No. : 13/978-81-8496-192-8